तुलसी के हिय हेरि

तुलसी के हिय हेरि

विष्णुकान्त शास्त्री

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद १ द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण १९९०

मूल्य सजिल्द ९० ००
पेपर बैक ४५ ००

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

दिवंगता पत्नी

सुदर्शना इन्दिरा को

जिसने मुझे बनाने के प्रयास मे अपने को मिटा दिया

विवृति

भारतीय जीवन दृष्टि को रूपायित, व्याख्यायित और परिष्कृत करने वाले मध्य युगीन कवि चिन्तको मे तुलसीदास का स्थान बहुत ऊँचा है। अत्यन्त विषम परिस्थिति मे भी कटुता, निराशा, सकीणता आदि नकारात्मक मनो वृत्तियो से वे मुक्त रहे। उन्होने पूण उत्तरदायित्वबोध के साथ समग्र भारतीय परम्परा और जनता से अपना तादात्म्य कर भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल पक्षो का अपने साहित्य म चित्रित किया इसीलिए वह आज भी अत्यत प्रेरणाप्रद है।

आधुनिक चुनौतियो को स्वीकारने और उनके योग्य प्रत्युत्तर देने के लिए स्वाधीन भारत के विचारक, कवि, मनीषी सम्पूण जगत के श्रेष्ठ विचारो, भावो तथा विविध क्षेत्रो म किये गये नये-नये प्रयोगो से परिचित हो, अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप उन्ह एक बडी सीमा तक अपनायें, यह तो काम्य है किन्तु इस प्रक्रिया मे वे आत्मविस्मृत अनुकरणकर्त्ता मात्र हो जायें, यह इष्ट नही है। मेरी यह मान्यता है कि व्यक्तियो की ही तरह समाज और देश भी यदि अपनी आधारभूत विशेषताओ को सुरक्षित रखकर आधुनिकता को अपनायें तभी उसमे कुछ सजनात्मक योग दे सकते हैं। ऐसा कर पाने के लिए अपनी सस्कृति के मूलभूत तत्वो के साथ समरस होना अनिवार्य है। हिन्दी के द्वारा ही यदि भारतीय सस्कृति को समझने और उसे आयत्त करने का आग्रह हो तो आज भी तुलसी साहित्य ही उसका सबसे समथ माध्यम है। स्वभावत विद्वान और भावुक जन अपनी अपनी दृष्टियो से तुलसी साहित्य का अनुशीलन करते रहते हैं। तुलसी और उनके साहित्य के विविध पक्षो पर प्रभूत विवेचनात्मक लेखन के बावजूद मुझे लगता रहा है कि अभी और बहुत गुजाइश है उन पर लिखने की, लिखते रहने की। इसी बोध से अनुप्रेरित हो मैं तुलसी साहित्य पर लिखने की धृष्टता करता रहा हूँ। मेरा यह दावा कतई नही है कि मैंने तुलसीदास को ठीक-ठीक समझ लिया है। सचमुच 'गहि न जाइ अस अदभुत बानी' है उनकी। मेरा अनुभव यही है कि तुलसी साहित्य के अनुशीलन और

विवेचन की प्रक्रिया मे मेरी मति, रति और कृति पवित्र होती रही है। मुझे लगता रहा है कि आज की सबसे बडी सास्कृतिक व्याधि भीतरी खोखलेपन को बाहरी पदार्थों से भरने की निरर्थक चेष्टा का निराकरण तुलसी साहित्य मे निरूपित जीवन दृष्टि को अपनाकर किया जा सकता है। यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि तुलसी के सभी मुख्य ग्रथो का आधार लेने पर भी इन लेखो की केन्द्रीय प्रेरणा 'विनय पत्रिका' ही है। विनय पत्रिका के बारे मे कवि की स्वीकारोक्ति है 'हिये हेरि तुलसी लिखी'। इसीलिए इस ग्रथ का नाम है 'तुलसी के हिय हेरि'।

इस ग्रथ मे कुल १७ निबन्ध हैं। इनमे से ९ निबन्ध पुराने हैं अर्थात मेरे पूर्ववर्ती प्रकाशित ग्रथो म सकलित हो चुके हैं। ८ निबन्ध नये हैं। अब तक तुलसी सम्बन्धी अपने लेखन को सहज सुलभ बनाने की दृष्टि से इन सबको एकत्र सकलित कर देना मैंने उचित समझा है। इस अवसर पर कृतज्ञतापूवक स्मरण करता हूँ अपने गुरु ब्रह्मीभूत स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती को, जिनकी कृपा से तुलसी और उनके राम को समझने की दिशा मे कुछ अग्रसर हो पाया।

प० गोरेलाल शुक्ल, डा० भगीरथ मिश्र, डॉ० सिद्धनाथ शर्मा, श्री लल्लन प्रसाद व्यास, डॉ० शुकदेव प्रसाद सिंह सदृश विद्वज्जनो का आभारी हूँ जिनके स्नेहपूर्ण आग्रह से इस सकलन के कई निबन्ध लिखे गये।

कामना है कि सुधी पाठको की सम्मतियो के आलोक म इन निबधो मे विद्यमान त्रुटियो को दूर कर पाऊँ।

—विष्णुकान्त शास्त्री

श्री रथ यात्रा
आषाढ शुक्ला प्रतिपदा
श्री स० २०४६
कलकत्ता

अनुक्रम

●

तुलसी के हिय हेरि

आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास

आधुनिकता की प्रवृत्ति ही है कि जो कुछ पुराना है, परंपरा-प्राप्त है, उस पर प्रश्नचिह्न लगाना, उसे बदले हुए परिवेश और जीवन-मूल्यों में अपने अस्तित्व की सार्थकता को प्रमाणित करने की चुनौती देना।[1] मूलत इसके पीछे सच को झूठ से अलगाने की प्रेरणा रहती है, जो निश्चय ही स्वागत योग्य है। किंतु कई बार नवीनता का दभ अविवेकपूर्वक परंपरा मात्र को खारिज कर देने की उग्र घोषणा करता है। सवाल उठता है, क्या सचमुच पूरी परंपरा खारिज की जा सकती है ? दूसरी तरफ परंपरा के नाम पर 'परंपरावाद' की डुगडुगी पीटने वालों की भी कमी नहीं है। जहाँ परंपरा समाज में अतर्निहित उन आचारों और सिद्धांतों की समष्टिगत संज्ञा है, जिन्होंने अपने अटट सिल-सिले द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी भिन्न भिन्न परिस्थितियों और नये नये जातीय अनुभवों में भी समाज को अपनी अस्मिता बनाये रखने की क्षमता प्रदान की है और इसी क्रम में जो बार बार व्याख्यायित एवं मूल्यांकित होती हुई अपने स्वरूप को खोये बिना रूपांतरित—विकसित होती चलती है, वहाँ परंपरावाद अतीत के आचारों और विश्वासों को अपरिवर्तनीय मानकर उनका गौरवगान करता है, उन्हें तद्वत सुरक्षित रखकर यह माँग करता है कि समाज को आज भी वही, वैसे ही करना चाहिए, जो, जैसे अतीत में किया जाता था। स्पष्ट है कि परंपरावाद आधुनिकता की चुनौती के उत्तर में अपना जड़ कवच ही सामने कर सकता है, जिसके धुर्रे उड़ा देना आधुनिकता के लिए सहज है। क्या परंपरा को भी आधुनिकता इसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर सकती है और क्या उसे शुभ माना जा सकता है ? फिर एक बात और है। चुनौती क्या

1 एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस खंड ६, १०, पृ० ५६४

आधुनिकता ही परपरा को दे सकती है, परपरा आधुनिकता को नही दे सकती ? हवा मे इन सवालो पर बहस करने की जगह आज के भारतीय सदर्भ मे आधुनिकता के समक्ष तुलसीदास को रखकर विचार करने पर अधिक संगत निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकेगा।

चूंकि आधुनिकता की अवधारणा कुछ विशिष्ट मूल्यो से युक्त गतिशील प्रक्रिया के रूप मे की जाती है अत यह भी स्वाभाविक है कि अलग अलग देशो मे उसका रूप थोडा थोडा अलग अलग हो। औद्योगिक दृष्टि से अत्यंत विकसित अमरिका जैसे अपेक्षाकृत रूप से नये देश की आधुनिकता सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध किंतु औद्योगिक आर्थिक दृष्टि से पिछडे भारत जैसे प्राचीन देश की आधुनिकता के समान कैसे हो सकती है ? कोई देश किसी दूसरे देश की नकल करके आधुनिक नही बन सकता। आधुनिकता कोई वस्तु नही है कि उसे खरीदा या उधार लिया जा सके। आधुनिकीकरण के बाह्य निदर्शको अर्थात् कल कारखाना, रेल, हवाई जहाजा आदि को विकसित देशो से आयातित कर कोई देश जिस तरह वस्तुत आधुनिक नही हो जाता उसी तरह आधुनिक वेश भूषा पहन कर, ट्राजिस्टर, फ्रिज, टेलीविजन आदि आदि आधुनिक वस्तुओ से अपना घर सजा कर ही कोई व्यक्ति आधुनिक नही बन जाता। आधुनिकता तो एक विशेष प्रकार की दृष्टिभगी है, जिसे अपनी सस्कृति की पृष्ठभूमि म विचारपूवक अगीकार कर अपन आचरण म उतारना पडता है। इसका अथ यही है कि व्यक्ति को (और देश को भी) सचेत रूप से कुछ नवीन मूल्यो का सहभागी बन कर और उनके प्रतिकूल पडने वाली रूढियो का परित्याग कर स्वय आधुनिक होना पडता है, बल्कि होते रहना पडता है। आधुनिकता क पीछे जिन वैज्ञानिक औद्योगिक उपलब्धियो की शक्ति है, उनके बिना कोई राष्ट्र आज के ससार मे सम्मानपूवक जीवित नहीं रह सकता। अत पारपरिक समाजो को भी परपरा और आधुनिकता के टकराव को एक बडी हद तक आधुनिकता के पक्ष मे समजित करना पडता है। भारतीय सदभ म इस टकराव मे तुलसीदास की स्थिति क्या है, इसकी विवेचना के पहले आधुनिक दृष्टिभगी की कुछ सामान्य विशेषताओ को समझ लेना चाहिए।

आधुनिक दृष्टिभगी को उसके बहुमुखी और कही कही पारस्परिक विरोधी तत्वो क कारण परिभाषित करना कठिन काम है फिर भी उसके कुछ प्रमुख लक्षण तो हैं ही जिनम अग्रगण्य है, नवीन अनुभवों एव परिवतनो के लिए तत्परता। इसक मूल म दो प्रधान प्रेरक तत्व हैं। (१) व्यक्तिगत स्तर पर 'उपलब्धि कांक्षा' (नीड फार एचीवमेंट) और (२) सामूहिक स्तर पर 'सामु-

दायिक' कल्याण भावना ।' विज्ञान और औद्योगिकी इस परिवतन में माध्यम हैं । इन्ही के प्रभाव के कारण वह बौद्धिक अधिक है, श्रद्धालु कम । इन्ही के बलबूते पर आधुनिक मनुष्य जगत् को भाग्य या व्यक्तिगत सनक के अधीन न मानकर परिगण्य और निभर-योग्य मानता है । इन्ही के सहारे वह योजनाबद्ध रूप से परिवेश को नियंत्रित करने की क्षमता अर्जित करता है । फलत वह अतीत की तुलना म वतमान या भविष्य के प्रति तथा परलोक की तुलना मे इहलोक के प्रति अधिक उ मुख और समय-सचेतन है । उसके लिए दुनिया बहुत छोटी हो गयी है । अत वह बृहत्तर क्षेत्र की व्यापक समस्याओ के प्रति उदासीन नही रह सकता, उनके प्रति अपना स्वतंत्र मत व्यक्त करना वह अपना लोकतांत्रिक अधिकार मानता है । अपनी एव अन्यो की मानवीय गरिमा के बोध के कारण वह 'योग्यतानुपाती न्याय (अर्थात पुरस्कार काय के अनुरूप होना चाहिए किसी की विशिष्ट जाति, स्थिति या पदमात्र के अनुरूप नही,) का समयन करता है । निश्चय ही इस तालिका को और बढाया जा सकता है किंतु अपने विवेचन की पीठिका के लिए मैं इसे यथेष्ट समझता हूँ ।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्वाधीनता के पूव स्वाभिमानी भारतीय बौद्धिको का आधुनिकता से सबध प्रेम-घृणा का था । आधुनिकता के द्वारा विकास की अपार सभावनाएँ यदि उन्हे आकृष्ट करती थी तो अंग्रेज शासको के माध्यम से उपलब्ध होने के कारण उनके शोषण, अत्याचार स्वेच्छाचार के प्रति घृणा का प्रचुर अश आधुनिकता की ओर मुड जाता था । थोडे से नवकालो की बात छोड दी जाये तो तत्कालीन अधिकाश भारतीय विचारको ने आधुनिकता को इस मानसिक प्रतिरोध के कारण आंशिक रूप से ही ग्रहण किया था । इसी के साथ साथ प्राचीन भारतीय गौरव और सास्कृतिक उत्कर्ष को भी विस्तारक रूप से भारतीय जनता के समक्ष उन्होने रखा था, जिसके फलस्वरूप भारतीय पुनर्जागरण के एक प्रमुख परिणाम के रूप मे 'सस्कृतीकरण' की प्रक्रिया व्यापक स्तर पर नवोदित एव उदीयमान वर्गों को प्रभावित कर सकी थी । स्वाधीनता के बाद यह मानसिक प्रतिरोध शिथिल हो गया । राष्ट्रीय

१ देखिये मायरान वीनर द्वारा सपादित ग्रथ 'मॉडर्नाइजेशन' के अतगत डेविड सी० मैक्लेलैंड का 'इम्पल्स टु मॉडर्नाइजेशन' शीषक लेख विशेषत पृ० २९ तथा ३५-३६ तथा आधुनिक दृष्टिभगी के अन्य तत्त्वो के लिए उसी पुस्तक का ऐलेक्स इनकेलेस लिखित 'द मॉडर्नाइजेशन ऑफ मैन' शीर्षक लेख ।

प्रयोजन एव अतर्राष्ट्रीय प्रभाव भारत के आधुनिकीकरण के पक्ष मे थे। स्वभावत भारतीय शिक्षित वग का आधुनिकता के प्रति अवरुद्ध आकषण अब वेगपूवक उसकी ओर उन्मुख हुआ। सामान्य जन इस परिवतन से इतने चकित हुए कि यह शिकायत आम हो गयी कि अंग्रेजों के जाने के बाद भारत मे बेतहाशा अंग्रेजियत बढ गयी है। वस्तुत यह अंग्रेजियत न होकर एक हद तक आवश्यक और वांछित 'आधुनिकीकरण' की प्रक्रिया है जिसे कुछ समाजशास्त्री 'पश्चिमीकरण' की सज्ञा देते हैं। सामान्यत 'पश्चिमी' से पश्चिमी यूरोप और अमेरिका का बोध होता है। अत यह नाम मुझे अपर्याप्त लगता है। नये भारत पर पश्चिम के साथ-साथ रूस का (और कुछ अशो मे चीन का) प्रभाव भी है जो इस नाम से स्पष्ट नही होता।

जो हो इस तथ्य से इकार नही किया जा सकता कि आज के भारत के शक्तिशाली वग (और उदीयमान वर्ग भी) तेजी से 'पश्चिमीकरण' की ओर झुकते जा रहे है जबकि सस्कृतीकरण की प्रक्रिया का सम्मान और प्रभाव कम होता जा रहा है। साप्रतिक भारतीय स्थिति दो कारणो स मुझे शोचनीय लगती है। एक तो हमारा औद्योगिकीकरण और आर्थिक विकास निरुद्ध-सा हो गया है, दूसर स्वाधीनता क बाद वैचारिक सास्कृतिक क्षत्र मे ऐसा कोई मूल गामी, तेजस्वी काय नही हुआ है जिसके द्वारा पुनमूल्यांकित, पुनर्व्याख्यात भारतीय परपरा के सदभ म आधुनिकता की परीक्षा कर उसके अनुकूल तत्त्वो का सग्रह और प्रतिकूल तत्त्वो का त्याग किया जा सकता। पहली बात के कारण एक ओर तो हमारी साधारण जनता गरीबी और अभावो के शिकजो को तोडकर आधुनिक युग म प्रवेश ही नही कर पा रही है दूसरी ओर हमारा छोटा सा तथाकथित प्रबुद्ध आधुनिक वग अति औद्योगिक राष्ट्रो की मन स्थिति को (उनकी अपेक्षाआ आवश्यकताआ सुविधाआ को) अपनाता चला जा रहा है, जिसका वैध पोषण यहाँ की वस्तुस्थिति स नही हो पाता। अत अवैध पद्धति से यह वग उपलब्ध राष्ट्रीय साधनो को अपने हित म प्रयुक्त करता है। इसीलिए हमारे देश क प्रशासनिक, राजनीतिक, आर्थिक, शक्षणिक आदि सभी क्षेत्रा मे जितना भ्रष्टाचार और खोखलापन आज है उतना कभी नही था। दूसरी बात के कारण नयी पीढी परपरा से विमुख और सतही अथ मे आधुनिक होती चली जा रही है। पर अवज्ञापूवक नकार देने मात्र से परपरा से छुटकारा नही मिलता, न नयी नयी काट के कपडे पहनकर और बाल बढाकर आधुनिक हुआ जा सकता है। भीतर छिपी हुई हीनभाव पीडित परपरा और ऊपर स ओढी हुई अविवेचित आधुनिकता लिये आज की अधिकाश नयी पीढी

दोनों की विकृतियों की शिकार बनती है। इसका दोष इतना नहीं,
जितना उस सम्मोहित बुद्धिजीवी वर्ग का है जिसने आजादी के बाद, परंपरा
और आधुनिकता का तालमेल बैठाने के अनिवार्य कर्तव्य की अवहेलना की है।

इस स्थिति में आजादी की लड़ाई के समय गांधीजी को 'रामराज्य'
स्थापित करने की प्रेरणा देने वाले, स्वाधीनता के सैनिकों में 'पराधीन सपनेहु
सुख नाहीं' की चेतना जगाने वाले, निराला रामचन्द्र शुक्ल आदि को सजनात्मक
साहित्यिक प्रतिमान जुगाने वाले तुलसीदास को यदि आज की नयी पीढ़ी का
एक अंश पाठ्यक्रम से निकाल देने की मांग करे, तो बहुत आश्चर्य नहीं किया
जा सकता। परम्परा प्रेमियों के बाहर तो तुलसीदास तभी टिकेंगे जब वे न
केवल आधुनिकता की चुनौतियों को झेलेंगे बल्कि उसकी कुछ प्रमुख कमियों
की ओर इंगित करते हुए उन्हें दूर करने के उपायों का निर्देश भी कर सकेंगे।

आधुनिकता के पहले लक्षण 'नवीन अनुभवों एवं परिवर्तनों के लिए
तत्परता' के प्रति 'तुलसी-दृष्टि' का आज क्या रुख होना चाहिए, इसका निर्णय
अपने समय में परिवर्तन के प्रति तुलसी के रुख के आधार पर ही किया जा
सकता है। अपप्रचार के कारण तुलसीदास को साधारणतः संरक्षणशील, पर
परावादी अर्थात् अपरिवर्तनवादी माना जाता है। सच्चाई यह है कि तुलसी-
दास मध्यकाल में भारतीय संस्कृति के सबसे बड़े सजनात्मक पुनर्व्याख्याकार
थे। केवल तत्त्व विवेचन या केवल साधना में प्रवृत्त न होकर उन्होंने 'राम-
चरित' को अपने 'कलप भेद' को दृष्टिगत रखते हुए, अपनी मति, अपनी समुझि,
निजी 'मानस' के अनुसार प्रस्तुत कर भारतीय संस्कृति का पुनर्नवीकरण कर
दिया था। इस क्रम में परंपरा के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने उसमें
कितने परिवर्तन कर दिये थे, यह देखकर आश्चर्य होता है। श्रीराम को ब्रह्म
या अवतार उनके पहले भी माना जाता था। तुलसी की अपनी 'समुझि' ने
उनके अपूर्व शील पर बल दिया जिसके फलस्वरूप वे मानव मात्र की—चरम
उपेक्षित जन की भी पीड़ा का निवारण करने वाले, उनके दुःख कष्ट से विकल
हो जाने वाले, उनके लिए अपनी स्वतंत्रता तक को विसर्जित कर देने वाले,
उनके प्रेम पराधीन 'नातेदार' बन गये। स्वाभाविक ही है कि तुलसी की राम-
कथा में न सीता निर्वासन को, स्थान मिल पाया, न शम्बूक वध को। उसका
माध्यम भी देववाणी न रह पायी, लोकभाषा हो गयी। इतिहास साक्षी है कि
अपरिवर्तनवादी परंपरा के उस समय के ठेकेदारों ने तुलसीदास का कड़ा
विरोध किया था, जाति-पाँति संबंधी उनकी उदारता के कारण, दुरूह ज्ञान-
मार्ग एवं पेचीदे कर्मकांड से 'सूधे मन' और 'भोले भाव' वाली भक्ति को श्रेष्ठ

ठहराव के कारण, वादमुक्त धर्म-समन्वय के कारण। स्पष्ट है कि तुलसीदास का परंपरा-बोध स्थितिशील या जड न होकर विकासशील और संग्रह-त्यागवादी था। इसका अर्थ यह हुआ कि आधुनिकता की पहली माँग तुलसी-दृष्टि को सिद्धांतत स्वीकार है। व्यवहार मे संग्रह त्याग का आधार क्या होना चाहिए, इसमे मतभेद की पूरी गुंजाइश है कि तु मतभेद तो आधुनिकता का भूषण है, दूषण नही।

जहाँ तक 'उपलब्धिकांक्षा' और सामुदायिक कल्याण' भावना का सवाल है तुलसी की दृष्टि उनका समर्थन करते हुए उनकी दिशा के बारे मे विशिष्ट मत रखती है। 'उपलब्धिकांक्षा' का अर्थ है, पहले स श्रेष्ठ, पहले से सुखद, पहले से कम परिश्रम मे विविध क्षेत्रो मे प्रचुर उपलब्धियो द्वारा अपनी सार्थकता और सफलता को प्रमाणित करने की भावना। यह प्रवृत्ति आधुनिक मनुष्य की ऐसी अदम्य मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बन गयी है कि इसकी पूर्ति के लिए वह प्रचंड संघर्ष और उद्यम करता है। उपलब्धिकांक्षा की प्रबल अनुप्रेरणा के फलस्वरूप ज्ञान, विज्ञान, औद्योगिकी राजनीति, अर्थनीति आदि के क्षेत्रो म जितनी प्रगति बीसवी शताब्दी के ७५ वर्षों म हुई ह, उतनी मानव जाति के पूरे इतिहास म नही हुई थी। इन उपलब्धियो का सुफल उच्चवर्ग के मुट्ठी भर लोगो तक सीमित न रहकर समाज के दुबलतम अंग को भी मिले, सामुदायिक कल्याण की यह चेतना भी आधुनिक मानसिकता का प्रमुख तत्त्व है। फलत सामुदायिक कल्याण के लिए जितनी बडी बडी योजनाएँ शिक्षा, चिकित्सा, जीविका, उन्नयन आदि क्षेत्रो मे आज क्रियान्वित की जा रही हैं, उतनी अतीत म कभी नही की गयी थी। तुलसीदास इनके विधायक पक्षो का स्वागत करते। तुलसी स्वय वैरागी थे कि तु पूरे समाज को बैरागी नही बनाना चाहते थे। रामचरित सुनकर, राम से जुडकर व्यक्ति मे 'उपलब्धिकांक्षा' जागे, वह 'कपटी, कायर, कुमति, कुजाती, लोक बेद बाहेर सब भाँती'[1] होता हुआ भी 'भुवन भूषण' बने, 'बुद्धि बिबेक बिग्यान निधाना' हो जाये, उसे देख कर लोग कह उठें 'कवन सो काज कठिन जग माही, जो नहिं होइ तात तुम्ह पाही'[2] और वह सचमुच असंभव को संभव कर दिखाये, यह सब तुलसीदास का अभीष्ट था। तभी उन्होंने कहा था 'समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान। बिजय, बिबेक, बिभूति नित, तिन्हहिं देहिं भगवान।'[3] व्यक्ति

१ मानस २।१६६।१
२ वही ४।३०।५
३ वही ६।१२१।६

विजयी हो, विभूति-सम्पन्न हो यह तो ठीक, पर वह विवेकी भी हो, उससे जुड़ा भी हो अन्यथा अततोगत्वा न वैयक्तिक कल्याण तुलसी की दृष्टि मे सभव है, न सामुदायिक कल्याण। सुरसरि के समान सबका हित चाहने वाले तुलसीदास राम को लिखित अपनी वैयक्तिक अर्जी 'विनयपत्रिका' मे भी लोक-कल्याण की भावना से विगलित होकर कह उठे हैं 'दीन दयालु दुरित, दारिद दुख दुनी दुसह तिहु ताप तई है। देव दुआर पुकारत आरत सब की सब सुख हानि भई है।'[1] सामुदायिक कल्याण का अपना आदर्श उन्होंने 'रामराज्य' की परिकल्पना मे व्यक्त किया है। आधुनिक दृष्टि के साथ तुलसी इस बात पर तो सहमत हैं कि 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं'[2] किंतु वे इसके विलोम को सच नही मानते, प्राचुर्य को ही सर्वोपरि सुख करार नहीं देते। उनकी मान्यता है, 'सत मिलन सम सुख जग नाहीं'। भौतिक प्राचुर्य के पीछे पागल उपलब्धि-नाशा के निषेधक पक्षो को, गलाकाट प्रतिस्पर्धा को, अतिशय परिग्रह को, अनियत्रित भोग-लालसा को, सफलता के अनैतिक साधनो को तुलसीदास का समर्थन प्राप्त नही हो सकता। इसी तरह अपने राष्ट्र के सामुदायिक कल्याण के नाम पर दूसरे राष्ट्रो का शोषण और उसके लिए विश्वयुद्ध तक का उपक्रम तुलसी को अस्वीकार्य है।

विज्ञान और औद्योगिकी के प्रति तुलसीदास का रुख निषेधक होता, ऐसा मानने का कोई कारण नही है। अपनी पौराणिक शैली मे उन्होने अयोध्या, जनकपुर, लका आदि की जैसी समृद्धि का चित्रण किया है, विशेषत पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल, आदि की वशवर्तिता का जो सकेत उन्होने दिया है, उससे ऐसा तो नहीं लगता कि ये दैवी प्राकृत शक्तियाँ यदि मानव-कल्याण मे नियोजित हो तो उन्हें आपत्ति होगी। विज्ञान के सबध मे दो ऐसी गलत-फहमियाँ फैली हुई है जिनसे कुछ लोगों ने यह मान लिया है कि वह धर्म-विरोधी है। पहली तो यह कि वह मूल्य-निरपेक्ष है, और दूसरी यह कि वह नास्तिकतावादी है। वास्तव म बात ऐसी नही है। विज्ञान निर्मित वस्तुओ का उपयोग मानवता का द्वेषी कर रहा है या प्रेमी, इस सबध मे विज्ञान भले कुछ न कह सके, लेकिन वह अपने विकास के लिए कुछ मानवीय मूल्यो से युक्त समाज की माँग अवश्य करता है। जिस समाज मे सत्य की निश्छल, निर्भय खोज, व्यक्ति स्वाधीनता, परमत सहिष्णुता, विमति प्रकाशन, चिंतन एव वाणी

१ विनयपत्रिका १३९।१-२

२ मानस ७।१२१।१३

के स्वातंत्र्य, न्याय, सम्मान, मानव गरिमा एवं आत्मगौरव जैसे मूल्यों का समादर न हो, उसमें विज्ञान का विकास नहीं हो सकता।[1] चूंकि मध्यकालीन ईसाई धर्म के असहिष्णु अधिकारी चिंतन स्वातंत्र्य एवं अनुरूप मूल्यों को दंडित किया करते थे अतः पश्चिम में धर्म को विज्ञान का विरोधी मान लिया गया। भारत में कभी किसी चरक, सुश्रुत या आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि को कोपरनिकस, गैलिलियो आदि की तरह दंडित नहीं किया गया। 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए', 'धरम न दूसर सत्य समाना',[2] 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं', 'उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा',[3] 'नर तन सम नहिं कवनिउ देहीं',[4] 'जिन्हकें रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी',[5] जौं अनीति कछु भाषौं भाई, तौ मोहि बरजहु भय बिसराई'[6] जैसी उक्तियों के द्वारा तुलसी ने जिन मूल्यों को स्वीकृति मध्यकाल में दी थी वे उन मूल्यों के काफी निकट है, जिन्हें आज का विज्ञान अपने विकास के लिए आवश्यक मानता है। भारत में वैज्ञानिक चिंतन और पौराणिक कल्पना दोनों का सह अस्तित्व चलता रहा है। तुलसीदास पुराण शैली के रचनाकार है फलतः वैज्ञानिक चिंतन के विरोधी है, यह मानने का कोई कारण नहीं है।

बहुतेरे उग्र आधुनिकतावादियों ने विज्ञान की दुहाई दे देकर यह भ्रम फैला रखा है कि नास्तिकता आधुनिकता का अनिवार्य तत्त्व है। एक अर्धविक्षिप्त दार्शनिक नीत्शे की उक्ति 'ईश्वर मर गया' वे इस जोशोखरोश के साथ दुहराते हैं कि लगता है, उन्होंने ईश्वर की लाश बरामद कर ली है। सच्चाई यह है कि विज्ञान न नास्तिकता का समर्थन करता है, न आस्तिकता का, यह विषय ही उसका नहीं है। यह अधिकृत रूप से कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी तक का विज्ञान कार्यकारण की अखंडनीय शृंखला एवं तर्कणापरकता पर जिस अडिग निष्ठा के कारण जगत को स्वयंचालित, स्वयंपूर्ण यंत्र के समान मानता था वह सापेक्षता एवं क्वांटम सिद्धांतों के आविष्कार के बाद डगमगा सी गयी है। विज्ञान अब जितना ज्यादा जानता जा रहा है, ब्रह्माण्ड उसके लिए उतना

१ देखिये डा० जे० ब्रोनास्की कृत 'साइंस ऐंड ह्यूमन वैल्यूज' पुस्तक, विशेषतः पृ० ७५
२ मानस २।८८।६, तथा वही २।९५।५
३ वही ७।१११।१४
४ वही ७।१२१।६
५ वही १।२४१।४
६ वही ७।४३।६

हो रहस्यमय होता जा रहा है। अत सवज्ञता का औद्धत्य त्याग कर वह विनम्र होता जा रहा है। गेब्रिअल मासल, किर्केगाद, टी० एस० इलियट, गिंसबर्ग जैसे आधुनिक दार्शनिको और साहित्यिको की ही तरह वैज्ञानिको मे भी आइसटीन, विलियम जेम्स, ह्वाइटहैड जैसे आस्तिक भी हुए है। हाँ, यह जरूर सच है कि आधुनिकता के कारण ऐहिकतापरक राज्य सबधी कार्यों मे चर्च या सास्थानिक धर्म का हस्तक्षेप अनुचित माना जाता है। किन्तु व्यक्तियो या समूहो के निजी क्षेत्र मे धर्म की कल्याणकारिणी भूमिका स्वीकारने वाले आधुनिको की कमी नही है। अत अपनी आस्तिकता के कारण ही तुलसीदास आधुनिको के लिए वर्ज्य नही ठहरते।

यह कहा जा सकता है कि तुलसी ने बुद्धि की तुलना मे श्रद्धा को अधिक महत्त्व दिया है जो आधुनिको को स्वीकार्य नही है। निवेदन है कि जिस प्रकार राजा जनक के भोग मे योग छिपा था उसी प्रकार तुलसी की श्रद्धा म बुद्धि का उन्नत रूप अतर्निहित है। वास्तविक श्रद्धा तो श्रत सत्य को धारण करने वाली मनोवृत्ति है जो किसी के प्रति तभी उत्पन्न होती है, जब उसके महत्व की अनुभवसिद्धि प्रतीति हो जाये। तुलसी न स्वय अधश्रद्धालु थे, न दूसरो को बनाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने वेप, वचन या प्रचारात्मक प्रशसा के कारण ही किसी पर श्रद्धा कर बैठने वालो को मूढ कहा है। 'तुलसी देखि सुवेपु, भूलहिं मूढ न चतुर नर। सुदर केकिहि पेखु, बचन सुधा सम असन अहि।'[1] हृदय कपट, वर बेप धरि, बचन कहै गढि छोलि। अबके लोग मयूर क्यो क्यो मिलिए मन खोलि।'[2] 'बचन बेप क्यो जानिए, मन मलीन नर नारि। सूपनखा, मृग, पूतना, दसमुख प्रमुख बिचारि।'[3] कपटपूर्ण वेप और वचन के खोखलेपन को इस प्रकार उजागर करनेवाले तुलसीदास ने मिथ्या प्रचार से आकृष्ट जनता के आचरण की निंदा करते हुए लिखा है, 'लही आँख कब आँधरे बाँझ पूत कब ल्याय? कब कोढी काया लही? जग बहराइच जाय।'[4] सिर्फ इतना ही नही, अधविश्वासी मूर्ख जनता से प्राप्त सम्मान का अभिमान करनेवालो को भी तुलसी ने मूढ माना है और इससे उनके आत्मज्ञान और गौरव के निश्चित रूप से नष्ट हो जाने की बात लिखी है, 'तुलसी भेंडी की

१ मानस १।१६१ ख
२ दोहावली ३३२
३ वही ४०८
४ वही ४९६

धँसनि, जड़-जनता-सनमान। उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान।'[1] तुलसी ने श्रद्धा करने के पूर्व बार-बार परीक्षा लेने पर बल दिया है, 'जौं तुम्हरे मन अति संदेहू, तौ किन जाइ परीछा लेहू',[2] 'पारवती पहिं जाइ तुम प्रेम परिच्छा लेहू,[3] 'मैं करि प्रीति-परीछा देखी'।[4] केवल परीक्षा लेने के लिए ही नहीं, परीक्षा देने के लिए भी तुलसी ने तैयार रहने को कहा है क्योंकि प्रभु भी भक्त को अंगीकार करने से पहले उसकी परीक्षा लेते हैं, 'उमा काल मर जाकी ईछा, सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा',[5] 'कृपा सिंधु मुनि मति करि भोरी, लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी,[6] इस पर भी यदि कोई तुलसी को अंधश्रद्धा का प्रचारक या अंधश्रद्धालु कहे तो उसकी बलिहारी है। डंके की चोट पर तुलसी की घोषणा है, 'जाने बिनु न होइ परतीती'[7]। अतः स्पष्ट है कि उनका श्रद्धा विश्वास ज्ञान पर, अपरोक्ष अनुभव पर आधारित था, भेड़ियाधसान पर नहीं। परीक्षित, अनुभूत महत्त्व के प्रति श्रद्धा न रखना मनुष्यत्व से वंचित होना है।

तुलसीदास ने बुद्धि की भी उपेक्षा नहीं की है। बुद्धि जानने, समझने और विचारने की शक्ति है, उसकी उपेक्षा कर कोई भी बड़ा काम कैसे किया जा सकता है। भारतीय चिंतन, मनन, दर्शन में ही नहीं, धर्म साधना में भी बुद्धि को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। गायत्री और गीता की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले तुलसीदास ने शिव-कृपा से हृदय में उल्लसित 'सुमति' से रामचरित मानस की रचना की है 'संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी, रामचरित मानस कवि तुलसी'[8]। श्रीराम का सुयश जल तुलसी की मेधा रूपी मही पर बरस कर कानों के माध्यम से मानस-सरोवर में भरा था जिसके अत्यंत सुंदर श्रेष्ठ संवाद रूपी घाटों का निर्माण उन्होंने बुद्धि से विचार कर किया है।[9] किंतु 'समुझि

१. दोहावली ४८४
२ मानस १।५२।१
३ वही १।७७
४ वही २।१५।७
५ वही ६।१०२।३
६ वही ७।११३।२
७ मानस ७।८६।७
८ १।३६।११
९ वही १।३६

न परइ बुद्धि भ्रम सानो',[1] 'विषय समीर बुद्धि कृत भोरी'[2] जैसी उक्तियो से यह भी स्पष्ट लगता है कि तुलसीदास की दृष्टि मे विषयग्रस्त बुद्धि निर्भर-योग्य नही है क्योकि तब वह तक के स्थान पर मुतक कर उचित को अनुचित और अनुचित को उचित सिद्ध करने की कुचेष्टा करने लगती है। आखिर मथरा की बुद्धि के कारण ही कैकेयी ने राम को वन भेजा था, 'कुबरिहि रानि प्रान-प्रिय जानी, बार बार बड़ि बुद्धि बखानी'[3]। इसीलिए तुलसीदास ने बुद्धि की तुलना मे विवेक को कही अधिक महत्त्व दिया है। विवेक अत करण की वह शक्ति है जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान होता है, भले और बुरे की पहचान होती है, भले की ओर प्रवृत्ति होती है, 'अस बिबेक जब देइ बिधाता, तब तजि दोष गुनहि मनु राता'[4] विषय लिप्त बुद्धि सत को असत से अलग ही नही कर पाती तो सत की ओर प्रेरित कैसे कर सकती है। बुद्धि विवेकयुक्त हो तभी कल्याणकारिणी हो सकती है। इसी दृष्टि से तुलसी ने कई स्थानो पर बुद्धि को विवेक के साथ साथ प्रयुक्त किया गया है, 'जस कछु बुधि बिबेक बल मेरे, तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरें',[5] 'सीताकेरि करेहु रखवारी, बुधि बिबेक बल समय बिचारी',[6] 'पवन तनय बल पवन समाना, बुधि बिबेक बिग्यान निधाना'[7] आदि। तुलसीदास विवेक को इतना आवश्यक समझते थे कि वेदा नुकूल भक्ति मार्गो मे भी उसे ही ग्राह्य बताते थे, जो विवेक-वैराग्य युक्त हो, 'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, सजुत बिरति बिबेक'।[8] तुलसीदास की दृष्टि मे वास्तविक बुद्धिमान—बुध वही है जो विवेकी हो, जो रोष और राग से रहित, निमल बुद्धि सपन्न हो, 'बुध सो बिबेकी बिमल मति, जिनके रोष न राग'[9] कितने आधुनिक बुद्धिजीवी इस कसौटी पर खरे उतर सकते है, यह कहना मुश्किल है।

१ मानस १।१३४।६
२ वही ७।११८।७
३ वही २।२३।१
४ वही १।७।१
५ वही १।३१।३
६ वही ३।२७।८
७ वही ४।३०।४
८ वही ७।१००ख
९ दोहा ३५६

कुछ लोगों का कहना है कि तुलसी 'वेदमार्गानुयायी' होने के कारण अपने अनुभव या चिंतन को 'निगमागमसम्मत' बना कर ही कह सकते थे अर्थात वे पुराने निर्णयों द्वारा बंधे थे और आनेवाले युगों के लोगों को भी उसी ढांचे बांध गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी वेदों का बहुत आदर करते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है, 'अतुलित महिमा वेद की, तुलसी किये बिचार। जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार।'[1] अपनी परंपरा के उत्स के प्रति श्रद्धा रखना उचित ही है खास कर जब वह अखिल धर्मों का मूल भी हो। किन्तु इसका यह मतलब भी नहीं कि तुलसी वेदों के अक्षरों से बँधे हुए थे। तुलसी ने चरम मूल्य राम को माना है, वेदों को नहीं। उनके अनुसार चारों वेद तो श्रीराम की सहज साँस भर हैं, 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'[2] अतः श्रीराम से जुड़ कर वेद का अतिक्रमण कर जाना उनकी दृष्टि में सुसंगत है। तभी तो 'लोक वेद बाहेर सब भाँती' होते हुए भी निषादराज 'भुवन भूषण' हो गया था। इसी मान्यता के अनुरूप उन्होंने कहा है कि वेद मार्ग से तो राम अगम दुष्प्राप्य हैं, जबकि सच्ची लगन से वे सुगम हैं, 'निगम अगम, साहेब सुगम राम साँचिली चाह'।[3] केवल राम को प्राप्त करने अर्थात साधना के क्षेत्र में ही नहीं, लौकिक निर्णयों में भी वे वैदिक निर्देश के साथ-साथ अन्य सूत्रों को भी विचारार्थ दृष्टिगत रखने का आग्रह करते हैं, 'करब साधुमत, लोकमत, नृपनय, निगम निचोरि।'[4] निर्णय के खरेपन की कसौटी प्रस्तुत करते हुए वशिष्ठ जी ने कहा था कि भरत की प्रार्थना सुनने के अनंतर सज्जनों के मत, लोकमत, राजनीति और वैदिक सिद्धांत के सार के अनुरूप ही श्रीराम अपना निर्णय करें। स्पष्ट है कि वैदिक सिद्धांतों की समयानुकूल व्याख्या (और पूरकता भी!) तुलसी को अभीष्ट थी। विशिष्ट स्थितियों में वे लोक को वेद से भी अधिक महत्त्व देने के पक्ष में हैं, 'जगत बिदित बात ह्वै परी समुझिए धौं अपने लोक कि वेद बडेरो'।[5] यह समझ रखना चाहिए कि तुलसी संत हैं, पुरोहित नहीं। पुरोहित कर्मकांड और परंपरा का अनुगामी होता है, वह उन सब विधियों से चिपका रहने के लिए करीब करीब विवश है जो उसे

१ दोहा ४६४
२ मानस १।२०४।८
३ दोहा ८०
४ मानस २।२५८
५ वि० प० २७२।८

पूर्वजो से उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त होती है। सत का उन विधियो मे कोई निहित स्वार्थ नही होता। वह सब धर्मों और मूल्यो के आदि स्रोत से जुडा होता है अत जनहित की दृष्टि से प्रचलित विधियो मे परिवर्तन करने मे सकोच नही करता। तुलसी ने सतो की महिमा गायी है, पुरोहितो की नही। उनकी दृष्टि मे पौरोहित्य तो अत्यत निम्न स्तर का कर्म है, 'उपरोहित्य कर्म अति मदा।'[1] यह ठीक है कि उन्होने ब्राह्मण के गौरव को भी अक्षुण्ण रखना चाहा है क्योकि वे यह मानते थे कि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, तत्र, दर्शन आदि आदि प्राचीन भारतीय ज्ञान विज्ञान को धारण करने वाले तपस्वी, धर्मनिष्ठ ब्राह्मण-समाज की यदि रक्षा नही की गयी तो इस परपरा का विलोप हो जायेगा, 'कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सदग्रथ।'[2] इसीलिए उन्होने श्रुतिधारी, निगम-धरम अनुसारी, विरक्त, ज्ञानी, विज्ञानी, ब्राह्मण को भगवान का प्रिय बताया है।'[3] साथ ही उन्होंने बिना किसी लागलपेट के यह भी कहा है, 'सोचिअ विप्र जो बेद विहीना, तजि निज धरमु बिषय लयलीना'[4] अध-पतित 'श्रुतिबचक' ब्राह्मणो को क्षोभ के साथ धिक्कारते हुए उन्होंने यह भी लिखा है, 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार सठ वषली स्वामी।'[5] इतनी गालियाँ तो कबीर ने भी ब्राह्मणो को नही दी है। इसके बावजूद वे चाहते थे कि 'यवन महा महिपाल' के साम, दाम, भेद हीन केवल 'कराल दड' के शासन-*काल मे भी प्राचीन ज्ञाननिधि को प्राणो की बाजी लगा कर बचाने वाले* ब्राह्मणो के प्रति सामाजिक श्रद्धा बनी रहे ताकि उनका योगक्षेम चलता रहे, वे जीवित रहे और युगो से सचित सास्कृतिक धरोहर की रक्षा कर सकें। इतिहास ने सिद्ध किया है कि तुलसी की दृष्टि ठीक थी। सैकडो वर्षों तक राज्य का उत्पीडन झेल कर भी सामाजिक सरक्षण के सहारे ही ब्राह्मणो के माध्यम से यह सास्कृतिक निधि आधुनिक भारत को प्राप्त हो सकी है। स्वतत्र भारत म अन्य समाजो की तरह ही हिंदू समाज भी अपना सामाजिक विधान अपनी आवश्यकता के अनुरूप बदले यह स्वाभाविक है। किंतु क्या तुलसी के युग मे यह सभव था? तुलसी पर ब्राह्मणशाही स्थापित करने का आरोप

१ मानस ७।४८।६
२ वही ७।६७ क
३ वही ७।८६।५-६
४ वही २।१७२।३
५ वही ७।१००।८

लगानेवालो को इस पर विचार करना चाहिए। यह तथ्य भी उन्हे याद रखना चाहिए कि ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा ज्ञापित करते हुए भी तुलसी ने आदर्श मानव के रूप मे सत को ही प्रस्तुत किया है और उसे किसी जाति-पाति मे सीमित नही किया।

आधुनिक दृष्टि परलोक की चिंता न कर इहलोक मे, इसी जीवन को सुखी बनाने के लिए सतत सघर्ष की प्रेरणा देती है। मनुष्य के दु ख-कष्ट के लिए वह भाग्य को नही, अज्ञान एव सामाजिक दुर्व्यवस्था को जिम्मेदार मानती है। तुलसी ने भाग्य और परलोक को स्वीकारते हुए भी उद्योग और इहलोक के महत्त्व को भली भाँति प्रतिपादित किया है। सामाजिक दुर्व्यवस्था रावणी अत्याचार के विरुद्ध सघर्ष उन्हें भी अभीष्ट है। राम रावण के युद्ध के माध्यम स उन्होने बाहर और भीतर चलने वाले शुभ और अशुभ के द्वद्व मे शुभ का समर्थक, राम का सैनिक बनने की जबर्दस्त प्रेरणा दी है। पूरे मध्यकाल मे वे शायद अकेले सत है जिन्होंने राम का नाम जपने पर जितना जोर दिया है, उतना ही जोर दिया है राम का काम करने पर। 'राम काज लगि तव अवतारा'[1] राम का काम करने के लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है, यही उनका सदेश है। राम का काम क्या है? तुलसी ने बताया है कि श्रीराम के अवतार के अनेक हेतुओ मे एक प्रमुख हेतु है 'सज्जनो की पीडा हरना तथा असुरो का सहार करना। प्रभु न भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की थी कि मैं पृथ्वी को निशाचरहीन कर दूगा, 'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'[2] ये निशाचर न तो 'कोउ मुखहीन, बिपुल मुख काहू, बिनु पद कर कोउ बहु पदबाहू जैसे किभूत, किमाकार काल्पनिक जीव हैं, न किसी खास देश-काल या जाति धर्म तक सीमित है। तुलसी की व्याख्या के अनुसार पर पीडक हिंसक दुराचारी ही निशाचर हैं, 'बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं। हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवन मिति।

बाढे खल बहु चोर जुआरा। जे लपट पर धन, पर दारा।।
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।।
जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी।।[3]

क्या ऐसे निशाचर आज भी नही हैं? और फिर तुलसीदास की कल्पना केवल

१ मानस ४।३०।६
२ वही ३।६
३ वही १।१८३ १।१८४।१ ३

विध्वसक ही नही है। दुष्टो के दमन पर ही वे नही रुकते, इस लोक मे ही (किसी साकेत या बैकुठ मे नही) रामराज्य की स्थापना की विधायक कल्पना भी वे प्रस्तुत करते हैं जिसका आदर्श है

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब निर्दम्भ धम्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥[1] आदि

क्या हम ऐसा विषमता-रहित समाज बना सके हैं? यदि नही, तो राम का काम अभी शेष है। फिर 'राम काज कीन्हे बिनु मोहि कहाँ विश्राम'[2] की मान्यता का अनुयायी सब कुछ भाग्य भरोसे छोड कर सत और असत के सघर्ष मे तटस्थ कैसे रह सकता है? प्रबल विघ्नो के सम्मुखीन होने पर भी वह उनसे साहसपूर्वक जूझता रहेगा क्योकि तुलसी का उपदेश है, 'राम सुमिरि साहस करिय, मानिय हिये न हारि।'[3] उसकी दृष्टि मे तो भाग्य की दुहाई देते रहने वाले कायर और आलसी हैं। 'कादर मन कहुँ एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा।'[4] राम की शक्ति से शक्तिमान होकर वह रावणतुल्य अत्याचारी के सामने भी तन कर कह सकता है, 'मैं तव दसन तोरिबे लायक।'[5]

तुलसी के लिए रामभक्ति का अर्थ है राम की सेवा। उनका दृढ सिद्धात है 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।'[6] सेवा तो कर्मठता के बिना हो ही नही सकती। फिर तुलसी ने इस भ्राति के लिए भी कोई अवकाश नही छोडा है कि प्रभु की सेवा अवतार काल मे या मदिरो मे ही हो सकती है। उन्होने स्वय श्रीराम के मुख से अपने अनन्य सेवक की व्याख्या इस प्रकार करवाई है

सो अनन्य जाके अस, मति न टरइ हनुमत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवत॥[7]

चराचर जगत को प्रभु का व्यक्त रूप समझ कर उसकी सेवा का अर्थ ही

१ मानस ७।२१।५ ७
२ वही ५।१
३ रामाज्ञा प्रश्न ८।१।३
४ मानस ५।५१।४
५ वही ६।३४।१
६ वही ७।११
७ वही ४।३

है इसी लोक और इसी जन्म में समष्टि हित के लिए प्राणपण से प्रयास करते रहना। इसीलिए नरक, स्वर्ग, बैकुंठ की चिंता छोड़कर तुलसी ने साफ कह दिया कि मुझे तो इसी संसार में राम के सेवक का जीवन बहुत अच्छा लगता है

को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को॥[1]

भाग्य और परलोक की धारणाओं का उपयोग भी तुलसी ने इसी सेवा मूलक भक्ति भावना की पुष्टि के लिए किया है, मनुष्य को आलसी बनाने, हौए के रूप में डराने या सब्जबाग दिखाकर लुभाने के लिए नहीं। यह सही है कि तुलसी 'भावी' को प्रबल मानते हैं (आज भी बहुत से मनोविज्ञानी, अर्थ शास्त्री और इतिहासज्ञ अपने अपने ढंग के 'नियतिवाद' की चर्चा करते हैं) पर वे यह भी बताते हैं कि वह अनुल्लंघनीय नहीं है। उनकी निश्चित मान्यता है कि राम के जगमंगल गुण समूह भाग्य के कठिन, प्रतिकूल लेख को भी मिटा देने में समर्थ हैं, 'मेटत कठिन कुअंक भाल के।'[2] नारद ने भाग्य को बदल देने की विधि हिमालय को बताते हुए कहा था, 'जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी, भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।'[3] यह भाग्य पर पुरुषार्थ की विजय की असंदिग्ध स्वीकृति है। 'तप सुखप्रद दुख दोष नसावा'[4] के निर्देश को स्वीकार करने के सुफल के रूप में ही गिरिजा शंकर का विवाह एवं कार्तिकेय का जन्म हुआ जिनके लिए तुलसी ने लिखा, जग जान षन्मुख जन्म, कर्मु, प्रताप, पुरुषारथु महा।[5] इस महापुरुषार्थी के प्रताप का गुणगान करनेवाले को यदि कुछ आधुनिक बुद्धिजीवी 'भाग्यवाद का प्रचारक' बतायें तो कोई क्या कर सकता है। तुलसी की राय में परलोक भी सवाँरना है साधन धाम, मोक्ष के द्वार इसी 'मानुष तनु' के द्वारा किये गये सत्कर्मों से। उनके मतानुसार मानव शरीर का फल विषय भोग न होकर 'सकल सुख खानी' भक्ति है अतः उसी के सुलभ सुखद मार्ग पर चलना चाहिए 'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू।'[6]

१ विनयपत्रिका १५५।६ १०
२ मानस १।३२।६
३ वही १।७०।५
४ वही १।७३।२
५ वही १।१०३।छं १
६ वही ७।४५।१

जो ऐसा नहीं करता 'सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ, कालहि, कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।'[1] परलोक मे दुख मिलने पर काल, कर्म, ईश्वर को दोष देना गलत है क्योकि चूक तो अपनी ही है।

यह सच है कि सैद्धांतिक स्तर पर तुलसी ने काल के ऐतिहासिक सरल-रैखिक प्रत्यय के स्थान पर पौराणिक चक्रवत आवर्त्ती चतुर्युगीन प्रत्यय को उसके दार्शनिक पक्ष के साथ स्वीकारा है और यह भी सच है कि इसीलिए उन्होंने अतीत को— सत्ययुग को ही सर्वाधिक गौरव दिया है। यह आधुनिक दृष्टि को अस्वीकार्य है, इसमे कोई सदेह नही। किंतु व्यावहारिक स्तर पर समय सचेतनता की दृष्टि से वे अदभुत रूप से आधुनिको के साथ है। आधुनिक जीवन-पद्धति का एक बडा तत्त्व है समयनिष्ठा! और तुलसीदास की मान्यता है, 'लाभ समय को पालिबो, हानि समय की चूक, सदा विचारहिं चारुमति सुदिन कुदिन, दिन दूक'[2] सामर्थ्य रहते हुए भी ठीक समय पर ही ठीक काम करना चाहिए तुलसी ने इस सिद्धात की पुष्टि मे श्री राम का उदाहरण देते हुए लिखा है, 'समरथ कोउ न राम सो तीय हरन अपराधु, समयहि साधे काज सब समय सराहहिं साधु'[3] समग्र कल्प की दृष्टि से होगा सत्ययुग सवगुण सपन्न युग, पर अपने छोटे-से जीवन म बीते हुए समय की तुलना मे आनेवाला समय कितना अधिक महत्त्वपूण है, इसका सकेत देते हुए तुलसी ने कहा है, 'न करु बिलब, विचार चारुमति बरष पाछिले सम अगिलो पल'[4] देर न कर, सुबुद्धि से सोच कि पिछले वर्षों के समान (मूल्यवान) है अगला पल। बचे हुए जीवन के एक-एक क्षण को इतना महत्त्व देना आज भी सुसगत है।

मध्ययुग मे बडे पैमाने पर परिवेश को नियत्रित कर पाना या अतर्राष्ट्रीय समस्याओ की सटीक जानकारी रखकर उनके प्रति अपनी निश्चित धारणा बना पाना बडे बडे प्रशासको के लिए भी कठिन था अत भौतिक साधन हीन सन्त से इसकी अपेक्षा करना ही अनुचित है। ध्यान देने की बात यह है कि भक्ति साधना मे लीन रहते हुए भी वे समसामयिक पारिवारिक, सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक स्थितियो के प्रति कितने सचेत थे और कितनी दुविधाहीन

१ मानस ७।४३
२ दोहावली ४४४
३ वही ४४८
४ विनयपत्रिका २४।७

भाषा मे उन्होंने उनके बारे मे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। समाज मे व्याप्त विशृङ्खला, आडबर, पाखड, अनाचार का विस्तृत चित्रण उन्होंने मानस के कलिकाल वर्णन म, कवितावली के उत्तरकाड के कुछ छदो म एव दोहावली के कुछ दोहों में किया है। ब्रह्मज्ञान की छौंक हर बात मे देनेवाले भी किस प्रकार एक कौडी के लिए नीच से नीच कार्य कर सकते हैं, किस प्रकार काम, क्रोध, लोभ मे रत नर नारी किसी भी सीमा तक दुराचार करके, गाल बजाकर पडित, मिथ्यारभ कर सत, दभ कर आचारी कहला सकते हैं, इसका उन्हें मर्मान्तुद ज्ञान था। वाणी मे विचार और शरीर पर आचार की झलक देनेवालो के मन मे, कार्यों म छल ही छल भरा देख कर उन्होंने यह मार्मिक प्रश्न किया था कि अतर्यामी को ठग कर कोई कैसे सुख पा सकता है, 'बचन बिचार, अचार तन मन करतब छल छूति, तुलसी क्यो सुख पाइये अतर्जामिहि धूति'[1] आर्थिक स्थिति की भयकरता का उनका चित्रण हृदय को झकझोर देने वाला है खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि, बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी। जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस कहे एक एकन सा, कहाँ जाई, का कारी।[2] इसी छद मे उन्होंने दारिद्रय को सारी दुनिया को ग्रस लेनेवाला रावण बताकर उसके दलन की प्रार्थना श्रीराम से की थी, 'दारिद दसासन दवाई दुनी दीनबधु दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।' इसी तरह महामारी और अकाल के प्रकोप के समय भी वे जन-सामान्य के मगल के लिए प्रभु से आर्त्त स्वरो म प्रार्थना कर उठे थे। पीडितो के प्रति जितनी सहज और सच्ची थी उनकी सहानुभूति और करुणा, उत्पीडको के प्रति उतना ही उग्र था उनका रोष और क्षोभ। निर्भीकतापूर्वक उन्होंने लिखा था कि भूप प्रजासन[3] (प्रजा भक्षी) और भूमि चोर[4] हो गये है, दिन मे डाकुओ और रात म चोरो[5] के उत्पात से जीवन दूभर हो गया है। प्रजा के दुखी होने पर राजा को परलोक में नरक मिलेगा (जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृपु अवसि नरक अधिकारी[6]) कहकर ही उन्होंने छुट्टी नही पा ली यह भी कहा कि जो

१ दोहावली ४११
२ कवितावली ७।९७।१ ४
३ मानस ७।९८।२
४ कवितावली ७।१७७।३
५ दोहावली २३९
६ मानस २।७१।६

राज्य करते समय अकारण कुचाल, कुसाज, कुठाट करते हैं वे अपने पूरे सहायकों के साथ रावण और दुर्योधन की तरह इसी लोक मे समूल नष्ट हो जायेंगे, 'राज करत बिनु काज ही, करैं कुचालि कुसाज, तुलसी ते दसकंध ज्यों जइहैं सहित समाज। राज करत बिनु काज ही ठटहिं जे कूर कुठाट, तुलसी ते कुरुराज ज्यों जइहैं बारह बाट।'[1] स्थापित अत्याचारी राजसत्ता के खिलाफ दीन हीन-दुखी जनता का पक्ष ग्रहण करने का तुलसी का यह नैतिक साहस क्या आधुनिकता विरोधी, मध्ययुगीन बोध है ?

तुलसीदास के अनुसार मानव को विशेष गरिमा प्राप्त होती है, चौरासी लाख योनियों मे मानव योनि के कर्मयोनि होने के कारण, उसी के 'भव बारिधि कहुँ बेरो'[2] हो सकने के कारण। अन्यथा जीव रूप मे तो सीय राम मय होने के कारण सभी उनके लिए वन्दनीय हैं, 'आकर चारि लाख चौरासी, जाति जीव जल थल नभ बासी, सीत राम मय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।'[3] मानव शरीर पाकर भी जो राम से स्नेह नहीं करते, तुलसी की दृष्टि मे 'तिन्हतें खर, सूकर, स्वान भले'[4] आधुनिक दृष्टि 'राम से स्नेह' की न सही 'मानवता' की अपेक्षा तो रखती ही है, जिसके अभाव मे आधुनिक साहित्यकारों को भी मनुष्य भेडिया, सुअर, कुत्ता, चूहा, केंचुआ जैसा लगने लगा है।

जहाँ तक 'योग्यतानुपाती न्याय' का अर्थात विशिष्ट स्थिति, जाति या पद मात्र के कारण नहीं, कार्य के कारण, पात्रता के अनुरूप पुरस्कार, पद या पारिश्रमिक आदि देने का प्रश्न है, मुझे लगता है कि तुलसीदास बहुत दूर तक इसका समर्थन करते। सामान्यत वे यही मानते थे कि 'करम प्रधान बिस्वकरि राखा, जो जस करइ सो तस फल चाखा'[5] मोटे तौर पर यह योग्यतानुपाती न्याय का भारतीय प्रतिरूप है। फिर भी दोनों एक नहीं हैं। भारतीय कर्म-सिद्धांत दुधारी तलवार है। एक ओर तो इसमे सत्कर्मों को प्रेरणा मिलती है, उनके फलों के भोग का नैतिक अधिकार प्राप्त होता है, दूसरी ओर इसी से पूर्वजन्म, पुनर्जन्म और प्रारब्ध की धारणाएँ पुष्ट की जाती हैं जिनका दुरुपयोग

१ दोहावली ४१६ ४१७
२ मानस ७।४४।४ ७
३ वही १।८।१-२
४ कवितावली ७।४०।१
५ मानस २।२१९।४

कुछ स्वार्थी लोग निष्क्रियता के समथन के लिए, यथास्थिति को बनाये रखन के लिए कर सकते है। आधुनिक दृष्टि इसके पूर्वाध को तो स्वीकार करती है, उत्तराध को नही। तुलसी पूवजन्म, पुनजन्म और प्रारब्ध को मानते हुए भी पतित यथास्थिति का समथन कतई नही करते, यह उनके पूरे साहित्य से स्पष्ट है। व्यक्ति और समाज दोनो को पतन से उत्थान की ओर जाने की राह बताने का कत्तव्य उन्होन निभाया है। हार कर भागता हुआ निकम्मा कायर भी यदि लौट कर जूझने लगे तो वीर कहलाता है, 'राउउ राउत होत फिरि कै जूझ'[1] यह कह कर व्यक्ति को अपनी स्थिति सुधारने की ओर 'सुनहु सकल पुरजन मम बानी'[2] के द्वारा समाज को सामूहिक मगलमय विकास करने की प्रेरणा उन्होने दी है। अत वे कम सिद्धात के तेजस्वी रूप का समथन करते हैं। व्यवहार मे किसी का हक मार कर किसी के अनुचित पक्षपातयुक्त पोषण की दुर्नीति का वे विरोध करते हैं। उन्होने साफ कहा है मुखिया तो मुख के समान होना चाहिए जो अकेला भोजन करते हुए भी समान अगो का विवेक पूवक अर्थात उनकी आवश्यकता और काय के अनुरूप पोषण करता है, 'मुखिया मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक। पालइ, पोषइ सकल अग तुलसी सहित बिबेक'।[3] किन्तु वे यह भी मानते थे कि मनुष्य अपने ही पुरुषाथ से अपना चरम विकास नही कर सकता, उसके लिए भगवत्कृपा आवश्यक है। भगवान की कृपा अहैतुकी होती है। कृपा योग्यता अयोग्यता का विचार नही करती, इसका मतलब सिफ यही है कि कृपा सिद्धात को माननेवाला न कर्त्तत्व क अहकार स ग्रस्त हो, न साधनहीनता की निराशा से पस्त। उसमे किसी प्रकार की ढिलाई भी न आय। अपने कर्त्तव्य-कम के एकागी कठिन मार्ग पर चलना शुरू कर तुच्छ सुखो के प्रलोभन स क्षण क्षण पर विश्राम करना अनुचित है क्योकि तुलसी क मतानुसार अपना भला अपनी ओर से अपने नेम' क निर्विघ्न निबाह मे है

> एक अग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहैं।
> तुलसी हित अपना अपनी दिसि, निरुपधि नेम निबाहे।[4]

कम की दृष्टि से योग्यतानुपाती न्याय का समथन भगवत्कृपा की दृष्टि से

१ विनयपत्रिका १७६।१२
२ मानस ७।४३।३
३ वही २।३१५
४ विनयपत्रिका ६५ (६ १०)

उसका अतिक्रमण तुलसी की मान्यता को अधिक कल्याणकारी बनाता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

आधुनिक दृष्टि से श्रेष्ठ माने जानेवाले कुछ प्रमुख लक्षणों के सदर्भ मे तुलसी की मान्यताओ के इस सक्षिप्त परीक्षण से यह स्पष्ट है कि दोनो मे कुछ बातो मे समानता और कुछ बातो म पर्याप्त अतर होते हुए भी, ऐसा मौलिक विरोध नही है कि दोनो मे सवाद ही न हो सके। कृषिमूलक अर्थव्यवस्था पर आधारित सामतशाही मुगल युग मे उत्पन्न तुलसीदास की कुछ स्थापनाए अतीतोन्मुखी है और कुछ अपने युग के सास्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक परिवेश को दृष्टिगत रखकर की गयी है। स्वभावत ऐसी स्थापनाएँ आधुनिक औद्योगिकता की पूजीवादी तथा राज्यनियन्त्रित वर्गवादी अर्थव्यवस्थाओ के सघात के गतिचचल युग के अनुकूल नही हो सकती। आखिर तब से अब तक के मानव-अनुभवो और वैज्ञानिक चेतना एव आविष्कारो ने हमारे परिवेश को, हमारी सामाजिक-राजनीतिक आशा आकाक्षाओ को, हमारे औचित्य बोध को बहुत कुछ बदल भी तो दिया है। इसका अर्थ यह है कि जिस तरह तुलसी ने अपनी प्राप्त परपरा से 'सग्रह-त्याग' किया था, उसी तरह हम लोग भी तुलसीदास से (जो अब स्वय परपरा के पुष्ट अग बन गये है) 'सग्रह-त्याग' कर सकते हैं। इसके लिए सत्य और सर्वहित जैसे तत्त्वो से ही निर्मित कसौटी का उपयोग किया जाना चाहिए। इन्ही को दृष्टिगत रखकर कहा जा सकता है कि तुलसी द्वारा समर्थित जन्मना स्थिर वर्णव्यवस्था (शूद्र एव अस्पृश्य मानी जानेवाली जातियो के प्रति सामाजिक अन्याय जिसका अभिन्न अग है) नारी की अतिशय नियन्त्रित भूमिका, राजतत्र, काल की चतुर्युगी चक्रवत् पुनरावर्ती धारणा, अतीत (सत्ययुग) को ही सर्वश्रेष्ठ मानने के फलस्वरूप इतिहास की ह्रासोन्मुख सकल्पना जैसी बातें अब अमान्य हैं। कट्टर तुलसी-भक्तो को यह स्मरण रखना चाहिए कि परपरा से (और तुलसी से भी) हमारा सबध सिर्फ अनुकरण का नही, उसके दाय के स्वस्थ विकास का होना चाहिए। इस क्रम मे आज के लिए अहितकर या अनुपयोगी तत्त्वो की छँटाई पीले पत्तो और सूखी डाली की छँटाई के समान ही समाज वृक्ष के लिए कल्याणकर है। साथ ही यह भी सच है कि ये और इन जैसी कुछ और बातें तुलसी कि विचारधारा के गौण अश हैं।

तुलसीदास की विचारधारा का विपुलाश आज भी वरणीय है। श्रीराम (सगुण या निर्गुण ब्रह्म, अवतार, विश्वरूप, चराचर व्यक्त जगत् या चरम मूल्यो की समष्टि और स्रोत—उनका जो भी रूप आपकी भावना को ग्राह्य हो) के प्रति समर्पित, सेवाप्रधान, परहित निरत, आधि व्याधि रहित जीवन,

मन, वाणी और कर्म की एकता, उदार, परतम सहिष्णु, सत्यनिष्ठ, समन्वयी दृष्टि, अन्याय के प्रतिरोध के लिए वज्र कठोर, प्रेम करुणा के लिए कुसुम कोमल चित्त, गिरे हुओं को उठने, और बढ़ने की प्रेरणा और आश्वासन, भोग की तुलना मे तप को प्रधानता देनेवाला, विवेकपूर्ण, सयत आचरण, दारिद्र्य मुक्त, सुखी, सुशिक्षित समृद्ध, समतायुक्त समाज, साधुमत और लोकमत का समादर करनेवाला प्रजा हितैषी शासन—सक्षेप म यही आदर्श प्रस्तुत किया है तुलसी की 'मगल करनि, कलिमल हरनि' वाणी ने। क्या आधुनिकता इसको खारिज कर सकती है ?

और फिर आधुनिकता को क्या यह आदश चुनौती नही दे सकता ? क्या यह उससे नही पूछ सकता कि आधुनिक प्राचुर्य युक्त समाज बाहर से जितना भरा भरा लगता है, भीतर से उतना ही खोखला क्यो है ? भौतिक समृद्धि के साथ ही साथ मनुष्य की बेचैनी, छटपटाहट, हताशा क्यो बढ़ती जा रही है ? आज की उद्धत बौद्धिकता परपरागत मूल्यो के खडन म सफल होने का जसा दावा करती है, वैसा दावा हृदय को अवलब दे पाने वाले किसी विश्वास के निर्माण के लिए क्यो नही कर पाती ? लोकतन्त्र का मुखौटा लगाये पूँजीवादी व्यवस्था हो या समाजवादी रामनामी ओढे वगवादी, दलीय तानाशाही, क्यो ऐसा है कि दोनो खेमो म झूठ, फरेब, दमन, प्रलोभन पर आधारित हृदयहीन शासनतत्र पनप रहा है और विचार की वाणी का दम घोटा जा रहा है। विज्ञान की सहायता से इद्रियो को सुख देनेवाले एव अह को तृप्त करनेवाले पदार्थों के द्वारा अपने को सतुष्ट करने की अधाधुध चेष्टा करनेवाला, आज का स्नायविक तनावग्रस्त मानव दूसरो से क्यो कटता और अकेला पड़ता चला जा रहा है ? कही ऐसा तो नही है कि उन्नीसवी सदी के बहुतेरे आधुनिक चितको ने ईश्वर को—श्रद्धा को नकार कर, उनके स्थान पर मनुष्य का—तक को प्रतिष्ठित करने का जो आग्रह किया था, उसका यह दुष्परिणाम है ? बीसवी शताब्दी के दो-दो विश्वयुद्धो मे एव उनके बाद भी छोटे बडे युद्धो, सघर्षों एव शातिकाल को तीसरे विश्वयुद्ध की भूमिका के रूप म ग्रहण करने की कुचेष्टाओ के परिप्रेक्ष्य मे मनुष्य का जो हृदयहीन, स्वार्थपर, घृणित रूप उभरा है उसने मानववादी चितको द्वारा निरूपित मानव के उदात्त रूप के प्रति मोह भग कर दिया है। सतो का स्थान न वैज्ञानिक ले सके, न साहित्यिक, न कलाकार, राजनीतिक नेता का तो कोई सवाल ही नही उठता। इसी के फलस्वरूप मानव के प्रति बहुत से विचारको की आस्था नष्ट हो गयी है और उन्हे जीवन अर्थहीन लगने लगा है। व्यवहार मे दिन प्रतिदिन बढ़नेवाली पदार्थ

लिप्सा और विचार मे अविश्वासजनित रिक्तता आज के मानव की सबसे बडी सास्कृतिक समस्या है।

अत्यधिक समुन्नति के भौतिक दुष्परिणामो की ओर भी विचारको का ध्यान जाने लगा है। नगरो मे बढती जनसख्या, गदगी, ट्राफिकजाम, वायु, नदियो, समुद्रो का प्रदूषण, जगली जीवन का नाश, प्राकृतिक सपदा का अधाधुध अपव्यय, त्वरित परिवतमान जगत् मे जमने के पहले ही उखडती नयी परपराएँ, एव विचारधाराएँ, अधिकाधिक स्पर्धा, यात्रिक जीवन, शोर, भीड, सामाजिक पारिवारिक जीवन का विघटन, आत्मनिर्वासन, कक्रीट और लोहे की एकरसता आदि भी तो आधुनिकता की ही देन है।[1] यह सच है कि भारत अभी इतना पिछडा है कि उसे औद्योगिकीकरण को अभी बढाना ही होगा किंतु क्या यह भी उचित नही है कि इन परिणामो के प्रति सतर्क रहते हुए हम अपना विकास अपनी आवश्यकताओ और परपराओ के अनुरूप करें, नहीं तो हिप्पी, नशाखोरी, बढती मनोविकृतिया, बडी सख्या मे तलाक, आत्महत्याएँ हमसे भी बहुत दूर नही रहेंगी।

आज तुलसीदास होते तो जरूर पूछते कि भाई, मानव को सुखी बनाने के लिए वैज्ञानिक उपलब्धियो द्वारा परिवेश को मानव प्रकृति के अनुकूल बनाने चले थे न तुम, अब वैज्ञानिक उपलब्धियो के द्वारा परिवर्तित और विजित परिवेश के अनुकूल मानव प्रकृति को ढलने के लिए विवश कर उसे क्यो अधिकाधिक दुखी बनाते चले जा रहे हो? 'लिखत सुधाकर गा लिख राहू'[2] की भूल क्या दुहरा रहे हो! मनुष्य की आवश्यकताएँ और प्रौद्योगिकी (सुपर टेक्नोलॉजी) की आवश्यकताएँ परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं—असमाधेय होने की सीमा तक, यह तुम क्यो नही समझ पाते? तुम हम पर आरोप लगाते हो न कि हम लोगो ने परलोक की चिंता के कारण इहलोक की और अतीत-भक्ति के कारण वतमान की उपेक्षा की थी, अब तुम लोग अतरिक्ष-विजय की आतुरता मे धरती की और स्वर्णिम भविष्य की रम्य कल्पना के मोह मे वतमान की उपेक्षा क्यो कर रहे हो? जिन्होने ईश्वर को मानने से इकार किया उन्होने क्या अपनी पूजा भावना को भी समाप्त कर दिया? ऐसा नही हुआ, ईश्वर के स्थान पर मानव, राष्ट्र, विचारधारा, नेता आदि को पूज्य

१ देखिए श्री ई० जे० मिशान लिखित पुस्तक 'टेक्नालॉजी एड ग्रोथ, द प्राइस वी पे'

२ मानस २।५५।२

मानकर उन्होंने व्यावहारिक जीवन-दर्शन गढ़े। क्या उनके परिणाम शुभ रहे? क्या बाहरी हजार परिवर्तनों के बावजूद मूलभूत मानवीय प्रकृति भीतर से करीब करीब अपरिवर्तित ही नहीं है, और क्या 'अमृतत्व' की उसकी तलाश को खारिज कर उसकी पूर्णता का विधान किया जा सकता है?

ये प्रश्न आधुनिकता के प्रबल समर्थकों को भी सोचने के लिए विवश कर देंगे। पर तुलसीदास से हमारा संबंध केवल विश्वचिंतन या मानवीय भावबोध के स्तर का नहीं है। हमारा जातीय मानस जिन तत्त्वों से गठित हुआ है, उनके वे अपूर्व शाता हैं। हमारे जातीय मानस के विविध स्तरों और कहीं कहीं परस्पर विरोधी दिशाओं के जाने वाले उसके भावों को उन्होंने भली भाँति समझ कर उनका समाहार अपने साहित्य में—मुख्यत रामचरितमानस में किया है। इसीलिए मानस इतना लोकप्रिय और सम्मान्य हो सका है। यह सच है कि इन चार सौ वर्षों में हमारे जातीय मानस की जटिलता और बढ़ी है, उस पर नयी परतें और चढ़ी हैं। फिर भी हिन्दी में अब भी तुलसी का ही कृतित्व ऐसा है, जिसके द्वारा भारत के जातीय मानस की मौलिक सरचना को समझा जा सकता है और उसके बहुत बड़े अंश को तृप्त किया जा सकता है। अत तुलसीदास आज भी हम लोगों के लिए अपरिहार्य हैं। आज भी उनका आदर्श एक बड़ी सीमा तक हम लोगों के लिए दिशा निर्देशक है।

पश्चिमी विचारकों की तेज-तर्रार युक्तियों तथा आधुनिक कवियों के विलक्षण शिल्प से प्रभावित बहुत से फैशनपरस्त आधुनिक भारतीयों को भी तुलसी की शैली, शब्दावली, विचार पद्धति अनाकर्षक लग सकती है, किन्तु संग्रह त्याग क्या बाह्य कलेवर के आधार पर ही किया जा सकता है? यह सवाल मेरा नहीं तुलसीदास का है

मनि भाजन मधु पारई पूरन अमी निहारि।
का छाँडिय, का संग्रहिय, कहहु बिबेक बिचारि।[1]

मणि के पात्र में शराब हो और मिट्टी की परई में अमृत, तो क्या अमृत का त्याग कर, पात्र की चमक दमक से प्रलुब्ध होकर शराब को स्वीकार कर लेना विवेक का सूचक होगा? सर्जनात्मकता का सच्चा प्रमाण तो मणि पात्र में अमृत की प्राप्ति द्वारा ही दिया जा सकेगा। क्या हम ऐसा प्रमाण देने की चुनौती स्वीकारने की हिम्मत रखते हैं?

१ दोहावली ३५१

तुलसीदास के राम

राम तो एक ही हैं और वे सबके है, फिर तुलसी के राम का क्या मतलब ? बात यह है कि राम तत्त्वत तो एक ही हैं किंतु सबके होते समय वे हर एक की भावना के अनुरूप ही उसके होते हैं। जैसे एक ही दीपशिखा अलग-अलग रग के शीशों के द्वारा देखी जाने पर अलग-अलग रग की दिखाई पडती है वैसे ही एक राम अपने भक्तो के परितोष के लिए उनके भावानुरूप उनके अत -करणो मे अनत रूपो म प्रकट होते है। ये भक्त अपनी अपनी दृष्टि भावना और क्षमता के अनुरूप उनका गुणगान करते हैं। तुलसी ने इस मान्यता को सिद्धात और व्यवहार दोनो स्तरो पर स्वीकार किया है। उन्होने एक ओर 'जथा अनत राम भगवाना, तथा कथा कीरति गुन गाना'[1] कहा है तो दूसरी ओर धनुष यज्ञ मे पधारने पर श्रीराम को भिन्न भिन्न व्यक्तियो ने किस प्रकार भिन्न भि न रूपो मे देखा, इसका सरल वणन भी किया है, 'जिन्ह के रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी'[2] का व्यावहारिक उदाहरण भी प्रस्तुत किया हैं। तो तुलसी के राम का अथ हुआ तुलसी की भावना के अनुसार तुलसी साहित्य मे चित्रित राम।

यह स्मरणीय है कि बिलकुल नये चरित्र की अवतारणा करने की तुलना मे बहुमान्य पुराने चरित्र को नया सस्कार दे पाना बहुत कठिन कार्य है जो बहुत बडी प्रतिभा द्वारा ही सभव है। तुलसी राम का रूप अकित करने मे सवथा स्वतत्र नही थे। एक तरफ उन्ह श्री वाल्मीकि रामायण से राम का पुरुषोत्तम रूप प्राप्त हुआ था जो समस्त मानवोचित गुणो से युक्त था। वाल्मीकि के राम गाभीर्य मे समुद्र, धैय मे हिमालय, वीर्य मे विष्णु, प्रियता मे चद्रमा, क्रोध मे कालाग्नि, क्षमा मे पृथ्वी, त्याग मे कुबेर एव सत्य मे द्वितीय

१ मानस १।११४।४

२ वही १।२४१।४

धम के सदृश थे।[1] दूसरी तरफ अध्यात्म रामायण से उन्हें ब्रह्म राम की धारणा मिली थी, जिसका मानवीय रूप बहुत ममस्पर्शी न था। पौराणिक परपरा दशरथ सुत राम को विष्णु का अवतार मानती थी। कबीर आदि भक्त सगुण साकार दशरथ सुत राम को ब्रह्म या विष्णु का अवतार मानने से इनकार करते थे। 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना' कहकर वे राम को तत्त्वत निर्गुण निराकार और व्यवहारत सगुण निराकार मानकर उनकी भक्ति का उपदेश देते थे। तुलसी परपरा को अक्षुण्ण रखते हुए ही उसका समयानुकूल विकास करना चाहते थे अत उन्होंने लोकविश्वास को विचलित करनेवाली कबीर की स्थापना का प्रबल विरोध कर पुन प्रतिपादित किया 'सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान'।[2] राम को ब्रह्म मान कर तुलसी ने राम सबधी पूववर्ती धारणाओ एव कथाओं को इस प्रकार समेट लिया है कि सहसा यह प्रतीत ही नही होता कि इस प्रक्रिया मे उन्होंने राम के रूप को स्थान स्थान पर अपना मौलिक सजनात्मक स्पश देकर उसे पहले से बहुत बदल दिया है, कही अधिक उदात्त, करुण कोमल और मानवीय बना दिया है।

परिवतन रूप मे ही होता है, स्वरूप म नही। बहुरूपिया अपना रूप ही बदलता है, स्वरूप नही बदलता, चाहे तो भी नही बदल सकता। रूप बदलते रहने पर भी 'स्वत्व' बना रहता है किंतु यदि किसी तरह किसी का स्वरूप बदल जाय तो 'वह' वह नही रहता, कुछ और हो जाता है। तुलसीदास ने श्रीराम का स्वरूप तो 'औपनिषदिक ब्रह्म' का ही स्वीकारा है किंतु उनके रूप मे वैविध्य की गुजाइश भी रहने दी है ताकि भिन्न भिन्न रुचियो की परितृप्ति हो सके। श्रीराम के स्वरूप की ओर सकेत करते हुए तुलसी ने लिखा है, 'राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर। अविगत, अकथ, अपार नेति, नेति, नित निगम कह।'[3] जो वाणी और बुद्धि के परे है, जिसको न जाना जा सकता है, न बखाना जा सकता है, वेद भी जिसे नेति, नेति (वह ऐसा नही है, ऐसा नही है) के द्वारा व्यजित करते हैं, उसमे कोई परिवतन भी नही किया जा सकता। ब्रह्म के विधिमुख स्वरूप लक्षण को भी तुलसी ने राम पर घटाया है, 'राम सच्चिदानद दिनसा, नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा', 'राम ब्रह्म व्यापक

१ वा० रा० १।१।१७ १८
२ मानस १।११८
३ वही २।१२६

जग जाना, परमानद परेश पुराना।'[1] राम और ब्रह्म मे अभेद बताते हुए भी वे शुष्क वेदांतियो की तरह राम (ब्रह्म) को निष्क्रिय निरपेक्ष नही मानते, न यही मानते हैं कि उनका सगुण साकार रूप मायाविशिष्ट अतएव तात्त्विक दृष्टि से मिथ्या है। उनके लिए यह कल्पना असह्य है कि प्राणियो के दुख, कष्ट शोक आदि से राम अप्रभावित रह सकते हैं। उनकी तो मान्यता है, 'ऐसे राम दीन हितकारी, अति कोमल, करुणानिधान बिनु कारन पर उपकारी।'[2] जब वे देखते हैं, 'ब्यापकु एकु ब्रह्म अविनासी, सत चेतन घन आनद रासी, अस प्रभु हृदय अछत अविकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी'[3] तो वे कह उठते हैं, 'अतर्जामिहु ते बड बाहरजामि हैं राम, जे नाम लिये ते। धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यो बालक बोलनि कान किय तें।'[4] अर्थात अतर्यामी राम से भी बडे 'बाहरजामी' राम हैं, जो नाम लेने पर उसी तरह सकट हरने के लिए दौडे आते है जिस तरह बछडे की पुकार सुनने पर हाल की ब्याई गाय थन मे दूध उतारती हुई दौडी आती है। भक्ति के इस आवेश मे भी वे इतने सावधान है कि तात्त्विक दष्टि से निर्गुण निराकार और सगुण साकार मे कोई अतर नही मानते। सगुण-निर्गुण की अभिन्नता को समझाते हुए उन्होंने कहा है, 'अगुन, अरूप, अलख, अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई, जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे, जलु हिम उपल बिलग नहि जैसे'[5] जिस प्रकार जल और बर्फ मे कोई तात्त्विक अतर नही है उसी प्रकार भक्तो के प्रेमवश निर्गुण निराकार ही सगुण साकार बन जाता है, उन दोनो मे भेद कहाँ। 'निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार'[6] तथा 'चिदानदमय देह तुम्हारी, बिगत बिकार जान अधिकारी'[7] कहकर तुलसी ने उपनिषद् और तत्र को मिला दिया है एव राम के साकार रूप को मायाविशिष्ट नही माना है। अर्थात् राम के निर्गुण और सगुण दोनो रूपो को तात्त्विक दष्टि से सत्य बताया है। इस प्रकार तुलसी के राम ज्ञानियो के ब्रह्म और भक्तो के भगवान के अदभुत समन्वय है जो निशाचरो अन्यायियो

१ मानस १।११६।५,८
२ वि० प० १६६।१२
३ मानस १।२३।६७
४ कविता० ७।१२६।१२
५ मानस १।११६।२-३
६ वही १।१६२
७. वही २।१२७।५

को नष्ट कर दीनो का दुख हरने के लिए भक्तो को सुख देने के लिए मानव रूप धारण करते है।

तुलसी की मौलिकता उनकी इसी समन्वित दृष्टि मे है। 'नानापुराण निगमागमसम्मत' राम कथा लिखते समय उनकी मौलिकता उस मकडी की तरह नही हो सकती थी जो अपने ही पेट से जाला निकालती है। वह उस मधुकर की मौलिकता की तरह है जो विविध पुष्पो से सचित किये गये रस को मधु म बदल देता है। श्रीराम क चरित्राकन के सदभ मे उनकी मौलिकता उनके चरित्र की विशिष्ट रेखाओ को उभारने मे, कुछ खास पहलुओ पर बल देने म है। श्रीराम के गुणा का गान हजारो वर्षों से कविगण करते चले आ रहे थे। उनके बल, वीय, पराक्रम, प्रताप, सौंदर्य, ज्ञान, ऐश्वय, बुद्धि, धृति, धमज्ञता, सत्यनिष्ठा, नीतिमत्ता, प्रतिभा आदि सदगुणो की प्रशसा करते हुए ही नारदजी न वाल्मीकि को उनके चरित्र का अवलबन कर आदि काव्य लिखने की प्रेरणा दी थी। ऐसे 'सवगुणोपेत' चरित्र मे तुलसी ने वह विशेषता जोडी या यो कहिए कि उस विशेषता को सवप्रमुखता दी जिसकी व्याप्ति इन सभी गुणो मे है, जिसक कारण ये गुण और चमक उठे, और गमक उठे। तुलसी ने अपने से पूछा, क्या ये गुण साधारण दीनहीन जनो को सहज ही आकृष्ट करने मे, आश्वस्त करने मे समथ हैं ? और उन्हें लगा कि ये गुण श्रीराम के प्रभाव को महिमामडित तो करते हैं किंतु उन्ह साधारण जनों की पहुँच के बाहर भी रखते हैं। किस गरीब की हिम्मत है कि वह रावण विजेता, महाप्रतापी, चक्रवर्ती श्रीराम क निकट जा सके, अपन मन की बात उनसे कह सके। फिर राम धराधाम पर आये ही क्यो ? वे तो दीनो दुखियो के लिए, निबलो, गरीबो के लिए, पापियो, पतितो के लिए ही आये थे। यदि वे ही उनके रोबदाब से आतकित होकर दूर रह गय और श्रीराम तक केवल ऋषियो, मुनियो, ज्ञानियो, धर्मात्माओ, सबलो, श्रीमतो, सभासदो, सामतो की ही पैठ हो सकी तो उनके अवतार का उद्देश्य ही विफल हो जायेगा। तुलसी स्वय पीडित थे और उनका देश, उनका समाज भी पीडित था। तुलसी का दै य केवल वैयक्तिक भाव मात्र नहा था उसमे सामाजिक व्यथा भी समायी हुई थी। जो दीन, सब अगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ' थे, वे कैस भरोसा पायें, कैसे ग्लानिमुक्त हों, कैस जीवन का चरिताथ करें, यही तुलसी की प्रधान समस्या थी। दीन हीन, पतित, शक्ति समाज के प्रतिनिधि के रूप म तुलसी की उक्ति है

जो करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हौं आवौं।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को, सो बल मनहिं दिखावौं ॥[1]

श्रीराम के मृदुल स्वभाव और शील को सर्वोपरि महत्त्व देना ही तुलसी की वह अपूर्वता है जिसके चलते तुलसी में राम पूर्ववर्ती कवियो के द्वारा अंकित राम से भिन्न हो गये हैं। अपने मृदुल स्वभाव के कारण श्रीराम दुखियो के दुख दूर करने के लिए करुणा कातर हो उठते हैं, शरण मे आने पर पापी से पापी व्यक्ति को अपना बना लेते है, अमीरो की उपेक्षा कर गरीबो पर कृपा करते है। प्रभु का यह रूप उन सबको आशान्वित करता है, जीने का और आत्म विकास का आधार देता है, जो जमाने से पिटकर या अपनी गलतियां, भूलो से घबराकर निराश हो बैठे है। तुलसी को राम का बडप्पन धनुर्भंग, लंकाविजय या चक्रवर्तित्व मे उतना नही दिखता, जितना उनके इस रूप मे दिखता है। तभी उल्लसित स्वरो मे उन्होने कहा है, 'रघुबर रावरि यहै बडाई, निदरि गनी, आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई।'[2] उनकी महत्ता इसमे है कि वे अहल्या, केवट, शबरी आदि पर स्वयं जाकर भरपूर कृपा करते हैं और फिर भी उसे कम मानने के कारण सकुचित होते रहते हैं। अहल्या को शापमुक्त कर सदगति देने का गौरवबोध तुलसी के राम नही करते, इसी का पश्चात्ताप करते रहते हैं कि ऋषिपत्नी को चरण से छूने की विवशता थी, 'सिला साप संताप बिगत भई परसत पावन पाँउ, दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए पछिताउ'[3] कैसा शील स्वभाव था प्रभु राम का कि ब्रह्म की तुलना मे केवट मीत और वानर-बंधु कहे जाने पर वे अधिक हर्षित होते थे, 'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई, केवट मीत कहे सुख मानत, बानर बंधु बडाई।'[4] बडो का बडप्पन बडों से व्यवहार करने मे नहीं झलकता, छोटों से अपनापन निभाने मे निखरता है। 'तुलसी के श्रीराम' विधि हरि सभु नचावनि हारे' हैं वाल्मीकि उनकी वंदना करते हुए कहते है, 'तउ न जानहिं मरम तुम्हारा और तुम्हहिं को जाननिहारा'[5] किंतु 'मागी नाव न केवटु आना, कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना'[6] की प्रेमलपेटी अटपटी ढिठाई पर रीझने वाले

१ वि० प० १४२।१८ २०
२ वही १६५।१ २
३ वही १००।७ ८
४ वही १००।६ १०
५ मानस, २।१२७।२-३
६ वही २।१००।३

भी हैं। तभी तुलसी मुदित होकर कहते हैं, 'ठाकुर अतिहि बडो, सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंट्यो केवट उठि॥'[1] और शबरी के प्रसग म तो तुलसी ने हद कर दी है। राम के सिवाय कौन है इस दुनिया मे जो सच मुच दाता है। दानव हो या देव, अहीश हो या महीश या कोई और ही क्यो न हो, श्रीराम ही सबकी बाजी रखते है, सबके माध्यम से देकर उन्हें दानी बनाते हैं किंतु इतने बडे होने पर भी शबरी के बेर बिना खाये उनकी भूख नहीं मिटती। तुलसी की पक्तियाँ हैं

> दानव, देव, अहीस, महीस, महामुनि तापस सिद्ध समाजी।
> जग जाचक दानि दुतीय नहीं तुम ही सब की सब राखत बाजी।
> एते बडे तुलसीस तऊ सबरी के दिये बिनु भूख न भाजी।
> राम गरीबनेवाज[1] भये हो गरीबनेवाज, गरीबनेवाजी॥[2]

केवल इतना ही नहीं। उसके बाद श्रीराम की पहुनाई कहाँ, कहाँ नही हुई, माता कौशल्या ने भी उन्हे खिलाया, सासजी सुनयना ने भी उन्हे जिमाया, गुरुपत्नी अरुधती ने भी भोजन कराया, इष्टमित्रो, प्रिय स्वजनो की तो बात ही जाने दीजिए, किंतु तुलसी के श्रीराम को लगा कि जो स्वाद शबरी के बेरो म था, वह और कही नही मिला, 'घर, गुरगृह, प्रिय सदन, सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई, तब तहँ कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई।'[3] राम के शील के भरोसे ही तुलसी ने डरे हुओ, टूटे हुओ को अभय का मत्र देते हुए कहा था, 'तुलसी आस परिहरि प्रपच सब नाउ राम पद कमल माथ, जनि डरपहि तो से अनेक खल अपनाये जानकीनाथ।'[4] पतन का कोई गत इतना गहरा नही हो सकता जहाँ राम की करुणा न पहुँचती हो, कोई पाप इतना बडा नही हो सकता जो राम की कृपा से धुल न सकता हो, अत मत डरो, अपने समस्त प्रपचो को छोडकर शरणागत वत्सल राम की ओट गहो वे तुम्हारे जैसे अनेको पापियो को अपना चुके हैं। सच तो यह है कि गरीबो से नाता जोडनेवाले, ठुकराये हुओं को अपनानेवाले पतितो को पावन करनेवाले राम को जिस प्रकार तुलसी ने उजागर किया है, उस प्रकार उनके पहले या बाद किसी दूसरे ने नही किया। अत स्वाभाविक ही है कि जनता के इस सबसे बडे भाग के मम को जितना तुलसी ने छुआ, उतना और कोई नही छू सका।

१ वि० प० १३५।४।१ २
२ कविता० ७।४५
३ वि० प० १६४।७ ८
४ वही ८४।७ ८

भक्त की दृष्टि से ही नही कवि की दृष्टि से भी विचार करने पर यह लगेगा कि शील पर बल देने के कारण घटनाओ को बिना बदले तुलसी ने श्रीराम के चरित्र की रगत को किस खूबी के साथ बदल दिया है। वाल्मीकि रामायण के दो-तीन प्रसगो से तुलसी द्वारा चित्रित उन्ही प्रसगो की तुलना करने पर यह बात साफ हो जायेगी। वाल्मीकि के राम पिता की आज्ञा का पालन कर वन तो जाते है किन्तु उनके मन मे कैकेयी के प्रति क्षोभ और सदेह जागे बिना नही रहता। वे लक्ष्मण से कह उठते हैं, 'क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्याय-माचरेत्। परदद्याद्धि धर्मज्ञ गर ते मम मातरम।'[1] अर्थात् यह क्षुद्रकर्मा कैकेयी द्वेष के कारण और भी अन्याय कर सकती है, हे धर्मज्ञ लक्ष्मण तुम्हारी और मेरी माता को विष तक दे सकती है। यह ठीक है कि इतने बडे विपर्यय के कारण महापुरुषो का विक्षुब्ध हो उठना भी अस्वाभाविक नही कहा जा सकता किंतु यह भी ठीक है कि ऐसे वचनो से शील की हानि तो होती ही है। तुलसी के राम इस विपयय को 'अति लघु बात' मानते है और सहज भाव से कैकेयी से कहते हैं, 'सुनु जननी सोइ सुत बडभागी, जो पितुमातु वचन अनुरागी'[2] वन जाते समय ही नही, चित्रकूट मे भी और अयोध्या लौटकर भी राम का कैकेयी के प्रति अन्यथा भाव नही होता। यह सोचकर कि ककेयी अम्बा अपने आचरण के कारण लज्जित और सकुचित न हो, चित्रकूट मे श्रीराम उनसे सवप्रथम मिलते है और उन्हे आश्वस्त करते हुए काल, कम और विधाता को दोषी ठहराते हैं, 'प्रथम राम भेंटी कैकई, सरल सुभाय भगति मति भेई।', 'पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी, काल, करम बिधि सिर धरि खोरी।'[3] इसी तरह अयोध्या लौटने पर 'प्रभु जानी कैकेयी लजानी। प्रथम तासु गह गए भवानी॥', 'ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा।'[4] वाल्मीकि ने भी चित्रकूट मे कैकेयी के प्रति राम का औदाय दिखाया है किंतु तुलसी के राम के शील के साथ उसकी कोई बराबरी नही। तुलसी ने तो यहा तक लिख दिया, 'कैकेयी जौ लो जियति रही मानी राम अधिक जननी ते जननिहु गँस न गही।'[5] इसका अथ यही है कि तुलसी के राम किसी के मूल

१ वा० रा० २।५४।१८
२ मानस २।४१।७
३ वही २।२४४।७ ८
४ वही ७।१०।१-२
५ गीतावली ७।३७

करने पर दड नही, भूल सुधारने का अवसर देते थे और सुधर जाने पर उसे भूल के लिए लज्जित भी नहीं करते थे।

इसी तरह वाल्मीकि ने चित्रकूट मे पिता की आज्ञा के पालन मे श्रीराम की दृढता ही विशेष रूप से दिखाई है। राज्य स्वीकार क लिए भरत के बार बार आग्रह करने पर भी वाल्मीकि के राम दो टूक यही उत्तर देते हैं कि पिता के सत्य के पालन के लिए मैं १४ वष वनवास करू और तुम राज्य भोगो, यही हम लोगों का कत्त य है।[१] अभीष्ट तुलसी के राम को भी यही है किंतु वे भरत के स्नेह की अवमानना भी नही कर सकते। उनके शील की सबसे कठिन परीक्षा चित्रकूट मे ही हुई है। 'बडो नेम ते प्रेम' मानने वाले तुलसी ने साहस और सहृदयता का प्रमाण देते हुए यहाँ भी शुष्क नियम से शील को बडा दिखाया है। पिता के आदेश पालन के नियम को भरत के प्रेम पर निछावर करते हुए तुलसी के राम की मार्मिक उक्ति है, 'तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके। करौं काह असमजस जी के ।।' राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी ।। तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू ।। ता पर गुर मोहि आयसु दी हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ की हा ।। मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु। सत्यसघ रघुबर बचन, सुनिभा सुखी समाजु ।।'[२] अपने मन के असमजस को प्रकट करते हुए भरत को निणय का पूरा अधिकार दे देना, भरत के प्रति कितना गहरा विश्वास एव अपना प्रेम-पारतत्र्य अभिव्यक्त करना है, इसे सहृदय ही समझ सकते है। मानस के चित्रकूट प्रसग के कारण श्रीराम और भरत के चरित्र की दीप्ति न जाने कितनी बढ गयी है। परिणाम एक जसा होते हुए भी मानस का चित्रकूट प्रसग कहीं अधिक मानवीयता और मनोवैज्ञानिक गहराई लिये हुए है।

लका विजय के बाद वाल्मीकि क राम सीता के साथ जिस प्रकार परुष भाषण करते हैं, उस प्रकार तो तुलसी के राम रावण के साथ भी नही करते। विश्वास ही नहीं होता कि श्रीराम सीता से कह सके थे कि 'मैंने मित्रो के बल *की सहायता से रण में जो दारुण पराक्रम किया था, वह तुम्हारे लिए नहीं अपने* अपवाद को दूर करने के लिए, अपने प्रसिद्ध वश की मर्यादा की रक्षा के लिए किया था। तुम्हारे चरित्र पर सदेह होने के कारण तुम्हे देखकर तो मुझे नेत्र रोगी को दीपशिखा दखने के समान ही कष्ट हो रहा है। अतएव मेरी आज्ञा है

१ वा० रा० ३।१०७।७ ६
२ मानस २।२६४।५ ८

कि दसो दिशाओं में तुम जहाँ जाना चाहो, चली जाओ, मुझे तुमसे अब कोई प्रयोजन नहीं ! तुम जिस किसी दूसरे को चाहो, स्वीकार कर लो ।'[1] आदि-आदि ।

तुलसी न तो परंपरागत रामकथा से सीता की अग्निपरीक्षा को बाद दे सकते थे, न श्रीराम से सीता के लिए इस प्रकार के कठोर वाक्य कहला सकते थे । अत उन्होंने कल्पना की कि राक्षसों के वध में प्रवृत्त होने के पूर्व श्रीराम ने सीता जी से कहा था, 'तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा, जौ लगि करौं निसाचर नासा ।' 'तदनुकूल प्रभु पद धरि हिय अनल समानी । निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता, तैसइ सील रूप सुबिनीता ।'[2] लंकाविजय के बाद प्रभु के परुष भाषण के साथ इस प्रसग को जोडते हुए तुलसी ने इतना ही लिखा, 'सीता प्रथम अनल महुँ राखी, प्रगट कीन्हि चह अतर साखी ।। तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद ।' [3] वाल्मीकि के राम के कठोर वाग्बाणों को तुलसी ने 'कछुक दुर्बाद' में ही समेट लिया है और उनके लिए भी एक युक्ति दी है, जो भले ही आज के विचारकों को अतिप्राकृत लगे, किंतु उससे राम की शील हानि का यथासंभव परिहार करने का प्रयास उन्होंने किया है ।

अपने प्रभु के शील की महिमा को एक अन्य कठिन परिस्थिति में भी तुलसी ने दिखाया है । मेघनाद से युद्ध करते समय जब 'लखनलाल' घायल होकर गिरे तो राम बिलख उठे, उनके हृदय की आशा शिथिल हो गयी । लक्ष्मण के न बचने पर अपना शरीर भी छोड देने का निश्चय कर लेने पर जो विचार उन्हें सबसे ज्यादा व्यथित कर रहा था, वह निरवलंब कौशल्या अम्बा के प्रति मोह या भगवती सीता के प्रति 'छोह' नहीं था । वे यही सोच सोचकर दुखी हो रहे थे कि मैं शरणागत विभीषण की कोई व्यवस्था नहीं कर सका, 'माई को न मोह, छोह सीय को न, तुलसीस कहैं मैं विभीषण की कछु न सबील की । लाज बाँह बोले की, नेवाजे की सँभार सार साहेब न राम से, बलैया लेउँ सील की ।'[4]

मेरा विश्वास है कि अग्निपरीक्षा के बाद भी लोकापवाद के भय से सीता का परित्याग तुलसीदास का राम के शील के विरुद्ध लगा होगा । अत उन्होंने

१ वा० रा० ६।११५।१५-२४
२ मानस ३।२४।१-४
३ वही ६।१०८
४ कविता० ६।५२

मानस म उसे बाद ही दे दिया। इसी तरह शूद्र होने के कारण शम्बूक तपस्या नहीं कर सकता और करने पर श्रीराम को उसका सिर ही काटना पडेगा, यह बात भी तुलसी के गले के नीचे नही उतरी होगी। उनके राम तो केवल ऊँची जातिवालो के नहीं थे, वे तो सबके थे उनका तो बाना था, 'भगतिवत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्र नप्रिय असि मम बानी'[1] फिर वे तपस्यारत शूद्र का बध क्यो करने लगे? मानस मे शम्बूक बध को भी इसीलिए स्थान नही मिला।

श्रीराम के निरूपण मे तुलसी की दूसरी बडी विशेषता मैं यह मानता हूँ कि उन्होंने राम के सगुण साकार दशरथ नदन रूप के प्रति अपनी प्रबल आस्था व्यक्त करते हुए भी उनके अन्य रूपो का निषेध नही किया। भक्त अपनी श्रद्धा के अनुसार उनके निर्गुण निराकार रूप को या उनके अन्य किसी रूप को भी भज सकता है। मानस में भी मदोदरी ने रावण को समझाते समय 'बिस्व रूप रघुबसमनि करहु बचन बिस्वासु' कहकर श्रीराम के विश्वरूप का बडा प्रभावोत्पादक वणन किया है।[2] तुलसीदास यह भी नही मानते थे कि केवल मूर्तिपूजा के द्वारा ही रामभक्ति हो सकती है। उन्होने श्रीराम से हनुमान को उपदेश दिलाते हुए कहलाया है कि मेरा अनन्य सेवक वही है जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नही डिगती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर जगत मेरे स्वामी का व्यक्त रूप है। 'सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत।'[3] इसी तरह तुलसीदास सेवक-सेव्यभाव पर बल देते थे किंतु यह भी मानते थे कि राम से बहुत से रूपो म जुडा जा सकता है। राम किसी को किसी नाते अपना लें, या कोई किसी भी नाते से राम का हो जाय, मगल ही मगल है। 'ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर हौं चेरो। तात, मात गुरसखा तू सब बिधिहितु मेरो॥ तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै। ज्यो त्यो तुलसी कृपालु, चरन सरन पावै।'[4] अपने इष्ट रूप और भाव के प्रति सुदृढ विश्वास के बावजूद अन्यो को अपनी प्रकृति के अनुरूप राम को भजने की खुली छूट देना, तुलसी को असांप्रदायिक बनाता है जो मध्ययुग की साप्रदायिक सकीर्णता मे बहुत विलक्षण बात है।

अपने मलिन मानस मुकुर मे पडने वाले तुलसी के राम के धुधले प्रतिबिंब

१ मानस ७।८६।१०
२ वही ६।१५
३ वही ४।३
४ विनय पत्रिका ७६।५ ८

को दष्टिमदता के कारण अब तक मैं स्वय ठीक-ठीक नहीं देख पाया हूँ । तुलसी ने यह पक्ति मेरे जैसो के लिए ही लिखी थी, 'मुकुर मलिन अरु नयन-बिहीना, देखहि राम रूप किमि दीना,'[1] तो दूसरो के निकट उसे कैसे स्पष्ट कर सकता हूँ । फिर भी 'निजगिरा पावनकरन कारन' किये गये इस प्रयास के पीछे प्रेरणा यही रही है कि तुलसी के 'निरूपम न उपमा आन राम समान रामु' की कुछ झलक जनसामान्य को दिखा सकू ।

१ मानस १।११५।४

करने लगे थे। इस एकांगदर्शिता से सामाजिक समग्रता को क्षति पहुँच रही थी। इसी पृष्ठभूमि मे तुलसी का उदय हुआ था।

तुलसी ने इस परिस्थिति को पहचाना था। राम का नाम उनका भी सबसे बडा सबल था किंतु वे राम के काम को भी नही भूले थे। मध्यकालीन भक्तो मे उनके सदृश बहुत कम विचारक थे जिन्होने राम के नाम और काम दोनो पर जोर दिया हो। इसका सवप्रधान कारण उनका यह विश्वास था कि 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि'[१] जहाँ ज्ञान, योग एव शात भाव की साधनाओ मे निर्वैयक्तिकता पर बल दिया जाता है वही सख्य, वात्सल्य एव माधुय भाव की साधनाएँ बहुत अधिक वैयक्तिक हैं। इन दोनो स्थितियो मे जगत को प्राय विस्मृत कर दिया जाता है। दाशनिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या या सत्य मानना अलग बात है, व्यावहारिक दृष्टि से उसकी उपेक्षा ज्ञानियो और वैयक्तिक साधना पर बल देने वाले भक्तो ने समान रूप से की है। तुलसीदास ने तात्त्विक दृष्टि स जगत को सत्य माना था या मिथ्या, इस पर विवाद हो सकता है किंतु यह निर्विवाद सत्य है कि वे जगत को 'सीयराम मय' मानते थे। फलत व्यवहार मे वे उसकी सेवा करना अपना धम समझते थे। इसीलिए उन्होने श्रीराम से कहलाया था कि मुझे सेवक प्रिय हैं और उनमे भी अनन्यगति सेवक। अपने अनन्य सेवक का लक्षण बताते हुए तुलसी के राम कहते हैं

> सो अनन्य जाके अस मति न टरइ हनुमत।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत॥[२]

अर्थात जो दृढतापूवक इस चराचर जगत को प्रभु का व्यक्त रूप मानकर इसकी सेवा मे रत रहता है वही (श्रीराम का) अनन्य भक्त है। सेव्य के रूप मे समस्त व्यक्त जगत रूपी राम को स्वीकारने का अथ ही है कमठतापूवक 'हेतु रहित परहित निरत' रहना। यह व्याख्या श्रीराम ने ही की है। जटायु ने तो राम के *लिए ही प्राण दिये थे किंतु प्रभु ने उसकी सराहना करते हुए कहा था,* 'परहित बस जिन्हके मन माही, तिन्ह कहुँ जग दुलभ कछु नाही।'[३] इसका सीधा सादा अथ यही है कि तुलसी ने श्रीराम के सगुण साकार अवतारी रूप को स्वीकार करते हुए भी उन्हें इतिहास और भूगोल से नही बाँधा है। 'देस, काल, दिसि

१ मानस ७।११६क
२ वही ४।३
३ वही ३।३१।६

बिदिसहु माही, कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाही।'[1] कहने वाले तुलसीदास की मान्यता है कि राम की सेवा अर्थात् राम का काम करने का अवसर 'सबहि सुलभ सब दिन, सब देसा'। फिर भी यह सच है कि कोई विरला भाग्यवान ही राम का काम कर पाता है अधिकतर लोग तो राम के काम का बहाना करके रावण का ही काम करते रहते हैं क्योंकि उनके हृदय मे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह का अधेरा छाया रहता है। इसीलिए, तुलसी केवल कम पर जोर नहीं देते, बाहर-भीतर उजाला करने वाले राम नाम के जप पर भी जोर देते हैं

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जो चाहसि उजिआर ॥[2]

इसका अथ यही है कि तुलसीदास के लिए कर्म चेतना स्वतत्र न होकर भक्ति का अनिवाय अग है। कम विपथगामी न हो जाये इसके लिए आवश्यक है कि वह भक्ति द्वारा (जिसका आधार नाम जप है)[3] अनुशासित हो और भक्ति नितात वैयक्तिक भावसाधना (जिसकी विकृति बहुत आसान है) के कारण निष्क्रिय न हो जाये इसके लिए उसे चराचर जगत् के रूप मे अभिव्यक्त प्रभु की सेवा मे नियोजित कर दिया जाये यही तुलसीदास का अभिप्राय ज्ञात होता है।

तुलसी ने राम नाम की अमित महिमा का बार बार गान किया है, केवल मानस म ही नहीं, अपनी समस्त कृतियो मे। मानस क बालकाड मे नामवदना के दोहो मे उन्होंने भाव भरी युक्तियो से सिद्ध किया है कि राम का नाम उनके निर्गुण सगुण दोनो रूपो से श्रेष्ठ है। प्रभु के ये दोनो रूप 'अगम' हैं किंतु नाम जप से दोनो सुगम हो जाते हैं अत स्पष्ट है कि नाम ने इन दोनो को अपने बलबूते से अपने वश म कर रखा है। सच्चिदानद ब्रह्म तो सभी जीवो के हृदय मे विद्यमान हैं, फिर भी जग के सभी जीव दीन दु खी हैं। नाम के निरूपण एव नाम के यत्न से या यो कहे नाम के अथ पर मनन करते हुए उसके निरतर जप से अत स्थित ब्रह्म प्रत्यक्ष होकर जीव के दु ख-कष्ट दूर कर उसे उसी प्रकार परमानदमय बना देते हैं जिस प्रकार रत्न से उसका मूल्य प्रकट होकर व्यक्ति के अभावो को दूर कर उसे इच्छित वस्तुएँ प्रदान करने मे समथ है। प्रभु श्रीराम ने अवतार ग्रहण कर ताडका, खरदूषण, कुभकण, रावण आदि कुछ निशाचरों का वध किया और अहल्या, शबरी, गीध, सुग्रीव,

१ मानस १।१८५।६
२ वही १।२१
३ वही १।२२।६

विभीषण आदि कुछ भक्तो को निवाजा किंतु उनके नाम ने तो कलि के समस्त कलुषो को नष्ट कर असंख्य भक्तो को निवाजा है । घोर कलिकाल मे तो राम का नाम ही एकमात्र कल्पवृक्ष है । अत तुलसीदास का निष्कर्ष है

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलंबन एकू ।।[1]

तुलसी ने राम नाम की ओट लेते समय विनयपूर्वक यह कहकर कि कलि मे कर्म, भक्ति और विवेक (ज्ञान) रह ही नही जाते अत एकमात्र राम का नाम ही अवलंब है, उन साधनो का न तिरस्कार किया है, न निषेध । वे जानते हैं कि जैसे भूमि मे ही सब बीज अंकुरित हो सकते हैं, आकाश मे ही सब नक्षत्रो का निवास है वैसे ही राम नाम समस्त धर्मों का आकर है

जथा भूमि सब बीज मै, नखत निवास अकास ।
रामनाम सब धरम मै जानत तुलसीदास ।।[2]

अत वे निश्चित हैं कि रामनाम ही जापक के अंत करण मे समयोचित आवश्यक धर्मों की प्रेरणा देता रहेगा ।

इसमे संदेह नही कि श्रद्धासहित नामजप करते रहनेवाले भक्त के मन मे उस मनोवैज्ञानिक रक्षाकवच के प्रभाव से अद्भुत सात्त्विक गुणो का उत्कर्ष होता है और वह क्रमश नामी के गुण, कर्म, शील, स्वभाव की ओर आकृष्ट होता जाता है, जिसके फलस्वरूप वह पहले से अच्छा मनुष्य बनता है । फिर भी रामनाम की इस महिमा को आधुनिक विचारक अपने-अपने संस्कारो के अनुरूप स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं । प्रश्न अभी उसकी सत्यता या असत्यता का नहीं है, वह अलग विचार्य विषय हो सकता है । अभी प्रश्न तो यह है कि मध्यकाल के अन्य संतो भक्तो की तरह नाम महिमा का गान करने के बाद तुलसी भी क्या उन्ही की तरह केवल निर्वैयक्तिक या अतिशय वैयक्तिक साधनाओ मे लीन हो गये ? रामनाम नीव सही, उस पर उन्होंने अपनी साधना का भवन कैसा उठाया ? यही अपनी समाजो मुखी वैयक्तिक साधना के कारण तुलसी अन्य संतो, भक्तो से पृथक हो जाते है । उसका एक प्रमाण यह भी है कि उन्होंने राम के नाम पर जितना बल दिया है, राम के काम पर भी उतना ही बल दिया है । उनका आदर्श भक्त चरित्र एकात मे साधना ही नही करते, राम का काम सिद्ध हो, इसके साधन भी बनते हैं ।

तुलसी ने राम के काम पर कितना जोर दिया है, यह इन उद्धरणो से

१ मानस १।२७।७
२ दोहावली २६

स्पष्ट हो जायेगा। निषादराज को जब यह लगता है कि भरत सभवत श्रीराम पर आक्रमण करने की योजना बनाकर चित्रकूट जा रहे हैं तब वे राम के काम आने की भावना से भरत से युद्ध कर मृत्यु तक का वरण करने के लिए तैयार होकर कह उठते ह, 'समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा, रामकाजु छनभगु सरीरा।'[१] सुग्रीव सीता की खोज के लिए वानरो को भेजते समय 'रामकाजु अरु मोर निहोरा'[२] कह कर उत्साहित करते हैं। किसी भी सत्काय के लिए दूसरे को प्रवृत्त करते समय हिंदीभाषी जन इस कथन को आज लोकोक्ति की तरह व्यवहृत करते हैं। श्रीराम के काय के लिए शरीर-त्याग करनेवाले जन तुलसी की दृष्टि म अनन्य रूप से धन्य, बडभागी और हरिपुर के अधिकारी हैं, तभी उन्होंने अगद से कहलवाया था, 'कह अगद बिचारि मन माही, धन्य जटायू सम कोउ नाही, राम काज कारन तनु त्यागी, हरिपुर गयउ परम बड भागी।'[३] हनुमान को सागर लाघन के लिए अभिप्रेरित करते हुए जामवत ने कहा था, 'राम काज लगि तव अवतारा।'[४] प्रभु का काय सपन्न किये बिना सच्चे प्रभु-भक्त विश्राम कैसे कर सकते हैं? हनुमान की यह उक्ति उनकी भावना की निश्छल अभिव्यक्ति है 'राम काजु कीन्ह बिनु मोहि कहा विश्राम।'[५] राम का काय जिससे सधे भक्त वही करता है व्यक्तिगत मान अपमान का विचार उस नही रहता। हनुमान मेघनाद के हाथो बदी बनकर रावण की सभा मे इसीलिए उपस्थित हुए थ कि शायद उनके समझाने से रावण को सदबुद्धि आ जाये। उन्होंने द्विधाहीन शब्दो मे कहा था, 'मोहि न कछु बाधे कर लाजा, कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा।'[६] काय सिद्ध होने पर भक्त उसका श्रेय स्वय नही लेता, प्रभु की कृपा को देता है और साधन बन पाने के कारण अपने जन्म को सफल मानता है। उसकी मान्यता है 'प्रभु की कृपा भयउ सबु काजू, जन्म हमार सुफल भा आजू।'[७] राम के काम आ जाना ही भक्त के जीवन की चरितार्थता है, इसे तुलसी ने लक्ष्मण को शक्तिबाण लगने क प्रसग के

१ मानस २।१९०।३
२ वही ४।२२।६
३ वही ४।२७।७ ८
४ वही ४।३०।६
५ वही ५।१
६ वही ५।२१।६
७ वही ५।३०।४

माध्यम से गीतावली में बहुत खूबी से उभारा है। हनुमान से लक्ष्मण के घायल होने का संवाद सुनकर सुमित्रा माता की जो मन स्थिति हुई उसे तुलसी ने इन शब्दों में अंकित किया है

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभट सो लोहे ललकारि लरे हैं।।
सुवन सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन-छिन गात सुखात छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं।।[1]

स्वामी राम के लिए प्रतिपक्षी सुभट से संग्राम में ललकार कर भिड़ने और लोहा लेने के कारण लक्ष्मण गंभीर रूप से घायल हो गये हैं, यह सुनकर सुमित्रा माता को शोक और संतोष दोनों हुए। पुत्र मुमूर्षु है, जब यह विचार मन में आता तो उनका शरीर सूख जाता किंतु जब उनके मन में यह भाव आता कि प्राणों को संकट में डालकर आज लक्ष्मण राम की भक्ति में खरा सिद्ध हुआ तो उनका शरीर उल्लसित हो हरा हो उठता। इसी पद में तुलसी ने सुमित्रा माता से शत्रुघ्न को यह आज्ञा दिलाई है कि अब वे जाकर लक्ष्मण का स्थान लें। सुमित्रा माता के दिव्य चरित्र का किंचित आभास दे पाने के कारण यह पद तो महिम्न है ही, इस दृष्टि से भी मैं इसका महत्त्व मानता हूँ कि इससे यह बिलकुल साफ हो जाता है कि लक्ष्मण की तरह श्रीराम के कार्य के लिए प्राणों को संकट में डालनेवालों के लिए ही यह कहा जा सकता है कि वे रघुपति भगति बरे हैं।'

प्रश्न उठ सकता है कि मानस के अनुसार क्या है राम का काम और आज का मनुष्य उसे कैसे संपन्न कर सकता है? यह स्मरण रखना चाहिए कि मानस जीवन के प्रति एक विशिष्ट मूलभूत दृष्टि निरूपित करने वाला काव्यग्रंथ है, किसी सरकार या राजनीतिक दल के कार्यक्रम को शब्दबद्ध करने वाला दस्तावेज नहीं। कार्यक्रम बदली हुई परिस्थितियों में बदले जा सकते हैं या पुराने पड़ जा सकते हैं। मानस की दृष्टि धर्मपरायण (अर्थात कर्तव्य-परायण) मर्यादावादी (अर्थात् सामाजिक चेतना संपन्न) आस्तिक (अर्थात् सत्‌चित् और आनंद के चरम मूल्यों के प्रति आस्थायुक्त) दास्य भाव के भक्त (अर्थात चराचर जगत् रूपी प्रभु की परम प्रेमपूर्वक सेवा करने वाले अनन्य सेवक) की दृष्टि है, जिसका लक्ष्य है ऐसे विषमता रहित समाज की सृष्टि करना जिसमें सब सुंदर हों, सब नीरोग हों, सब निर्दंभ और धर्मरत हों, चतुर

१ गीतावली ६।१३।१-४

और गुणी हो, गुणज्ञ और पडित हा, ज्ञानी और कृतज्ञ हो, जिसमे कोई भी दरिद्र दु खी दीन न हो, अबुध, लक्षणहीन और कपटी न हो। इसीलिए यह मानते हुए कि राम के जन्म के अनकानक हेतु हो सकते हैं तुलसी ने गीतोक्त हेतुओ को दुहराते हुए कहा है कि जब जब धम की हानि होती है, अभिमानी, अधम, असुर अवर्णनीय अनीति करने लगते है, विप्र, धेनु, देवता और धरती को कष्ट दन लगते हैं, तव-तब प्रभु विविध शरीर धारण कर सज्जनो की पीडा हरते हैं, असुरो को मारकर देवताओ और श्रुतिया की मर्यादा की रक्षा करते हैं। यह ठीक है कि वैयक्तिक साधना पर बल देने वाले आचार्यों की यह स्थापना भी उन्हें स्वीकार है कि भक्तो के साथ लीला करने के लिए, उन्हे सुख देने के लिए प्रभु अवतार ग्रहण करते हैं पर सामाजिक मगल विधान को भी वे अवतार के प्रमुख कारणो मे से एक मानते हैं। इसीलिए निशाचरो द्वारा भक्षित ऋषियों की अस्थियो का समूह देखकर करुणार्द्र हो उनके राम भुजा उठाकर अपना यह वज्र सकल्प घोषित करते हैं कि मैं पृथ्वी को निशाचर विहीन कर दूगा, 'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'[1] इस सदभ मे यह भी स्मरणीय है कि निशाचर से तुलसी का अभिप्राय काल्पनिक योनिविशेष से न होकर समाज के अत्याचारी व्यक्तिया से था। तुलसी ने बहुत स्पष्ट शब्दों मे लिखा है

> बरनि न जाई अनीति, घोर निशाचर जो करहिं।
> हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह क पापहि कवन मिति॥
> बाढे खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट पर धन पर दारा॥
> मानहिं मातु पिता नहि देवा। साधुन्ह सन करवावहि सेवा॥
> जिनके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥[2]

ऐसे निशाचरी अन्याय का प्रतिरोध कर रामराज्य (सामाजिक न्याय पर आधारित राज्य) की स्थापना क कार्य स जो जुडता है वह किसी भी देश या किसी भी काल म क्यो न हा, राम का काम करता है। राम का काम केवल ध्वस-मूलक नही है, इसे बराबर याद रखना चाहिए। अन्याय के विध्वस के साथ-साथ व्यक्ति और समाज दोनो क आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्तरा पर उन्नयन का काम भी राम का काम है। मेघनाद स युद्ध करते हुए लक्ष्मण भी राम का काम कर रहे थे और अयोध्या मे बैठे न्याययुक्त राज्य-

१ मानस ३।९
२ वही १।१८३ १८४।१ ३

सचालन कर भरत भी राम का ही काम कर रहे थे । कभी कभी मन मे यह भावना जागती है कि लका के मोर्चे पर लडनेवाले ही राम के सच्चे सेवक थे । औरो की वात तो जाने दीजिए, लक्ष्मण के घायल होने का समाचार पाकर स्वय भरत ने यह परिताप व्यक्त किया था, 'अहह दैव मैं कत जग जायउँ, प्रभु के एकहु काज न आयउँ,'[1] इस भावपूण उक्ति का यह अथ नही है कि भरत प्रभु के किसी काम नही आये थे । यह तो प्रभु के अधिकाधिक काम मे आने की लालसा की अभिव्यक्ति मात्र है । कुछ लोग अपने भोलेपन के कारण पूछ बैठते हैं कि भरत के मन मे यदि इतना ही परिताप था तो वे तत्काल युद्ध मे भाग लेने के लिए लका चले क्यो नही गये ? वे भरत रघुबर के 'अगम सनेह' को नही जानने के कारण ही ऐसा कहते हैं । 'सबतें सेवक धरमु कठोरा'[2] माननेवाले भरत उस समय भी 'अग्यासम न सुसाहिब सेवा'[3] के सिद्धात का पालन करने के कारण ही अयोध्या मे अपने कर्त्तव्य पर अडिग रहे । तुलसीदास ने गीतावली मे इस प्रसग मे भरत के अतर्द्वंद्व का मार्मिक चित्रण इस प्रकार किया है

> आयसु इतहि स्वामि सकट उत, परत न कछू कियो है ।
> तुलसिदास बिहर्यो अकास सो कैसे के जात सियो है ।।[4]

भरत ऊहापोह मे पडे सोच रहे हैं कि इधर स्वामी की आज्ञा है १४ वर्षों तक अयोध्या मे रहकर राज्य सचालन करने की, उधर स्वय स्वामी सकटग्रस्त हैं, कुछ करते नही बनता, मानो आकाश फट गया हो, वह कैसे सिया जाये ! फिर भी, अपनी भावनाओ पर पत्थर रखकर भी वे आज्ञापालन मे ही रत रहते हैं, युद्ध के मोर्चे पर नही चढ दौडते । उनके इस सूक्ष्म कत्तव्य ज्ञान को समझकर ही हनुमान की यह दशा हो गयी थी, 'धनि भरत ! धनि भरत ! करत भयो मगन मौन रहयो मन अनुराग रयो है ।'[5] भरत अपने इस आचरण से यही दर्शाते हैं कि महत् काय की सिद्धि उस काय मे रत व्यक्तियो द्वारा उसके बडे छोटे, आकपण अनाकपण सभी अगो को महत्त्व देकर गुरुजनो द्वारा प्रदत्त, सहज प्राप्त या स्वय स्वीकृत कार्यांश को अनुशासनपूवक करते रहने से ही हो

१ मानस ६।६०।३
२ वही २।२०३।७
३ वही २।३०१।४
४ गीतावली ६।१०।७-८
५ वही ६।११।८

निषेधमय कर्म की कथा को यमुना बताकर उसे ही कलिकाल का मल दूर करने मे समर्थ बताया था।[1] इसी प्रकार 'सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग'[2] कहकर तुलसीदास ने गृहस्थो को तो अनिवार्यत कर्म करते रहने का अर्थात श्रीराम के अनुकूल कर्म करते रहने का निर्देश दिया है।

तुलसी के उपास्य श्रीराम स्वय सैकडो सकट झेलकर भी अपने कठिन कर्त्तव्य कर्म का निर्वाह करते रहे। तुलसीदास ने बहुत उत्साह के साथ उनके दिव्य कर्मों का—मर्यादापूर्ण चरित का गुणगान किया है और बार-बार उनकी इस महिमा की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। राजतिलक के बाद वदना करते हुए चारो वेदो के माध्यम से तुलसी ने दडकारण्य के कटको से छिदे श्रीराम के चरण युगल का भजन करने की प्रेरणा दी है।

ध्वज, कुलिस, अकुस, कजजुत बन फिरत कटक किन लहे।
पद कज द्वद मुकुद राम रमेस नित्य भजामहे।[3]

श्रीराम के चरण अपने कर्त्तव्य कर्म की पूर्ति मे काँटो से छिदें और उनके भक्त निष्क्रिय रहें, यह कैसे सभव है। कर्मरत उपास्य की यह बाँकी छवि भक्तो को भी राम के काम के लिए केवल पैरो म नही, रोम रोम मे काटे छिद जायँ तो भी कर्त्तव्य पथ पर बढते जाने के लिए अभिप्रेरित करती रहेगी। इसी स्तुति मे वेदो ने यदि एक ओर 'जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भवनाथ सो समरामहे' कहकर नामजप के महत्त्व को स्वीकारा है तो 'मन, बचन, कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागही' कहकर मन वाणी और कर्म की एकता एव निर्विकारता पर भी जोर दिया है। तुलसीदास ने यदि विनयपत्रिका मे कहा है।

प्रिय रामनाम तें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि मध्य परिनामो।[4]

तो गीतावली में यह भी कहा है

१ मुद मगल मय सत समाजू, जो जग जगम तीरथ राजू।
राम भक्ति जहँ सुरसरिधारा, सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा।
विधिनिषेधमय कलिमल हरनी, करम कथा रविनदनि बरनी॥
मानस १।२।७-६

२ मानस २।१७२

३ मानस ६।१३।४।३ ४

४ विनय पत्रिका २२८।१२

दीन'[1] अर्थात भने ही कर्ममार्गी कठमलिया (तुलसी की माला फेरनेवाला) और ज्ञानी ज्ञान विहीन कहते रहे 'तुलसी तो कम, ज्ञान और उपासना इन तीनो पथो को छोड कर राम द्वार पर दीन भाव से जा खडा हुआ है, आखिर क्यो ?'

इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास करने से पहले दैन्य के सबध मे कुछ विवेचना कर लेना आवश्यक है। दैन्य (दीन का भाव या दीनता) का कोशगत अथ है, 'निधनता, गरीबी, शोक, उदासी, निबलता, कमीनापन'।[2] साहित्य में सचारी भाव के रूप मे इसका लक्षण यह बताया गया है, "दु खदारिद्रया पराधादिजनित स्वापकपभापणादिहतुश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यम", दैन्य मन की उस दशा का नाम है जो दु ख, दरिद्रता या किसी भारी अपराध करने के कारण उत्पन्न होती है और जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य अपनी दीनता, निकृष्टता या अकिंचित्करता का कथन आदि करने लगता है।"[3] साहित्य दपण के दौगत्याद्यैरनोजस्य दैन्य मलिनतादिकृत्' (३।१४५) के अनुसार दुगति आदि से उत्पन्न ओजस्विता से अभाव को दैन्य कहते हैं, जिससे मलिनता आदि उत्पन्न होती है। दैन्य का अथ परिधि का विस्तार व्यावहारिक एव साहित्यिक क्षेत्रो को लाँघकर साधना के क्षेत्र मे भी जा पहुँचा है। शरणागति के छह अगो मे छठा अग कापण्य या दैन्य बताया गया है। अनुकूलता का सकल्प, प्रतिकूलता का वजन, रक्षा का विश्वास, गोप्ता (रक्षक) के रूप मे वरण, आत्मनिक्षेप (आत्मसमपण) के साथ ही साथ कापण्य या दैन्य के द्वारा ही शरणागति की पूणता होती है। वैष्णव शास्त्र में कापण्य या दैन्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा गया है

त्यागो गवस्य कापण्य श्रुतशीलादिजन्मन ।
अगसामग्र्यसम्पत्तेरशक्तेरपि कमणाम् ॥
अधिकारस्य चासिद्धेर्देशकालगुणक्षयात ।
उपाया नैव सिद्ध्यन्ति ह्यपाया बहुलास्तथा ॥
इति या गवहानिस्तद्दैन्य कापण्यमुच्यते ।[4]

१ दोहावली ९९

२ सस्कृत शब्दाथ कौस्तुभ, पृ० ५३८

३ साहित्य दपण की प० शालिग्राम शास्त्रीकृत विमला टीका, द्वि० स० परिशिष्ट, पृ० ३

४ लक्ष्मीतत्रम् १७।६८ ७०

अर्थात् मान, शील आदि से उत्पन्न गर्व का त्याग कार्पण्य है। (भगवत् प्राप्ति के लिए साधनभूत) अंग सामग्री की असंपत्ति (असंपन्नता), (तदनुकूल) कर्म की अशक्ति (असमर्थता), अधिकार की असिद्धि एवं (उपयुक्त) देश, काल, गुण के क्षय के कारण उपाय तो सिद्ध होते ही नहीं, उल्टे बहुत से अपाय (अनिष्ट, भय) आ जाते हैं, ऐसे अनुभवों के कारण जो गर्व हानि होती है, उसे दैन्य अथवा कार्पण्य कहते हैं।

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति साधना के अंगभूत दैन्य को भक्त के 'लघुत्व की अनुभूति' मानकर उसका मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए लिखा है, "प्रभु के महत्त्व के सामने होते ही भक्त के हृदय में अपने लघुत्व का अनुभव होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में आनंद आता है उसी प्रकार अपना लघुत्व-वर्णन करने में भी। प्रभु की अनंत शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का, उसकी दीन दशा का बहुत साफ चित्र दिखाई पड़ता है और वह अपने ऐसा दीन हीन संसार में किसी को नहीं देखता। प्रभु के अनंत शील और पवित्रता के सामने उसे अपने में दोष ही दोष और पाप ही पाप दिखाई पड़ने लगते हैं। इसी दृश्य के क्षोभ से आत्मशुद्धि का आयोजन आप से आप होता है। इस अवस्था को प्राप्त भक्त अपने दोषों, पापों और त्रुटियों को अत्यंत अधिक परिमाण में देखता है और उनका जी खोलकर वर्णन करने में बहुत कुछ संतोष लाभ करता है।"[1]

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस दैन्य की भर्त्सना की जाती है वह भौतिक दुःख के प्राप्त होने पर आत्म गौरव को त्याग कर सामान्य जनों के समक्ष दीन होने का भाव है जबकि साधना के स्तर पर प्रभु के समक्ष दैन्य-निवेदन भक्तों की दृष्टि में परम प्रशंसनीय एवं विधेय है।

तुलसीदास के दैन्य भाव का विश्लेषण विवेचन करने के पहले दैन्य के संबंध में उनकी दृष्टि पर कुछ विचार कर लेना लाभदायक होगा। तुलसीदास दैन्य को जीव का सहज धर्म नहीं मानते, आगन्तुक धर्म मानते हैं। जीव स्वरूपतः तो ईश्वर अंश जीव अविनासी, चेतन, अमल, सहज सुखरासी'[2] है किंतु माया के अधीन हो जाने पर जड़ और चेतन की झूठी गाँठ पड़ जाने पर जीव संसारी होता है और साथ ही साथ दुःखी भी। तुलसी ने बड़ी पीड़ा के साथ यह अनुभव किया कि हृदय में सत् चेतन, घन आनंद राशि प्रभु के रहते

१ विनय पत्रिका की हरितोषिणी टीका (द्वि० सं०) का परिचय, पृ० ११
२ मानस ७।११७।२

हुए भी 'सकल जीव जग दीन दुखारी'[1] हैं। सासारिक स्तर पर दैन्य किसी का काम्य नही होता, किंतु वह किसी को छोडता भी नही। काम, क्रोध, लोभ आदि से ग्रस्त जीव सकट आने पर दीन हो ही जाता है। औरो की बात जाने दीजिए, 'न दैन्य न पलायनम्' की प्रतिज्ञा करने वाला अर्जुन भी महाभारत के समय मोहग्रस्त होकर दीन हो उठा था और उसने स्वीकार किया था 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव'[2] अर्थात कार्पण्य—दैन्य—रूपी दोष से मेरा स्वभाव उपहत—विकृत—हो गया है। इस दैन्य से मुक्ति पाने के लिए उसे भी प्रभु के निकट प्रपन्न शरणागत होना पडा था।

तुलसी को जगत के जीवो की दीनता इतनी स्वाभाविक लगती है कि 'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा' के सिद्धातानुसार मानव रूप मे अवतरित होने पर विशेष प्रसगो म श्रीराम से भी 'दीनता' का नाटय उन्होने करवाया है। सीता हरण के अनतर श्रीराम की विरह कातरता का चित्रण करने के बाद तुलसीदास ने टिप्पणी जडी है, 'कामिन्ह क दीनता देखाई, धीरन्ह के मन बिरति दृढाई।'[3] लक्ष्मण को शक्ति लगने पर तो तुलसी के राम विह्वल स्वर मे कह उठे हैं कि लक्ष्मण के बिना मेरी वैसी ही करुण दीन स्थिति है 'जथा पख बिनु खग अति दीना, मनि बिनु फनि, करिबर करहीना।'[4] जसे पख के बिना पक्षी की, मणि के बिना सप की और सूड के बिना गजराज की हो जाती है। यह बात दूसरी है कि तुलसी ने इसे भी 'नर गति' दिखाने की लीला कह कर अपनी ओर से श्रीराम के 'चिदानन्दत्व' पर आँच नही आने दी। इसी प्रकार यह सोच-सोचकर कि मेरे कारण श्रीराम को वन जाना पडा, भरत की मनोव्यथा की सीमा नही रह गयी थी। माता कौशल्या, गुरु वशिष्ठ, मत्रीगण, पुरजन आदि के राज्य स्वीकारने के अनुरोध की उपेक्षा कर उन्होने दुविधाहीन शब्दो मे कहा था, 'आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ। देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥'[5] यदि भगवान श्रीराम एव भरत जैसे भागवत भी 'दारुण दीनता' मे ग्रस्त हो सकते हैं तो मानस के अन्य पात्रो या ससार के सामान्य जीवो की उससे मुक्ति कहाँ। तुलसीदास की मान्यता

१ मानस १।२३।७
२ श्रीमद्भगवद्गीता २।७
३ मानस ३।३६।२
४ वही ६।६१।६
५ वही २।१८२

के अनुसार लाख नकारने की चेष्टा करने पर भी दैन्यग्रस्त हो जाना मायाबद्ध जीव की विवशता है । अत समस्या वास्तव मे यह है कि 'दैन्य' का अनुभव होने पर जीव क्या करे ?

'जीव क्या करे' का सही निर्देश तभी दिया जा सकता है जब इस पर विचार कर लिया जाये कि दैन्य की स्थिति मे 'वह सामान्यत क्या करता है' और उसके उस कार्य का क्या फल होता है । निधनता, सकट या अपराध के कारण दीनता का बोध करने पर साधारण मनुष्य अपने से अधिक समर्थ व्यक्ति की सहायता से अपने को उबारना चाहता है । बिहारी ने इस स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है

घर घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचत जाइ ।
दियें लोभ चसमा चखनु, लघु पुनि बडो लखाइ ॥[1]

बिहारी के अनुसार दीन होकर जन जन से याचना करने का कारण आँखो पर चढा लोभ का चश्मा है जो क्षुद्र व्यक्तियो को भी बडा बनाकर दिखाता है । तुलसी के अनुसार ससार मे बडे से बडे माने जाने वाले भी वास्तव म दीन ही हैं । उनका अनुभव है, 'जाहि दीनता कहौं, हौ दीन देखौं सोउ ।'[2] मुनि, सुर, नर, नाग, असुर आदि की साहबी तभी तक है जब तक राम उनकी ओर से आख नही फेर लेते । फिर य सब स्वार्थी है, दीन जन की पीडा का अनुभव कर सहायता करते हो, ऐसी बात नही है, सहायता के नाम पर अपना अह तृप्त करते हैं या बदले मे कुछ और बडा चाहते हैं । तुलसी का कटु अनुभव है कि 'जाचो जल जाहि, कहै अमिय पिआउ सो, कासो कहौ काहू सो न बढत हियाउ सो'[3] जल मागने पर जो पहले अमृत पिलाने की फर्माइश करें, उनसे कुछ कहने का हियाव कैसे बढ सकता है । फिर भी आशा लालसा की ताडना से जीव जहा तहाँ, जिस-तिस के पास दौडता ही फिरता है । हा हा कर द्वार-द्वार पर बार-बार अपनी दीनता कहता है किंतु उसके खुले मुह मे कोई एक मुट्ठी राख तक नही डालता—'कहा न कियो, कहा न गयो, सीस काहि न नायो हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार बार, परी न छार मुंह बायो'[4] और अगर कोई बहुत बढकर कुछ देता भी है तो दमडी की कौडी बराबर देता

१ बिहारी रत्नाकर १५१
२ विनय पत्रिका ७८।२
३ वही १८२।५-६
४ वही २७६।१,४

है, उसके लिए कौन देश देश क्लेश सहता और नरेशो के आगे हाथ फैलाता फिरे, 'जांचै को नरेस, देस देस को कलेस करै, देहै तो प्रसन्न ह्वै बडी बडाई बोंडिये।'[1] फिर यह कौडी बराबर जो कोई देता भी है, कहाँ से देता है? तुलसी की पक्की धारणा है कि ससार मे राम के अतिरिक्त कोई दूसरा दानी है ही नही, राम ही सब की बाजी रखते हैं, 'जग जाचक दानि दुतीय नहीं, तुम ही सब की सब राखत बाजी'[2] ऐसी स्थिति मे तुलसी को लगता है कि 'व्योम, रसातल, भूमि भरे, नृप कूर, कुसाहिब सेतिहु खारे, तुलसी तेहि सेवत कौन मरै?[3] आकाश, पाताल और पृथ्वी मे भरे हुए ये निकम्मे कुस्वामी तो मुफ्त मे मिलने पर भी बुरे हैं उनकी सेवा मे कौन मरता रहे? अतएव उनका दृढ सकल्प है कि जग जाचिये कोऊ न, जाँचिये जो जिय जाँचिये जानकी जानहि रे। जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति और जहानहि रे।'[4] ससार मे किसी से भी मागना नही चाहिए, यदि मागना ही हो तो श्रीराम से ही माँगना चाहिए जिससे याचना करने पर अपने बल स समार को जलाती रहने वाली याचकता जल जाती है। साफ है कि जिस अभाव सकट, या अपराध बोध का तुलसी को अनुभव होता रहता है, उसे दूर करने की क्षमता ससार के किसी व्यक्ति मे नही है, इसका पक्का निश्चय हो जाने के कारण ही वे राम के द्वार पर दीन' होकर गये हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास का 'दैन्य उनकी 'हीनता ग्रथि' का उदात्तीकृत रूप है। सासारिक दृष्टि से तुलसी अभाव मे ही जन्मे, पले, बढे, क्योकि पैदा होते ही माता पिता का साया उनके सिर से हट गया था। उनका बचपन घोर अरक्षा और दरिद्रता मे बीता। उन्होने कहा है, 'बारे तें ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन, जानत हो चारि फल, चारि ही चनक को'[5] जो पेट भरने के लिए मिले चन के चार दानो को धम, अथ, काम, मोक्ष के फलो सदृश्य समझने के लिए बचपन मे विवश रहा हो, उसकी हीनता ग्रथि की कल्पना की जा सकती है। दैन्य के दो सबस स्थूल भौतिक कारण अनाथता और निधनता से जूझ जूझकर ही वे बडे हुए थे। उनके परवर्ती जीवन, चिंतन

१ कवितावली ७।२५।५–६
२ वही ७।६५।२
३ वही ७।१२।२ ३
४ वही ७।२८।१-२
५ वही ७।७३।३-४

एव साधन चयन पर इन दोनो का बड़ा गहरा प्रभाव है। भगवत् पथ के पथिक होने के कारण उन्होंने अपने लिए धन की याचना कभी नही की किंतु यह स्वीकारा कि भौतिक स्तर पर 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं'[1] और लोक कल्याणार्थ जीविकाविहीन लोगो का दुख दूर करने के लिए प्रभु से आग्रह भरे स्वरा म दारिद्र्य रूपी दशानन स दुनिया को मुक्त करने की प्रार्थना की, 'दारिद-दसानन दबाई दुनी दीनबधु दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी'[2] अपने लिए 'जथालाभ सतोष सदा काहू सो कछु न चहौंगो'[3] का आदश सामने रखने वाले तुलसी 'रोटी लूगा नीकै' 'ह्वै हौं पावौं'[4] से ही सतुष्ट थे किंतु 'औरो के लिए' 'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना'[5] की मगल कामना से प्रेरित होकर समस्त 'सुख सपदा' से सयुक्त समाज की कल्पना वे कर गये हैं।

अपनी हीनता ग्रथि स उबरने के लिए मनुष्य जाने अनजाने जिस प्रविधि का प्रयोग करते हैं, उसे समझाते हुए प्रख्यात मनोवैज्ञानिक डा० ऐल्फ्रेड ऐड्लर ने लिखा है, 'हीनता, अपर्याप्तता, अरक्षा का अनुभव ही व्यक्ति के अस्तित्व का लक्ष्य निर्धारित करता है। प्रमुखता प्राप्त करने मे उस लक्ष्य को निर्धारित करने म सामाजिक भावना की मात्रा एव गुणवत्ता सहायता पहुँचाती है। हम किसी व्यक्ति का मूल्याकन चाहे वह शिशु हो या वयस्क—व्यक्तिगत प्रमुखता के उसके लक्ष्य एव उसकी सामाजिक भावना की प्रमात्रा की तुलना किये बिना नही कर सकते। उसका लक्ष्य इस प्रकार निर्मित होता है कि उसकी पूर्ति या तो श्रेष्ठत्व की भावना को या व्यक्तित्व के उन्नयन को उस कोटि तक पहुँचाने की सभावना की प्रतिश्रुति देती है जिससे जीवन जीने योग्य प्रतीत हो। यही लक्ष्य हमारे सवेदनो को मूल्य प्रदान करता है, हमारे मनोभावो को परस्पर सयुक्त एव समन्वित करता है, हमारी कल्पना को आकार देता है, हमारी सर्जनात्मक शक्तियो का पथ निर्देश करता है, हमे क्या याद रखना चाहिए और क्या भूल जाना चाहिए, इसका निश्चय करता है। हम इसका अनुभव कर सकते हैं कि सवेदनों, मनोभावों, भाववृत्तियो एव कल्पना के मूल्य कितने सापेक्ष हैं जबकि ये भी अप्रतिबधित इयत्ताएँ नही हैं, हमारी मानसिक गति-

१ मानस ७।१२१।१३
२ कवितावली ७।८७।७ ८
३ विनयपत्रिका १७२।३
४ कवितावली ७।६३।२
५ मानस ७।२१।६

विधि के ये तत्त्व एक निश्चित लक्ष्य के लिए सतत प्रयास से प्रभावित होते हैं, हमारे सभी प्रत्यक्ष बोध तब उसके द्वारा पूर्वाग्रहयुक्त हो जाते हैं और कहा जा सकता है कि जिस चरम लक्ष्य की ओर व्यक्तित्व प्रयासशील है, उसके गोपन निर्देश के अनुरूप चुने जाते है।[1]

तुलसी ने अपनी हीनता ग्रथि से उबरने के लिए जो लक्ष्य चुना वह एक ओर तो उनकी अपनी वैयक्तिक स्थितियो एव 'सुरसरि सम सब कहँ हित' करने की उनकी प्रशस्त सामाजिक भावना के अनुकूल था, दूसरी ओर भक्ति आदोलन की जिस धारा के सपर्क मे वे आये थे, उससे भी प्रभावित था। भावसाधना के मर्मज्ञो की मान्यता है कि व्यक्ति का जो सबसे बडा अभाव होता है, उस ही भरने के लिए वह प्रभु को अपने विभाव (भाव के आलबन) के रूप मे ग्रहण करता है। जग जाहिर बात है कि तुलसी ने प्रभु को अपने स्वामी, नाथ के रूप मे स्वीकार कर अपने जीवन का लक्ष्य राम का दास्य निर्धारित किया था। साधना का भाव भक्तो के अनुसार पूर्वजन्म के सस्कारो द्वारा निर्मित अतव त्तियो पर निर्भर करता है। सब समय उसे स्थूल परिस्थितियो की ही उपज मानना उचित नही होगा किंतु तुलसी के क्षेत्र म लगता है कि सस्कारो और बाह्य परिस्थितियो का अद्भुत मेल हो गया। अनाथ तुलसी ने प्रभु से अपना सबध जोडते हुए कहा, 'नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मों सो'[2] और यह भी कि मुझे अपनाने से लाभ केवल मुझे ही नही आपको भी होगा, 'हौं सनाथ ह्वैहो सही, तुमहूँ अनाथपति, जो लघुतहि न भितैहो'[3] एक बार प्रभु की सेवा को अपने जीवन क चरम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार कर लेने पर तुलसी ने अपने सारे व्यवहारो, भावो, सवेदनो को तदनुकूल ढाल लिया और बहुत सतोष के साथ कहा, 'तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को।'[4] राम से जुडकर तुलसी को अपनी समस्त लघुता-हीनता के बावजूद लगा कि खोटे होते हुए भी वे खरे (राम) के साथ होने के कारण अब समाज मे चल सकत हैं, स्वीकृत हो सकते हैं। जिस तरह निषाद गुह को लगा था कि 'कपटी, कायर, कुमति, कुजाती, लोक वेद बाहर सब भाँती होते हुए भी 'राम कीन्ह आपन जब ही तें, भयउँ भुवन भूषन तबही तें'[5] उसी तरह तुलसी को

१ अडरस्टैंडिग ह्यूमन नेचर (प्रीमियर पाकेट बुक, प्र० स०), पृ० ६७
२ विनय पत्रिका ७६।३
३ वही २७०।४
४ वही १५५।१०
५ मानस २।१९६।१२

भी लगा कि 'घर घर माँगे टूक, पुनि भूपनि पूजे पाँय, जे तुलसी तव राम बिनु, ते अब राम सहाय।'[1] राम की कृपा ने भले ही उन्हें राख से सवार कर पहाड़ से भी भारी बना दिया हो, राम का पवित्र पक्ष पाकर भले ही पचों में उनका गौरव हो गया हो[2] पर वे यह कभी नहीं भूले कि मैं अपने में कुछ भी नहीं हूँ, जो कुछ हूँ राम की कृपा से हूँ, 'आप हौं आपुको नीके कै जानत, रावरो राम भरायो, गढायो हौं तो सदा खरको असवार तिहारोई नाम गयद चढायो'[3] अत उनमें श्रेष्ठत्व की भावना का अहकार कभी नहीं जागा, हाँ व्यक्तित्व का उन्नयन अवश्य ही 'सतत्व' की चरम सीमा तक हो गया।

राम को अपना स्वामी मानकर अपने को उनके योग्य सेवक बनाने के प्रयास में ही उन्हें अपनी अपूर्णता का असमर्थता का, अपने दोषों का, पापो का तीखा अहसास हुआ। राम जैसे सवगुण सपन्न, सवसमथ, सवज्ञ, सवधममय प्रभु का तुलसी जैसा गुणहीन, असमर्थ, अज्ञ, अधर्मी सेवक! आखिर किस तरह —किस साधन से वे प्रभु को अपने ऊपर प्रसन्न कर सकते हैं? उन्हें लगा कि 'तुलसिदास हरि तोषिए सो साधन नाहीं'[4] भौतिक स्तर पर जो निर्धनता थी, साधनिक स्तर पर वही नि साधनता बन गयी। अपने को सब प्रकार से साधन हीन समझने के कारण ही तुलसी के भक्तिपूरित हृदय म दीनता का ज्वार उमड पड़ा। वेद, पुराण, ज्ञान, विज्ञान, ध्यान, धारणा, योग यज्ञ आदि साधनों का भरोसा तो तुलसी को था नहीं अत प्रभु के विरद 'दीनबधु' को स्मरण कर अपनी दीनता का ही आश्रय ले तुलसी ने उनके अनुग्रह की याचना की

> वेद न पुरान गान, जानौं न विज्ञान ज्ञान,
> ध्यान, धारना, समाधि, साधन प्रवीनता।
> नाहिन बिराग, जोग, जाग भाग तुलसी के,
> दया-दान दूबरो हौं, पाप ही की पीनता॥
> लोभ मोह-काम कोह-दोष कोष मोसो कौन
> कलि हू जो सीखि लई मेरियै मलीनता।
> एक ही भरोसो राम रावरो कहावत हौं,
> रावरे दयालु दीनबधु, मेरी दीनता॥[5]

१ दोहावली १०६
२ कवितावली ७।६१।१-२
३ वही ७।६०।१,४
४ विनय पत्रिका १०६।१०
५ कवितावली ७।६२

तुलसीदास ने विस्तारपूर्वक और बार बार अपनी दीनता का वर्णन किया है। तुलसी की मनोवृत्ति को न समझ पाने पर कुछ लोगों को इसमे पुनरावृत्ति और एकधृष्टता की गंध आ सकती है। तुलसी को जब जब अपने भीतर कमजोरी महसूस होती थी, जब जब उन्हें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का दुःसह वेग जर्जर कर देता था तब-तब वे दीन स्वरों मे प्रभु से रक्षा की याचना करते थे। उनका विश्वास था कि

तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाउ दुख दोष।
होय दूबरी दीनता, परम पीन सतोष॥[1]

भीतर दैन्य भरा हो और उसे स्वीकार न किया जाये तो वह घातक हो जा सकता है। इसी तरह यदि प्रभु की कृपा का भरोसा न हो तो केवल दैन्य मनुष्य को निराश, अकर्मण्य और आत्मघाती बना दे सकता है। तुलसी अहंकार से बचने के लिए दैन्य का और आत्मघाती दीनता से उबरने के लिए प्रभु-कृपा का सहारा लेते हैं। उनका निर्देश है कि प्रभु के निकट दीनता की निश्छल स्वीकृति के द्वारा ही अपने दुःखों, दोषों से उत्पन्न दैन्य का दुर्बल और प्रभु की कृपालुता पर भरोसा रखने पर ही संतोष को पुष्ट किया जा सकता है। अतः निस्संकोच भाव से प्रभु को अपनी त्रुटियों, कमियों, गलतियों का पूरा विवरण सुना देना 'मम भरोस हिय हरष न दीना' वाली नौवीं भक्ति की ओर अग्रसर होने का सही रास्ता है। प्रभु से धूर्तता करना हजारों मूर्खताओं के बराबर है क्योंकि वे तो सर्वज्ञ हैं इसलिए उनके समक्ष सीधे सच्चे भाव से अपराधों की स्वीकृति कर लेने से मलीनता मिट जाती है, 'यहाँ की सयानप अयानप सहस सम, सूधौ सतभाय कहे मिटति मलीनता।'[2] अतः अपने भीतर दीनता, हीनता, मलीनता का अनुभव करते ही उसको प्रभु को सुना देना तुलसी को आवश्यक लगता था।

फिर एक बात और थी। प्रभु सा सहृदय श्रोता उन्हे और कहाँ मिलता। उन्होंने अपनी दीनता प्रभु को छोड़कर संसार मे और किसी को नहीं सुनायी। स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि के लिए वे राम से ही याचना करना अपना धर्म समझते थे, अपने लिए, उनका निर्णय था 'स्वारथ परमारथ सकल

१ दोहावली ८६। गो० श्रीकांत शरण का पाठ यहाँ स्वीकार किया गया है, ना० प्र० सभा के संस्करण मे गुन दोष पाठ है। तुलसी अपने मे गुण देखते ही नहीं थे अतः गुण दोष पाठ संगत नहीं लगता।

२ विनय पत्रिका २६२।१३ १४

सुलभ एक ही ओर, द्वार दूसरे दीनता उचित न तुलसी तोरे।[1] चातक की प्रशंसा भी उसकी इसी एकनिष्ठा के कारण उन्होंने की थी—

तीनि लोक तिहु काल जस चातक ही के माथ
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ।[2]

सर्वगुण सपन्न प्रभु के समक्ष अपने को पाते ही प्रभु के महत्त्व और अपने लघुत्व की युगपत् अनुभूति से तुलसी कुछ कह भी नही पाते और बिना कहे रह भी नही पाते। सामने करुणा-वरुणालय, दयासागर, परम हितैषी एव कोमल शील स्वभाव वाले प्रभु हो तो उन्हें अपनी दीनता सुनाकर जो सुख मिलता है, वह अनुभवैकगम्य है। तुलसी के शब्दो मे

कह्यो न परत, बिनु कहे न रह्यो परत,
बडो सुख कहत बडे सो, बलि, दीनता।
प्रभु की बडाई बडी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता, आपनी पाप पीनता।।[3]

प्रभु के निकट दैन्य-निवेदन कर भक्त को जो परम सात्त्विक आनद मिलता है, वह उसे पुन पुन प्रेरित करता है कि प्रभु को वह अपनी दीन हीन स्थिति का विवरण सुनाता ही रहे। इस वृत्ति को भक्तो का यह विश्वास और पुष्ट करता है कि प्रभु दीनदयालु हैं, दीनता सुनकर द्रवित हो जाते हैं और गुणहीन सेवको को भी निहाल कर देते हैं। तुलसी ने ही कहा है, 'सेवा बिनु, गुन बिहीन दीनता सुनाए, जे जे तैं निहाल किए फूले फिरत पाए।'[4] अत भक्तो की दृष्टि म पुन पुन दैन्य निवेदन दोष न होकर गुण ही है।

तुलसी ने लौकिक दु ख-कष्टो से छुटकारा पाने के लिए भी प्रभु से प्रार्थना की है, किंतु उनसे वे सहज म दीन नही होते। पापस्वरूपिणी प्रतिष्ठा के बढ जाने के कारण 'बढी रारि' को[5] जाति-पाँति को लेकर उगाये गये लाछना को[6] उन्होंने धैर्य के साथ झेल लिया था। शिवजी के किंकरो द्वारा पहुँचायी गयी आधिभौतिक बाधाओ से वे कुछ अधिक विचलित हुए थे। भगवान शिव के

१ दोहावली ५४
२ वही २८८
३ विनय पत्रिका २६२।१ ४
४ वही ८०।७ ८
५ दोहावली ४६४
६ कवितावली १०६, १०७

द्वार पर 'दीन' होकर उन्होंने गुहार लगायी थी कि कठोर करतूति करने वालों का शीघ्र ही बरजिये, नहीं तो श्रीराम से उलाहना पाकर मुझे उलाहना न दीजिएगा।[1] अंतिम समय में बाहु पीडा एवं बालतोड आदि व्याधियों से पीडित होकर वे सचमुच बहुत विकल हो गये थे और हनुमान बाहुक, कवितावली, दोहावली आदि में उन्होंने कातर स्वर में अपनी दीनता का वास्ता देते हुए श्रीराम, हनुमान, शिवजी आदि से अपने को रोगमुक्त करने की प्रार्थना की थी। इन छंदों में उन्होंने अपने इस अपराध को भी स्वीकारा है कि बचपन की शुद्ध भावना पर द्रवित होकर राम के द्वारा अपना लिये जाने पर वे लोक रीति में पडकर, 'गुसाइं' बनकर 'पति' (प्रतिष्ठा) पाकर फूल उठे थे और खोटे खोटे आचरण करने लगे थे इसीलिए उन्हें इन व्याधियों के व्याज से घोर मंत्रणा झेलनी पड रही है।[2]

सामाजिक दुर्गति से उत्पन्न दैन्य से प्रेरित होकर सामाजिक मंगल के लिए, दीन दुखीजनों का संकट मिटाने के लिए, काशी की महामारी और दुर्व्यवस्था को दूर करने के लिए, रुद्रबीसी और मीन की शनीचरी के प्रकोप को शांत करने के लिए भी उन्होंने विनय पत्रिका, दोहावली, कवितावली आदि में दीन स्वर में प्रार्थनाएँ की हैं।

तुलसी के दैन्य का सर्वाधिक उत्कर्ष शरणागति साधना के अंग के रूप में हुआ है। कलि के अत्याचारों से भयभीत तुलसी ने अपने गुणों एवं साधनों से उत्पन्न अहंकार का पूर्णतः निरसन कर, अपनी अपात्रता, असमर्थता एवं अन्यान्य दुर्बलताओं के उल्लेख द्वारा आत्मावमानना कर एकमात्र प्रभु की कृपा के ऊपर ही सर्वथा निर्भर रहने का मनोभाव ऐसी रचनाओं में प्रकट किया है। उन्हें लगता रहा कि सद्गुण ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि श्रेष्ठ साधन तो कलियुग के पापों और अवगुणों को देखकर व्याकुल हो भाग खडे हुए हैं, इतनी अनीति और कुरीति हो गयी है कि पृथ्वी सूर्य से भी अधिक उत्तप्त लगती है, कहाँ जाऊँ, कोई स्थान नहीं है, बुद्धि अकुला उठी है, ऐसे में कोई अपना नहीं है, स्वयं अपना मन भी नहीं, तुलसी की सूखती हुई खेती को अब श्याम घन से सींच कर प्रभु ही सफल कर सकते हैं, इसीलिए 'नाथ कृपा हीं को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति।'[3] यह जानते हुए भी कि विषय विपत्तिमय हैं,

१ कवितावली ७।१६५, १६६, विनय पत्रिका ८
२ हनुमान बाहुक ४०, ४१
३ विनय पत्रिका ५१

उन्हें न छोड पाने के कारण, महामोह की सरिता मे बहते हुए भी श्री हरि के चरण कमल की नौका का परित्याग कर सामान्यजन रूपी फेन का अवलब ग्रहण करने के कारण तुलसी अपने को सब से बडा मूढ एव पापी मानते हुए कह उठते हैं, माधव जू, मो सम मद न कोऊ।'[1] दुष्ट मन ने मुझे इस प्रकार बिगाडा कि मैं इसके चलते जन्म जन्म मे रोता ही रहा। शीतल, मधुर, सहज सुख देने वाले प्रभु-प्रेम रूपी अमृत को छोडकर मोहवश नाना उद्योगो के द्वारा सुखी होने की विफल चेष्टा करता रहा, दुष्कर्मों के कीच से चित्त को सानकर मल को मल से धोने की मूखता करता रहा, गगा को छोड कर प्यास बुझाने के लिए व्याकुल हो पुन पुन आकाश निचोडता फिरा, सारी रात बिछौना बिछाने का उपक्रम करते-करते ही बीत गयी, कभी नीद भर सो नही पाया, 'तुलसिदास प्रभु ! कृपा करहु अब, मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।'[2]

यह स्मरण रहे कि समस्त सदगुणो से अलकृत होते हुए भी शरणागत भक्त भगवान की परम दुलभ कृपा पाने की दृष्टि से अपने को अत्यत असमर्थ और सब प्रकार से हीन मान कर परम व्यग्रता का अनुभव करते हैं। भगवत्कृपा अपने मे सवथा स्वतन्त्र होने पर भी दीनो पर विशेष रूप से होती है अत वे इसके लिए निरतर यत्नवान रहते हैं कि मन, वचन और कम मे यह दैन्य भाव स्थिर रहे एव जाति, कुल, शील, भक्ति, ज्ञान, सदगुण आदि का अहकार मन मे भी न आने पाये। ऐसे दैन्य को भी वे भगवान का प्रसाद ही मानते है क्यो कि उनकी दृष्टि मे भगवत्प्रेम और दैन्य परस्पर पोष्य-पोषक हैं।

अपनी शक्ति जब जवाब दे देती है तभी तो कोई किसी की शरण मे जाता है। उस स्थिति मे दीन हो जाना स्वाभाविक ही है। वैष्णव, शैव, शाक्त, आदि सभी साधनाओ मे इस दैन्य तत्त्व की सहज स्वीकृति है। गीता मे वर्णित अर्जुन के दैन्य का उल्लेख किया जा चुका है। दुर्गा सप्तशती मे भी 'शरणागत-दीनार्त्त-परित्राण परायणे, सवस्यार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तुते'[3] कहकर शरणागति के साथ दीनता के अविच्छेद्य सबध को उजागर किया गया है। विभिन्न पुराणो एव स्तोत्रो मे शरणागति के लिए दैन्य के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामानुज के गुरु के गुरु यामुनाचाय (दसवीं ग्यारहवी सदी ईसवी) कृत आलवन्दार स्तोत्र तथा महाकवि जगद्धरभट्ट

१ विनय पत्रिका ९२
२ वही २४५
३ दुर्गा सप्तशती ११।१२

(चौदहवीं सदी ईसवी के उत्तरार्ध मे वर्तमान) कृत स्तुति कुसुमाजलि के अनुशीलन द्वारा भी तुलसी ने अपने दैन्य भाव को समृद्ध किया था। आलवन्दार स्तोत्र म अपने को असख्य अपराधो से आवृत मानकर यामुनाचाय ने उपायान्तर शून्य हो प्रभु की शरण ग्रहण करते हुए कहा था

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी, न भक्तिमास्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽन्यगति शरण्य त्वत्पादमूल शरण प्रपद्ये ॥[1]

अर्थात न तो मैं धर्मनिष्ठ हू, न आत्मज्ञान सपन्न हूँ, न आपके चरणारविंदो मे भक्तिमान ही हूँ हे शरण्य प्रभु, मैं अकिंचन, अनन्यगति आपके चरण कमलो की शरण लेता हूँ। इस स्तोत्र के अनेक अन्य छदो मे दैन्य का बडा ममस्पर्शी चित्रण हुआ है। जगद्धरभट्ट ने तो 'स्तुति कुसुमाजलि' के नवम, दशम, एकादश स्तोत्रो के नाम ही कृपणाक्रदन, करुणाक्रदन तथा दीनाक्रदन रखकर भगवान शिव की वदना करते हुए अपनी दीनता का बहुत करुणापूर्ण निवेदन किया है। अपनी अधमता को ही शिव की अनुकपा की पात्रता का हेतु बताते हुए उन्होंने लिखा है

पाप खलोऽहमिति नर्हिसि मा विहातु
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा,
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीय ॥[2]

अर्थात 'यह पापी और नीच है' ऐसा समझकर मेरा परित्याग करना उचित नहीं है क्योंकि अकुतोभय, पुण्यात्माओ को आपकी रक्षा का प्रयोजन ही क्या है। चूंकि मैं अत्यत असाधु अधम और पापात्मा हूँ इसीलिए तो आपके द्वारा अनुकपनीय हूँ।

परपरा के सदर्भ मे रखकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास का दैन्य शरणागत भक्तो की भावनाओ के अनुरूप ही है। फिर भी सामान्यता के साथ-साथ कुछ न कुछ विशिष्टता भी हर एक म होती ही है। ऐसा लगता है कि आरभिक स्थिति मे तुलसीदास ने 'मानी चातक' को अपना आदर्श माना था जो न तो याचना करता है, न सग्रह करता है और न सिर झुकाकर लेता ही है, निश्चय ही ऐसे 'मानी याचक' को राम घनश्याम के अतिरिक्त और कोई नहीं दे सकता, 'नहिं जाचत, नहिं सग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ। ऐसे मानी

१ आलवन्दार स्तोत्र २५
२ स्तुतिकुसुमाजलि ११।३७

मागनेहि को वरिद विन देइ।'[1] उन्हें यह देखकर बहुत सतोष हुआ था कि केवल अपने प्रियतम मेघ के प्रति ही अपनी दीनता का निवदन करते हुए भी चातक ने अपनी प्रीति की विलक्षणता से ससार मे एक नयी रीति चलायी, याचक के स्थान पर दानी को ही 'कनौडा' बना दिया, 'प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि-जाचक जगत कनाउडो, कियो कनौडो दानि।'[2] पर अपने इस भाव का निर्वाह वे अत तक नही कर पाये। 'जीवन अवधि अति नेरे' देखकर वे विकल होकर मान त्याग कर, विन बुलाये ही राम के द्वार पर 'मचला' वनकर, धरना देकर बैठ गये कि भले ही यम के भट धक्का दे देकर थक जायें तो भी मैं तब तक नही उठूँगा जब तक राम यह नहीं कह देते कि तुलसी, तू मेरा है।'[3] अपने को सब प्रकार मे दीन मानकर अपने सबध के कारण ही वे प्रभु के सरक्षण की याचना करते हैं जिस प्रकार टूटी बाँह भी गले पडती है, फूटी आँख भ भी पीडा होने पर उसके हित का प्रयास करना पडता है, उसी प्रकार अपराधी होते हुए भी मैं आपका हूँ, इसलिए मुझे न भुलाइए, 'अपराधी तउ आपनो तुलसी न विसरिये, टूटियो बाँह गरे परै, फूटेहु विलोचन पीर होत हित करिये।'[4] इसी भावावेश मे तुलसी अपने को ससार मे सबसे अधिक दीन मान कर और प्रभु को सर्वाधिक दीन हितकारी मानकर उनसे अपने विविध तापो को दूर करने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं

तुम सम दीनबधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई।
मो सम कुटिल मौलिमनि नहिं जग, तुम सम हरि न हरन कुटिलाई॥[5]

तुलसी इसी दैन्य के सहारे एक ओर ससार के व्यक्तियो के निकट अदीन और दूसरी ओर प्रभु के निकट कृपापात्र हो गये थे। अहकार को दूर कर जो एक-निष्ठ दैन्य मानव जीवन के चरम प्राप्य को सुलभ बना देता है, वह निश्चय ही महनीय है।

१ दोहावली २९०
२ वही २८९
३ विनय पत्रिका २६७
४ वही २७१।७ ८
५ वही २४२।१-२

आश्वासन राम का माध्यम तुलसीदास का

आश्वासन स्वच्छन्द भाव से साँस लेना।

सास भी हम आज सब समय खुल कर सम गति से कहाँ ले पाते हैं। कल्पना कीजिये, कोई मनुष्य भादो की तूफानी अमावस्या की रात को बवडर के झकोरे से नाव से छिटक कर अचानक अपार, अथाह, उफनती हुई नदी मे जा गिरा है। अपनी शक्ति पर हाथ पाव पटक लेने के बाद भी उसे कूल-किनारा या कोई नौका-बेडा नही दिखता। अहसास होता रहता है उसे अपने चारो ओर मगर घडियाल जैसे भयकर जलचरो का, क्योकि वे रह रह कर अपने दात तेज करते रहते हैं उसे काट काट कर। वेगवती धारा की दुर्दान्त तरगो मे घिरती आती मृत्यु की विभीषिका स सत्रस्त उस मनुष्य की धौंकनी सी चलती सासें हृत्पिड को ही विदीण कर देना चाहती हैं। जरा रुककर सोचिये, आश्वासन के लिए विकल वह व्यक्ति कही आप ही तो नही हैं। आखिर यह दुनिया किस भयकर बरसाती नदी से कम है, परिस्थितियो के थपेडो और स्वार्थान्ध मित्रो शत्रुओ के दशनो को झेलते झेलते एक सीमा के बाद किस का दम नही उखड जाता। उस सत्रास से व्यक्ति कसे उबरे? आधुनिक नुस्खे कम नही हैं और बहुतों के लिए वे कारगर भी हो सकते है। किन्तु घुटन टूटन, अनास्था निराशा की दिनो दिन बढती यत्रणा से पिसते हुए हृदयो की आहें-कराहें साबित करती हैं कि मानवता के एक बडे अश के लिए ये नये नुस्खे अपर्याप्त हैं। ऐसे मे याद आती है तुलसी की आश्वासनमयी श्रद्धापूत वाणी, जिसका दावा है कि कोई भी स्थिति इतनी सकटापन्न नही हो सकती जिससे श्रीराम की विशाल भुजाएँ हमे-आपको उबार न लें

> जहाँ जम जातना, घोर नदी, भट कोटि जलच्चर दत टेवैया।
> जहँ धार भयकर वार न पार, न बोहित-नाव, न नीक खेवैया॥
> तुलसी जहँ मातु पिता न सखा, नहिं कोऊ कहूँ अवलब देवैया।
> तहाँ बिनु कारन राम कृपालु बिसाल भुजा गहि काढ़ लेवैया॥[1]

1 कवितावली ७।५२

इस पर विश्वास करते ही उखडी हुई सासें फिर से सम, स्वाभाविक होने लगती हैं, निराशा और भय का कोहरा छंटने लगता है, अर्थहीन जीवन अर्थवत्ता पाने लगता है। तो आश्वासन का अर्थ है ढाढस, दिलासा, भयनिवारण, रक्षा का वचन, आशाप्रदान।

सच्चा आश्वासन वही दे सकता है जो स्वय पूर्ण आश्वस्त हो। व्यावहारिक स्तर पर अशत आश्वस्त लोग भी एक दूसरे को आश्वासन देते रहते हैं। ईमानदारी से दिये गये ऐसे आश्वासन भी मूल्यवान हैं। कई बार छोटी मोटी परेशानियाँ भी बडी बनकर आदमी को डराने लगती हैं और ऐसे समय मे ये आश्वासन भी फलप्रसू होते हैं, किन्तु एक सीमा तक ही। बहुत बार आश्वासन उन लोगो के द्वारा दिये जाते हैं जो इनके द्वारा सामयिक रूप से व्यक्ति विशेष या जन समूह को सम्मोहित कर अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति बढाना चाहते हैं। आँख खोलकर यदि देखें तो मसीहा का मुखौटा लगाये ऐसे छद्म आश्वासक सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र मे मिल जायेंगे चाहे धर्म हो या संस्कृति, शिक्षा हो या कला, राजनीति हो या अर्थनीति। इसीलिए प्रवंचित आधुनिक मन कुठित और क्षुब्ध होकर कह उठता है

> अर्थहीन कोलाहल से बढकर/दुखकर यह सूनापन।
> क्या होंगे लूले सकल्प/और बहरे विश्वास ?/और चमकीले आश्वासन ?
> अपने को अपने से सहो।/कुछ भी मत कहो, यू ही चुप रहो।[1]
>
> (चन्द्रदेव सिंह)

पर अपने मे सिमटे हुए आस्थाहीन व्यक्ति क्या सचमुच अपने आपको सह पाते हैं ? विघटन, खिचाव, उदासी, बोरियत, परपीडन, हिंसा के बढते आकडे तो ऐसा नही बताते। व्यक्ति समाज से कटकर या भागकर कुछ दिनो तक आह भर सकता है या बाहर से भडकीला, भीतर से खोखला अस्तित्व बनाये रख सकता है, पर वास्तव में जी नही सकता। उसके लिए तो उसे विराट से जुडना या स्वय विराट बनना पडेगा। कैसे ऐसा हो ? इस प्रक्रिया मे उठने वाले विष से दग्ध मन को विचलित हो जाने पर कौन आश्वस्त करे ? पारपरिक श्रद्धा के अनुसार वास्तविक आश्वासन या तो प्रभु दे सकते हैं या पहुँचे हुए संत। आधुनिक मन की शकाओ को थोडी देर के लिए स्थगित कर श्रीराम और तुलसी के माध्यम से आश्वासन की प्रविधि को समझने की चेष्टा हितकर होगी।

१ कुछ चन्दन की, कुछ कपूर की मे पृ० १६७ पर उद्धृत,

सब समय प्रभु की ओर से दिये गये आश्वासन के दो वचन भागवतो म बहुत प्रसिद्ध हैं इनमे से एक वाल्मीकीय रामायण मे और दूसरा गीता म है। विभीषण शरणागति के प्रसग मे श्रीराम ने मुक्त आश्वासन देते हुए कहा था

सकृदेव प्रपन्नाय, तवास्मीति च याचते।
अभय सव भूतेभ्यो ददाम्येतद व्रत मम ॥[1]

अर्थात जो एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' कहता हुआ मेरी शरण मे आ जाता है मैं उसे समस्त प्राणियो म (अथवा समस्त प्राणियो से) अभय कर देता हूँ। इसी का समशील वचन है श्रीकृष्ण का जो उन्होने गीता के अन्त मे अजुन को दिया था

सवधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सवपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥[2]

अर्थात समस्त धर्मों का परित्याग कर तू मेरी ही शरण में आ जा, मैं तुझे समस्त पापो से मुक्त कर दूगा, शोक मत कर। वैष्णवो मे 'चरम यत' के रूप मे इन दोनो वचनो की मान्यता है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन और स्वय तुलसीदास पर इनका गहरा प्रभाव है। प्रपत्ति या शरणागति की साधना के तो ये मूलाधार हैं।

तुलसीदास की एक अद्भुत विशेषता यह है कि दशन, भक्ति-साधना, काव्य आदि की पुरानी परम्पराओ का एक बडी सीमा तक निर्वाह करते हुए भी वे अपना मौलिक व्यक्तित्व रखते हैं। पुरानी मान्यताओ को भी बेजान मुहावरो म वे नही दुहराते, जानी पहचानी बातो मे भी अपने अनुभव और व्यक्तित्व के योग से नयी चमक पैदा कर देते हैं। शोध कर्ताओ ने सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उन्होने विचारधारा, भक्ति भावना एव साधना की प्राय समस्त बातें अपने पूववर्त्तियो से प्राप्त की हैं। विनय की साकार मूर्ति तुलसी दास भी यही कहते हैं। किन्तु मर्मी लोग देख सकते हैं कि विषय पुराना होते हुए भी तुलसी की अनुभूति सच्ची और नितान्त अपनी है। यही बात रचना मे ताजगी और सहजता लाती है, इसी क्षमता ने अभिव्यक्ति कुशलता से मिल कर तुलसीदास को इतना लोकप्रिय और सम्मान्य बना दिया है।

ध्यान देने की बात है कि तुलसीदास के राम न तो सातवें आसमान की ऊँचाई से, न निरपेक्ष, तटस्थ मुद्रा से आश्वासन देते हैं। वे तो हमारे आपके

१ वाल्मीकीय रामायण ६।१८।६३
२ श्रीमद्भगवदगीता १८।६६

सुख से सुखी, दु ख से दु खी होने वाले राम है। उनके पारमार्थिक स्वरूप को ज्ञानियो के विचार क्षेत्र के लिए छोड दीजिये, उन वीतराग स्थितप्रज्ञो को तो आश्वासन की आवश्यकता ही नही है। तुलसी के राम केवल उनके लिए नही हैं, वे तो मुख्यत 'आरत, दीन, अनाथनि के हित' है, 'कायर, कपूत, क्रूर, लटे, लटपटनि' को सहारा देने वाले हैं। अपने प्रभु की व्यावहारिक लीला का अकन करते समय तुलसी ने उन्हें इतना मानवीय, इतना आत्मीय बना दिया है कि छोटे से छोटा, पापी से पापी, अज्ञानी से अज्ञानी, असमर्थ से असमर्थ, दु खी से दु खी व्यक्ति भी बेहिचक, बेझिझक अपना दुखडा उन्हे सुना सकता हैं, उनका सहारा पा सकता है। राम के इस शील-स्वभाव के कारण उनका दिया हुआ आश्वासन हृदय को छूता है दु ख दर्द को झेलने की शक्ति देता है। आश्वासन केवल वाणी से नही, उपस्थिति, दृष्टि, मुसकान, स्पर्श, चरित्र आदि से भी प्रभु देते हैं। उनका तो बाना ही है, 'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी, तेहि तेहि के तसि तसि रुचि राखी।'[1] फिर भी स्पष्टता और सक्षिप्तता के अनुरोध से 'मानस' मे आयी प्रभु की कुछ विशिष्ट आश्वासन-वाणियो की बानगी ही दी जा रही है।

भय, दु ख, शोक, सत्रास आदि कई स्तरो के और कई कारणो से हो सकते है। अत्याचारी निशाचरो के आतक से उत्पन्न भय का प्रतिकार केवल शब्दो से नही, उनके उच्छेद के द्वारा ही सभव है। ताडका और सुबाहु का वध कर तथा मारीच को शतयोजन सागर के पार फेंककर ही विश्वामित्र को दी गयी निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई'[2] की आश्वासन वाणी सार्थक हो सकी थी। इसी प्रकार अरण्यकाड मे 'निसिचर निकर सकल मुनि खाए' यह जानकर 'नयन जल छाए प्रभु ने भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की थी 'निसिचर हीन करउँ महि।'[3] समस्त मुनियो के आश्रमो मे जाकर तात्कालिक रूप से और अनन्तर प्रतिज्ञा का निर्वाह कर स्थायी रूप से प्रभु ने उन्हे आश्वस्त किया था। स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रभु (और उनके भक्त तुलसी) भले समदर्शी हो किन्तु व्यावहारिक स्तर पर वे शक्तिशाली अत्याचारियो के मुकाबले मे दुर्बल पीडितो का न केवल पक्ष लेते हैं बल्कि अत्याचारियो को कठोर दड भी देते हैं। बालि से सत्रस्त सुग्रीव को आश्वस्त करने के बहाने सम्पूर्ण उत्पीडित मानवता

१ मानस २।२४४।२
२ वही १।२१०।१
३ वही ३।९

को आश्वस्त करते हुए श्री राम ने कहा था, 'सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरे।'[१] इसी प्रकार 'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचड'[२] से जलते, निशिचर वश म जन्मे 'सहज पाप प्रिय तामस देहा' के कारण कुठित विभीषण को अपनी विशाल भुजाओ से जकड कर, हृदय से लगाकर उसे शोकमुक्त करते हुए सभी भयभीतो एव हीनता ग्रन्थि ग्रस्तो को आश्वासन देने वाले प्रभु की वाणी है

जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सरन सभय तकि मोही॥
तजि मद, मोह, कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥[३]

यह स्मरणीय है कि दु ख शोक आदि के कारण केवल बाहरी नही, भीतरी भी होते हैं। बहुसख्यक मनुष्य अपने ही विकारो की ताडना से या नाना प्रकार की हीनताओ के बोध से व्याकुल विह्वल रहते हैं। प्रभु का आश्वासन उनके लिए भी है। शत सिर्फ एक ही है कि शरण निश्छल भाव से ग्रहण की जाये। कामी (सुग्रीव) क्रोधी (परशुराम) लोभी (विभीषण)[४] अभिमानी (वालि) द्रोही (जयन्त) आदि को प्रभु क्षमा कर देते हैं पुण्य (पातिव्रत्य) से स्खलित (अहल्या) और दीन, हीन, अन्त, तथाकथित नीची जाति के जन (केवट, शबरी आदि) को भी तार देते हैं किन्तु किसी छली कपटी को क्षमा नही करते क्योकि तुलसी की मान्यता है कि जिस प्रकार अन्धकार सूर्य के समक्ष नही जा सकता, उसी प्रकार छली प्रभु के सम्मुख नही हो सकता, 'छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सात हय-जान सो।'[५] प्रभु से अपने पापो दोषो, अपराधो का निवेदन करना मानसिक निर्मलता की ओर अग्रसर होने की इच्छा और चेष्टा का प्रमाण देना है, प्रभु के सम्मुख होने का प्रयास करना है, जिसके बिना प्रभु कृपा असभव न होने पर भी बहुत दुलभ है। पाप-बोध के विषय दग्ध हृदयो मे अमृत का प्रलेप करते हुए प्रभु ने कहा है कि अन्य सामान्य पापो की तो बात ही क्या करोडो वेद पाठी ब्राह्मणो की हत्या करने वाले को भी शरण आने पर मैं नहीं त्यागता। जीव जैसे ही मेरी ओर उन्मुख होता है, उसके करोडो जन्मो के पाप उसी समय नष्ट हो जाते हैं

१ मानस ४।७।१०
२ वही ५।४९६
३ वही ५।४८।२ ३
४ देखिये विभीषण की उक्ति 'उर कछु प्रथम बासना रही' वही ५।४९।६ एव प्रभु द्वारा उसे राज्य सम्पदा का दान।
५ गीतावली ५।३३।४

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आए सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबही । जन्म कोटि अघ नासहिं तबही ॥[1]

बाहरी सत्रास से भी अधिक भयावह भीतरी सत्रास को नवजीवन के उल्लास मे बदल देने मे समथ यह उक्ति मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए आज भी कल्पलता के समान है।

भक्ति साधना का सबसे विधायक सामाजिक पक्ष दीन, हीन, पतित, उत्पीडित, निराश जनगण को वैयक्तिक और सामूहिक स्तर पर आश्वासन देना ही है। इस दिशा मे मध्यकालीन भक्तो मे तुलसी सर्वोपरि है। वे स्वय जीवन-समुद्र की भँवर मे फँस कर उसके अतल वायुहीन, ज्योति हीन आवत की यत्रणा भोग चुके थे। जिस रामनाम और प्रभु कृपा के सहारे वे उससे उबरे थे उसी का आश्रय लेकर शोक और चिता से मुक्त होने के लिए उन्होने मानव मात्र का आह्वान किया है। दु खो कष्टो के बोझ से पिसत रहने के कारण जिनका मनोबल टूट रहा हो वे एक बार तुलसी के जीवन की ओर देखें। माता पिता ने जन्म देकर उन्हे त्याग दिया था, विधाता ने उनके कपाल मे भलाई लिखी ही नही थी, नीच, अपमानित, कायर, कुत्ते की तरह टुकडो के लिए लालायित रहे तुलसीदास अपने बचपन मे,[2] यौवन मे 'मोह मद मात्यो, रात्यो कुमति-कुनारि सो, बिसारि बेद लोक लाज आँकुरो अचेतु'[3] हो गये थे वे, फिर भी प्रभु ने 'छारतें सवारि कै' उन्हे 'पहार हूते भारी' और पचो मे गौरवशाली बना दिया।[4] अत तुलसीदास के स्वर मे जो आत्मविश्वास है, वह सक्रामक है। हृदय से निकली उनकी बातें सुनने वालो के हृदय को प्रभावित करने मे समथ हैं।

प्रभु के और भक्त के आश्वासन देने की विधि मे थोडा अन्तर है। प्रभु की तरह भक्त यह नही कहता 'सखा सोच त्यागहु बल मोरें।' उसका अपना बल तो कुछ है ही नही, 'जनहिं मोर बल' के अनुसार प्रभु का बल ही उसका बल है। अत अपने प्रभु के बल और शील के भरोसे ही वह अपने मन को और दूसरो को भी ढाढस बँधाता रहता है। ऐसा करते समय वह बार बार प्रभु के चरित्र का स्मरण करता है, प्रभु द्वारा अनुगृहीत जनो के उदाहरण दे-

१ मानस ५।४४।१-२
२ कवितावली ७।५७
३ वही ७।८२।१ २
४ वही ७।६९।१-२

देकर अपनी तथा अन्यो की आस्था को पुष्ट करता है। विश्वामित्र, अहल्या, केवट, शबरी, सुग्रीव, विभीषण आदि के उल्लेख के साथ अपने ऊपर की गयी कृपा के वैयक्तिक अनुभव का साक्ष्य जोडकर तुलसीदास ने अनेकानेक उक्तियो मे अपूर्व विश्वसनीयता भर दी है। कवितावली का ऐसा ही एक मार्मिक छन्द है

> सोक समुद्र निमज्जत काढि कपीस कियो जग जानत जसो।
> नीच निसाचर बरी को बधु विभीषन की ह पुरदर कैसो ॥
> नाम लिये अपनाइ लियो, तुलसी सो कहो जग कौन अनसो।
> आरत आरति भजन राम, गरीबनेवाज न दूसर ऐसो ॥[१]

धमशास्त्रियो ने अनैतिक-अनुचित कार्यो से लोगो को दूर रखने के लिए अप राधो और पापो के दुष्परिणामो की भयकर विभीषिका खडी की है। यह ठीक है कि पाप म प्रवत्ति न होने देने मे भय की किंचित उपयोगिता है किन्तु उसके अतिरेक के कारण पाप बोध जबदस्त मनोग्रथि बन जाता है और मनोबल को क्षीण कर जीवन्त मनुष्य को भग्नावशेष मात्र बना देता है। धमशास्त्रियो से विरासत म मिले अतिरजित नैतिकता बोध के कारण अपनी गलतियो के लिए पछतावे की आग म जलते, अपनी ही नजरो मे गिरे, डरे सहमे लोगो के मम को सहलाते हुए तुलसीदास उन्हे बताते हैं कि प्रभु अपने भक्तो के अगाध अपराधो को भी मन म नही लाते, अच्छा बताओ, गणिका, गजेन्द्र, जटायु, अजामिल के पापो की कहीं गिनती भी हो सकती थी, फिर भी प्रभु ने सिर्फ एक बार नाम लेने मात्र से उन्हें अपना लोक प्रदान कर दिया, जहाँ बडे-बडे मुनि भी नही जा पाते, अत चिन्ता छोडकर अनाथो पर सदय दीनदयालु रघुनाथ को भक्तिपूवक भजो

> अपराध अगाध भए जनतें, अपने उर आनत नाहिन जू।
> गनिका, गज, गीध, अजामिल के गनि पातक पुज सिराहि न जू ॥
> लिए बारक नाम सुधाम दियो जिहि धाम महामुनि जाहिं न जू।
> तुलसी भजु दीनदयालुहि रे रघुनाथ अनाथहि दाहिन जू ॥[२]

इसका अर्थ यह नहीं है कि तुलसीदास पाप का समथन करते हैं या उसे अनदेखा करते हैं। इसका अथ व्यावहारिक स्तर पर सिर्फ यही है कि वे पापी को भी आतकित न कर आश्वस्त करते हैं ताकि वह भी नाम जप के द्वारा भक्ति की

१ कवितावली ७।४
२ वही ७।७

ओट ले ले और अनायास ही पापो से मुक्ति पाले। सैद्धान्तिक स्तर पर वे किसी भी पाप को श्रीराम या उनके नाम की पावनकारिणी शक्ति से बड़ा नहीं मानते। उनका गहरा विश्वास है कि प्रसिद्ध से 'प्रसिद्ध पातकी' भी उस 'पाप पुजहारी' से जुड़कर सद्य निष्पाप हो जाता है। अत क्या आश्चर्य है इसमे, कि शास्त्र सत्रस्त जनता ने भक्ति को, तुलसीदास को अपने हृदय का हार बना लिया।

और जब सत्रास के कारण बाहरी हो, प्रतिकूल समाज व्यवस्था या रावणी दु शासन मे हो, तब ? तब भी तुलसीदास प्रभु के चरित्र का स्मरण कर पीड़ित जनता को आश्वस्त करते हैं। तुलसीदास का अपना युग ऐसा ही सत्रासकारी था। राम-रावण के चिरकालीन सघर्ष मे ऐसी स्थितियाँ आती हैं जब रावणत्व सामयिक रूप से विजयी होता प्रतीत होता है। उसके उत्कर्ष के समय भी तुलसीदास का विश्वास विचलित नही होता। उनके अनुसार वह समय कठिन धैर्य का, अपनी मान्यताओ पर अडिग रहते हुए लम्बी प्रतीक्षा का होता है, प्रयोजन होने पर निर्भय बलिदान का होता है। रावण के अत्याचारो से पीड़ित धरती, देव-मुनि गण आदि को आश्वस्त करते हुए प्रभु ने वचन दिया था, 'जनि डरपहु मुनि, सिद्ध, सुरेसा, तुम्हहि लागि धरिहउ नरवसा हरिहउँ सकल भूमि गरु आई, निर्भय होहु देव समुदाई'।[1] तुलसी अपने समय मे ऐसे अवतार की प्रतिश्रुति नही दे सकते थे। फिर भी वे एक अद्भुत भावसत्य का निरूपण कर गये हैं। रामत्व और रावणत्व के सघर्ष मे अन्तिम विजय राम की ही होती आयी है और सदा होगी, इस सत्य का निर्देश करते हुए उन्होने विनय पत्रिका मे लिखा कि कलि के प्रचड प्रताप के कारण पृथ्वी जब मोद और मगल से रिक्त हो गयी थी तब दोनो की विनती सुनकर 'राजाराम जगत विजई' ने हँसकर करुणा की वर्षा से उसे पुन आर्द्र किया और उस सुजान समय प्रभु ने पुण्य की हारती हुई सेना को जिता दिया, 'समरथ बडो सुजान सुसाहिब सुकृत-सेन हारत जितई है।'[2] पुण्य का, सत्य का पक्ष सामयिक रूप से भले हारा हुआ या हारता हुआ प्रतीत हो, पर अन्त मे जीतेगा वही, यह विश्वास सत्पथ पर चलने वालो का रक्षाकवच है, इसी से टकरा टकरा कर उनकी राह के बाधा विघ्न चूर चूर हो जाते हैं। जब रावण का, असत्य और अधर्म का पक्ष बलवान हो तब तुलसीदास के अनुसार 'असमय' बीत रहा होता है। उस

१ मानस १।१८७।१ तथा ७
२ विनय पत्रिका १३६।२१

अवस्था मे व्यक्ति को धीरज, धम, विवेक, साहित्य, साहस, सत्यव्रत और एक मात्र राम के भरोसे पर अवलम्बित रह कर कालक्षेप करना चाहिए 'तुलसी असमय के सखा धीरज, धरम, बिबेक। साहित, साहस, सत्यव्रत राम भरोसो एक।'[१] स्पष्ट है कि तुलसीदास की मायता के अनुसार 'असमय' मे साहित्य कार की जिम्मेदारी बहुत बडी है।

ऐसा भी नही है कि तुलसीदास भीतरी विकारो और बाहरी परिस्थितियों से कभी विकल न हुए हो, विफलताओ के थपेडो से हताश न हुए हो। वे भी मनुष्य थे, अत पीडा, वेदना उन्हें भी व्यापती थी। हताशा के क्षणो म उन्होने ऐसी करुण उक्तिया भी कही हैं, 'कियो न कछु, करिबो न कछु, कहिबो न कछु, मरिबोई रह्यो है'[२] 'मेरोई फोरिबे जोग कपार, किधौ कछु, काहू लखाइ दियो है। काहे न कान करो बिनती तुलसी कलिकाल बिहाल कियो है।[३] किन्तु सामयिक हताशा और बात है, सभावनाहीन निराशा, अर्थहीनता का बोध कुछ और ही है। भगवद्विश्वासी निराश हो ही नही सकता। ससार की तो बात ही क्या, स्वय प्रभु भी यदि उसके प्रति उदासीन रहें तब भी उसके मन मे दृढ आशा रहती है कि प्रभु मुझ पर एक न एक दिन सदय होंगे ही, मेरा जीवन सार्थक होगा ही। चातक के व्याज से अपनी अचल निष्ठा व्यजित करते हुए तुलसी ने लिखा है

जो घन बरषै समय सिर, जो भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहिं, तऊ तिहारी आस॥[४]

पर प्रभु अपने भक्त से उदासीन रह ही नहीं सकते। जन्म के दुखी तुलसी दास को भी लगता है कि प्रभु ने कृपापूवक मुझे अपना लिया है और वे कृतज्ञ स्वरों मे कह उठते हैं 'तुलसी तिहारो भये, भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हूँ।'[५] वे भला यह कसे कह सकते थे कि मेरी प्रीति प्रतीति को देखकर प्रभु ने मुझे अपनाया। ऐसा कहने से एक तरफ तो अपने मे अहकार का उदय होता दूसरी ओर प्रभु की कृपा अहैतुकी होती है, यह सिद्धान्त खडित हो जाता। उनकी इसी विनम्रता और प्रभु निभरता से वह शक्ति प्रकट होती है कि देख कर

१ दोहावली ४४७
२ कवितावली ७।६१।४
३ वही ७।१५७।३-४
४ दोहावली २७८
५ विनय पत्रिका २७५।७

चकित रह जाना पडता है। प्रबल बैरियो के अत्याचार के समक्ष भी तन कर वे कह सकते थे,

'जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै।
होइ न बांको बार भगत को जो कोउ कोटि उपाय करै।।[1]

सच्ची, स्थायी आश्वस्तता प्रभु का आश्रय प्राप्त होने पर ही मन मे आती है क्योंकि फिर अरक्षा की भावना ही नि शेष हो जाती है। राक्षसराज रावण के बल को मथने वाली श्रीराम की विशाल भुजाओ के स्मरण मात्र से यह अगम भव समुद्र सुगम हो जाता है और कोई लाध कर, कोई पैदल ही इसे पार कर जाता है। वे सर्वशक्तिमती भुजाएँ तुलसीदास के अनुसार,

'सरनागत, आरत, प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहै।
करि आईं, करि हैं, करती हैं, तुलसिदास दासनि पर छाहै।।[2]

तुलसीदास को इन्ही भुजाओ की शक्ति और सरक्षा प्राप्त थी। इसीलिए वे परम आश्वस्त, चरम निभय स्वर मे कह सके थे कि किस के कन्धे पर दो सिर हैं जो अभिमान के वशीभूत होकर ईश्वर भक्त की सीमा को उल्लघन करना चाहता है, राम के बाहुबल का आश्रित तुलसीदास (या कोई भी भक्त) सदा अभय है, किसी से भी नही डरता

हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै।
तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।।[3]

तुलसीदास का अर्थात भक्ति साधना का यह आश्वासन क्या आधुनिक मन के ताप को हर सकता है? इसका एक ही उत्तर नही दिया जा सकता। जिनके लिए आधुनिकता की नीव नास्तिकता ही है उनमे से कुछ के लिए यह आत्म-सम्मोहन पर आधारित इच्छाजनित भ्रान्तिविलास है और कुछ के लिए यह वास्तविक पीडा और उस से मुक्ति की इच्छा की पलायनवादी काल्पनिक उलटी तस्वीर मात्र है। इन फतवो पर विस्तृत विचार फिर कभी किया जा सकता है। फिलहाल मेरा कहना यही है कि जो आधुनिक चिन्तक अध्यात्म चेतना को मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं और उसे नकारने का अर्थ मानवो को निरुपाय मनो का दारिद्रय देना समझते हैं उनके लिए तुलसीदास का भक्ति साधना का आश्वासन एक बडी सीमा तक आज भी सार्थक है।

१ विनय पत्रिका १३७।१-२
२ गीतावली ७।१३।१७ १८
३ विनय पत्रिका १३७।११ १२

जुग जैसे विश्वप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने यह सिद्ध किया है कि धर्म चेतना के ह्रास के साथ स्नायु रोगो की वृद्धि का सीधा सम्बन्ध है।[१] डा० जेम्स वेंडर वेल्ट का मत है कि उच्चतर दिव्यशक्ति पर विश्वास मानव की अन्तर्निहित शक्तियो के अभ्युत्थान के अवरोधक कपाट को उन्मुक्त कर देता है।[२] इससे कोई इन्कार नही कर सकता कि आधुनिक जीवन की एक बडी समस्या अरक्षा बोध है जिसके समाधान मे किसी आधुनिक चिन्ताधारा या समाज व्यवस्था को उल्लेख योग्य सफलता नही मिली है। आश्वासन के लिए लालायित सकट ग्रस्त मानवता के पथ प्रदर्शन का उत्तरदायित्व जिन पर है, उन्हें नये पुराने का भेदभाव त्याग कर परिणाम को दृष्टिगत रखते हुए आश्वासन के सभी सभावित स्रोतो को पुनर्परीक्षण करना ही चाहिए। दुनिया भर के सतो (तुलसीदास जिनकी विशाल श्रृंखला की एक प्रमुख कडी हैं) के अनुभव की प्रामाणिकता को, बिना उस अनुभव की विशिष्ट प्रक्रिया से गुजरे, केवल तर्कों के द्वारा उडा देने की चेष्टा पूर्वग्रहयुक्त अहम्मन्यता है, वैज्ञानिकता नही। इन प्रज्ञावादियो की आपत्तियो से अप्रभावित रह कर अपने करुणाविगलित नेत्रो से पीडित सत्रस्त, अपराधबोधग्रस्त मानवता को आश्वस्त करते हुए सहज भाव से तुलसीदास कहे जा रहे हैं कि आओ भाई, सारा प्रपच छोडकर श्रीराम के चरण कमलो म सिर झुका दो, मत डरो, तुम्हारे जैसे अनेकानेक अपराधियो को वे अपना चुके हैं। जो सचमुच सत्रस्त है और आश्वस्त होना चाहता है उसे तुलसी के इस आश्वासन का अनुभवमूलक परीक्षण करना चाहिए

तुलसिदास परिहरि प्रपच सब, नाउ राम पद कमल माथ।
जनि डरपहि, तो सें अनेक खल अपनाये जानकीनाथ ॥[३]

१ देखिये ए डिक्शनरी आफ पेस्टोरल साइकालाजी, पृ० २६७
२ वही २६८
३ विनय पत्रिका ८४।७ ८

तुलसीदास का मनोरथ

मनोरथ मन को एकै भाँति ।

चाहत मुनिमन अगम सुकृत फल मनसा अघ न अघाति ।।[1]

तुलसीदास ने अपने मनोरथो की दिशा और उनकी पूर्ति मे पडनेवाले अतरायो का स्पष्ट सकेत उपर्युक्त पक्तिया म दिया है । वे कहते हैं कि मेरे मनोरथ अनेकानेक भगिमाओ मे, विविध शैलियो मे भले व्यक्त हुए हो पर वे सब के सब मूलत एक ही प्रकार के हैं । बडे बडे मुनियो के मन मे भी यह स्फुरित नही हो पाता कि ऐसा कौन सा पुण्य है जिसके करने पर जिसके फलस्वरूप प्रभु की भक्ति की प्राप्ति हो और वे हतवाक् रह जाते हैं । भला प्रभु की भक्ति भी किसी सुकृत किसी पुण्य के फल के रूप मे किसी को मिलती है क्या ? वे स्वय कृपापरवश होकर किसी किसी महाभाग को अपनी भक्ति दे देते हैं । मेरा ऐसा भाग्य कहाँ और फिर मेरी औकात ही क्या है ? मेरा मन तो पाप करते कभी अघाता ही नहीं फिर प्रभु मुझे अपनी भक्ति कैसे देंगे क्योकि उनकी तो घोषणा है 'निमल मन जन सो मोहि पावा ।'[2] अपनी इस पीडा को अयत्र भी व्यक्त करते हुए उन्होने कहा है 'रक राज ज्यो मन को मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौं ।'[3] अर्थात् साधन की दृष्टि से रक होते हुए भी मेरा मनोरथ तो राजा के परम समय मनोरथ के सदृश है मैं तो प्रभु की भक्ति पाना चाहता हूँ, यह बात मैं प्रभु को छोडकर और किसी को कैसे सुनाऊँ क्योकि सुनाने पर किसी की सहानुभूति का सुख तो मिलेगा नही, उपहास का दु ख ही प्राप्त होगा ।

प्रश्न उठते हैं फिर तुलसीदास ऐसे मनोरथ करते ही क्यो हैं ? भक्ति साधना के क्षेत्र मे मनोरथ बाधक हैं या साधक ? तुलसी के मनोरथो की भूमिका क्या

१ विनय पत्रिका २३३।१ २

२ रामचरित मानस ५।४३।५

३ विनय पत्रिका २३१।२

है, विलक्षणता क्या है, अगागिता क्या है, परिणति क्या है, फलश्रुति क्या है ? तुलसी साहित्य मुख्यत 'विनय पत्रिका' के आधार पर इन प्रश्नो की मीमासा करने के पहले मनोरथ और मनोराज्य के सम्बन्ध मे कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है क्योकि हिन्दी आलोचना मे 'तुलसी का मनोराज्य' ही ज्यादा प्रचलित वाग्प्रयोग है 'तुलसी का मनोरथ' नही।

भक्तवर बैजनाथ जी ने 'विनय पत्रिका' की टीका करते समय विनय की ये सात भूमिकाएँ निर्धारित की थी, दीनता, मानमर्पण, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा।[1] उनके बाद विनय की ये भूमिकाएँ सहज स्वीकृत तथ्य के रूप मे आलोचको द्वारा दुहरायी जाती रही। बैजनाथ जी ने इस वर्गीकरण का कोई प्राचीन आधार नही बताया है। मुझे लगता है कि विनय पत्रिका के पदो के वर्गीकरण के लिए ये भूमिकाएँ उन्होने ही कल्पित कर ली थी। इनमे मानमर्पण, भयदर्शन और भर्त्सना तो दीनता की पुष्टि करनेवाली विधाएँ हैं। अत उनका समाहार दीनता मे ही हो जाता है।

मनोराज्य सज्ञा भी दो कारणो से उपयुक्त ज्ञात नही होती। मनोराज्य का अर्थ है मन का राज्य, कल्पना सृष्टि, बोलचाल की भाषा मे कहे तो हवाई किला या ख्याली पुलाव। स्पष्टत इससे निकलनेवाली अर्थध्वनि सम्माननीय नही है। कहा ही गया है 'मनोराज्यविजृम्भणमेतत्' अर्थात यह निस्सार मानसिक कल्पना-जल्पना मात्र है। अवज्ञापरक अर्थ देनेवाला यह शब्द तुलसीदास की महनीय भावना का वाचक नही होना चाहिए। दूसरे स्वय तुलसीदास ने अपने विशाल साहित्य मे इसका प्रयोग सिर्फ एक बार और वह भी अच्छे अर्थ में नही किया है,[2] जबकि 'मनोरथ' शब्द का प्रयोग उनके साहित्य मे १५, २० बार तो हुआ ही होगा। अतएव 'तुलसीदास का मनोराज्य' की तुलना में 'तुलसीदास का मनोरथ' कही अधिक सगत प्रयोग है।

'मनोरथ' का शब्दार्थ है मन का रथ अथवा मन ही रथ है जिसका। हमारी इच्छाएँ, कामनाएँ, अभिलाषाएँ मन को रथ बनाकर अपने अभीष्ट तक पहुँच जाना चाहती हैं अत उनको मनोरथ कह देते हैं। केवल सकल्पयुक्त अथवा लालसामयी अभिलाषाओ के ही लिए नही, अभीष्ट के लिए भी मनो रथ शब्द का प्रयोग होता रहा है। मनोराज्य की तरह मनोरथ को बिलकुल निस्सार नही माना गया है एव उसका प्रयोग अच्छे विषय से युक्त होने पर अच्छे

१ विनय पत्रिका सटीक—टी० श्री बैजनाथ जी कूर्मवशी—भू० पृ० २
२ मनोराज करत अकाज भयो आजु लगि (कवितावली ७।६६)

अर्थों मे किया जाता रहा है। लका मे हनुमानजी जब श्रीराम की कथा सीताजी को सुनाने के बाद उनके आग्रह पर प्रकट हुए तो वाल्मीकीय रामायण के अनुसार सीता जी को लगा कि वे स्वप्न देख रही हैं। उन्होंने अपने मन को समझाते हुए कहा कि चूकि मैं निरतर श्रीराम का ध्यान करती हूँ, उनका नाम लेती रहती हूँ अत अपने ऐसे मनोरथ के कारण ही मुझे श्रीराम की कथा सुनने को मिली किन्तु न मालूम क्यो श्रीराम के स्थान पर इस वानर को देख रही हूँ

मनोरथ स्यादिति चिन्तयामि
तथाऽपि बुद्धया च वितर्कयामि।
कि कारण तस्य हि नास्ति रूप
सुव्यक्तरूपश्च वदत्यय माम्॥[1]

कालिदास ने कहा है 'धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मा मुरजवाद्यरागोऽयम्। अवतरत सिद्धिपथ शब्द स्वमनोरथस्येव॥'[2] अर्थात् यह मुरजवाद्यराग सिद्धि-पथ की ओर अग्रसर होनेवाले अपने मनोरथ के शब्द की तरह मुझ धैर्यशाली को भी सभ्रमित कर रहा है। मनोरथ के अनुरूप अभीष्ट पदार्थों को प्रदान करने मे समर्थ होने के कारण ही भक्तगण प्रभु को मनोरथकल्पतरु कहते हैं।

यह भी समझ रखना चाहिए कि इच्छा मात्र को मनोरथ नही कहा जा सकता। साधारणत इच्छाएँ व्यक्ति के चेतन मन के अधीन नही होती। कोई नही जानता कि अगले क्षण उसके मन मे कौन सी इच्छा उठ खडी होगी। इच्छा पहले से ज्ञात भी नही होती, मन मे प्रकट होने के बाद ही किसी को उसका पता चलता है। इच्छाएँ युक्तिहीन, निरर्थक, निस्सार, दु खभोगपरक भी हो सकती हैं। उस स्थिति मे वे मनोराज्य के अतर्गत तो मानी जायेंगी, मनोरथ के अतर्गत नही। जब किसी इच्छा मे सम्यक्ता का बोध होता है, सुख की कल्पना होती है और उसे पूर्ण करने की भावना मन मे उठती है तब उसे सकल्प कहते हैं। जब कोई सकल्प दृढ होकर अन्य इच्छाओ को दबाकर प्रधान हो उठता है, चेतन मन का अश बन जाता है और उसकी पूर्ति के लिए सतत लालसा बनी रहती है एव प्रयास भी चलता रहता है तब उसे मनोरथ कहते हैं। मनोरथ का विषय कुछ भी हो किन्तु वह अनिवार्यत सुख की कल्पना से युक्त होता है और उसकी सिद्धि की चेष्टा भले ही शिथिल हो प्राप्ति की लालसा प्रबल होती है। इसीलिए कहा जाता है 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते'

१ वाल्मीकीय रामायण ५।३२।१३
२ मालविकाग्निमित्र १।२२

अर्थात कोई ऐसा विषय नही है जिस तक मनोरथ की गति न हो।

भक्ति साधना की दृष्टि से मनोरथो के दो प्रमुख विभाग किये जाते हैं विषय सम्बन्धी मनोरथ और भगवत्सम्बन्धी मनोरथ। भक्तो के लिए विषय सम्बन्धी मनोरथ विषवत त्याज्य हैं। तुलसीदास ने भक्तो को सावधान करते हुए लिखा है 'विषय मनोरथ दुगम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।'[1] तुलसीदास के अनुसार विषयसम्बन्धी मनोरथ घुन या दीमक के समान है जो जीवन के काठ को बिलकुल खोखला बना देते हैं। सभी जीव इनके कारण दुख पाते रहते हैं, शायद ही कोई बिरला धीर पुरुष इनसे बच पाता है, 'कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा।'[2] तुलसीदास यह भी मानते हैं कि ऐसे मनोरथो से बच पाना हमारे बूते की बात नही है, प्रभु ही कृपा कर उन्हें नष्ट कर दें तभी बात बन सकती है। इसीलिए उन्होंने शिव जी से प्रार्थना करवाई है 'विषय मनोरथ पुज कज बन। प्रबल तुषार उदार पार मन।'[3]

भगवत्सम्बन्धी मनोरथ भक्तो को परम इष्ट हैं। भक्ति मे मन को न नष्ट किया जाता है, न निरुद्ध। भक्त तो अपने मन को भगवान को समर्पित करना चाहता है क्योंकि गीता मे भगवान ने स्पष्ट आदेश दिया है, 'मय्येव मन आधत्स्व'[4] अपने मन को मुझमे रख दो। अब मन कोई स्थूल वस्तु तो है नही और प्रभु भी कोई तिजोरी नही है कि मन को उनमे रखकर बन्द कर दिया जाये। प्रभु मे मन को रख देने का मतलब है मन की वृत्तियो को भगवदाकार बना देना। मन का काम तो सकल्प विकल्प करना ही है न, करने दो उसे भगवान के सम्बन्ध मे सकल्प विकल्प। जहा हम पहुँचना चाहते हैं और अभी तक नही पहुँच पाये है, वहाँ यदि मनोरथ द्वारा पहुँच जायें तो हानि क्या है? उससे वहा पहुँचने की भावना और सुदृढ होगी। इष्ट के प्रति यदि उपयुक्त मनोरथ उठते रहें तो मानना चाहिए कि व्यक्ति भक्ति-साधना मे काफी अग्रसर हो चुका है।

सासारिक जीवो के मनो म तो विषय सम्बन्धी मनोरथ ही उठा करते हैं। भगवत सम्बन्धी मनोरथ उसी के मन मे उठ सकते हैं जिसने सद्गुरु से सुनकर

१ रामचरित मानस ७।१२०।३२
२ वही ७।७०।५
३ वही ६।११४।५
४ गीता १२।८

या सदग्रन्थो का अनुशीलन कर भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम, स्वभाव आदि के सम्बन्ध मे बहुत कुछ जाना हो, उन्हें कल्याणकर माना हो और उनके प्रति प्रीत्यात्मक सस्कार अर्जित किये हो। जैसे-जैसे भगवत् सम्बन्धी सस्कार दृढ होते हैं, वैसे वैसे जगत् सम्बन्धी सस्कार शिथिल होते जाते हैं, उनकी निस्सारता और दु खरूपता उजागर होती जाती है। भागवत मे कहा गया है कि शरणागतो के जीवन मे भक्ति, परमेश्वर का अनुभव और अन्यो से विरक्ति ये तीनो बातें उसी तरह एक साथ होती हैं जिस तरह भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ साथ तुष्टि पुष्टि, और क्षुधानिवृत्ति होती जाती है

भक्ति परेशानुभवोविरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककाल ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नत स्युस्तुष्टि पुष्टि क्षुदपायोऽनुघासम् ॥[1]

आरम्भिक स्थिति मे जब भक्त को लगता है कि उसका अबतक का जीवन इन्ही क्षुद्र सासारिक भोगो को प्राप्त करने की चेष्टा मे बीत गया और अब भी उनका आकर्षण बहुत प्रबल है तब वह दीन हो उठता है। भक्ति के अग के रूप मे उदित इसी दीनता के कारण वह अपने वैयक्तिक अहकार को क्षीण कर आर्तस्वर मे अपने उद्धार के लिए प्रभु से प्रार्थना करने लगता है। जब तक उसकी दृष्टि मुख्यत अपनी ओर अपने पापाचारो की ओर लगी रहती है तब तक उसकी दीनता बढती जाती है। जब गुरु, सन्त, शास्त्र या स्वय प्रभु की प्रेरणा से उसकी दृष्टि प्रभु के अशरण शरण, पतितपावन स्वभाव की ओर उनकी दिव्य आनन्दमयी लीला की ओर जाती है तब उसे आश्वासन प्राप्त होता है। आश्वस्त मन स्थिति में ही वह भगवत सम्बन्धी सतत मगलमय मनोरथ कर पाता है। स्पष्ट है कि भक्ति साधना की दृष्टि से मन की उच्च स्थिति मे ही भगवत् सम्बन्धी मनोरथ स्फुरित होते हैं और उनके कारण एक ओर तो विषय भोग एव जगत की आसक्ति उत्तरोत्तर निर्मूल होती जाती है क्योकि मन अब उधर जाता ही नही दूसरी ओर अन्त करण की वृत्तियाँ प्रभु-मय होती जाती हैं क्योकि वे बार बार प्रभु का मानस स्पर्श करती रहती हैं। यह प्रक्रिया भक्त को अनायास ही भगव मय बना देती है। बात यह है कि एक ओर मनोरथ या मन की प्रबल कामना और मन मे अभेद सा हो जाता है दूसरी ओर मन के रग मे पुरुष या जीवात्मा रँगता जाता है। 'योगवासिष्ठ' मे कहा गया है 'वासना मनसो नान्या मनो हि पुरुष स्मृत'[2] अर्थात वासना (इस

१ श्रीमद्भागवत ११।२।४२
२ योगवासिष्ठ वैराग्य प्रकरण ७

सन्दर्भ मे मनोरथ) मन से अलग नही है और मन को ही पुरुष कहा जाता है। अत यदि निरन्तर एकरस भगवत् सम्बन्धी मनोरथ होते रहें तो निश्चय ही मन भक्ति की उच्चतर भूमिकाओ पर आरूढ होता जायेगा। कामना या मनोरथ की विचित्र क्षमता का निर्देश करते हुए वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है, 'अथ खल्वाहु काममय एवाय पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुभवति यत्क्रतुभवति तत्कर्मकुरुते, यत्कर्मकुरुते तदभिसम्पद्यते'[1] अर्थात निश्चय ही इस पुरुष को काममय कहा गया है, वह जैसी कामना करता है, वैसा ही सकल्प (मनोरथ) करता है, वह जो सकल्प या मनोरथ करता है, उसी की प्राप्ति के अनुरूप कर्म करता है, और जिस उद्देश्य से कर्म करता है, उससे एक हो जाता है अर्थात् उसको पा लेता है।

स्पष्ट है कि भक्ति साधना मे भगवत सम्बन्धी मनोरथो की सम्मान्य भूमिका है। इसीलिए पुराने समय से भक्तगण विविध प्रकार के ऐसे मनोरथ करते रहे हैं। श्रीमदभागवत मे उद्धव जी गोपिकाओ की चरण धूलि प्राप्त करने के लिए वृन्दावन मे कुज, लता, ओपधि हो जाने का मनोरथ करते हैं।[2] नारद पचरात्र मे एक भक्त का मनोरथ है कि हे कमलनयन! आपके नामो का कीर्तन करता हुआ आनन्दाश्रुओ से रुद्ध नेत्र होकर मैं कब यमुना के तट पर नाचता फिरूँगा,

कदाऽह यमुनातीरे नामानि तव कीर्त्तयन्।
उद्बाष्प पुण्डरीकाक्ष! रचयिष्यामि ताण्डवम्॥[3]

भर्तृहरि के वैराग्य शतक मे शान्त भाव के भक्त के मनोरथो को व्यक्त करने वाले कई मर्मस्पर्शी श्लोक हैं। कभी वे कहते हैं कि कब हमारे ऐसे सुदिन होंगे कि हम तो हिमाचल की शिला पर गगा तटपर पद्मासन लगाये ब्रह्मध्यान करते हुए योगनिद्रागत हो जायेंगे और नि शक होकर बूढे बूढे हरिण हमारे शरीर मे रगडकर अपने सीग की खुजली मिटायेंगे,[4] कभी मनाते हैं कि ऐसे दिन भी आये जब चाँदनी रात मे प्रकाशित गगातीर पर सुखपूर्वक शान्त परिवेश में बैठकर भवभोग से उद्विग्न हो आर्त्त स्वर मे शिव शिव शिव की रट लगाते लगाते हमारे नेत्रों से आनन्द के आँसू छलकने लगें।[5] जगद्धर भट्ट

१ वृहदारण्यक उपनिषद् ४।४५
२ भागवत १०।४७।६१
३ हरिभक्ति रसामृत सिन्धु मे उद्धृत १२०वा श्लोक
४ वैराग्य शतक ४०
५ वही ४१

की 'स्तुति कुसुमाजलि' मे और यामुनाचार्य के 'आलवदार स्तोत्र' मे भी भावसमृद्ध मनोरथो के कई मर्म मधुर श्लोक मिलते हैं। वेदान्तदेशिकाचार्य ने 'आलवदार स्तोत्र' की टीका मे यामुनाचार्य के एक विशिष्ट मनोरथ की पृष्ठभूमि को इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'तत्र प्रथमेन स्वविषयभक्तिप्रभावप्रतिपादन प्रीतेन भगवता यथामनोरथ सव करिष्यामित्युक्ते तद्दत्तीव्रभवते स्वस्य तत्पादारविन्दसन्दर्शने कालक्षेपाक्षमत्व व्यनक्ति'[1] अर्थात अपने प्रति भक्ति के प्रतिपादन से पहले ही प्रसन्न हुए भगवान ने जब यह कहा कि तुम्हारा जो भी मनोरथ होगा उसे पूर्ण करूँगा, तब उन्ही के द्वारा दी हुई तीव्र भक्ति के कारण उनके चरणकमलो के दर्शन के बिना एक क्षण भी बिता पाने की अपनी अक्षमता को यामुनाचार्य ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया,

विलासविक्रान्तपरावरालय नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षणम् ।
धन मदीय तव पादपकज कदा नु साक्षात्करवाणि चक्षुषा ।।[2]

अर्थात हे प्रभु, मेरा धन तो आपके चरणकमल ही हैं, जो खेल ही खेल मे बडे छोटे सबको लाँघ जाते हैं और जो नमस्कार करनेवालो के दु खो को दूर करने के लिए सदा तत्पर हैं, इन आँखो से उनके दर्शन मैं कब कर सकूगा ? इस स्तोत्ररत्न में यामुनाचार्य का चरम मनोरथ यह है कि प्रभु कब ऐसा हो सकेगा कि मैं अन्य सभी मनोरथो को छोडकर केवल आपका ही किंकर होकर अपना जीवन को सनाथ बनाकर आपका नित्य अनुस्मरण करते हुए आपको प्रहर्षित कर सकूँगा,

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तर प्रशान्तनिश्शेषमनोरथान्तर ।
कदाऽहमैकान्तिकनित्यकिंकर प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवित ।।[3]

इसी तरह चैतन्य महाप्रभु का प्रेमविभोर मनोरथ है कि हे प्रभु, मेरे जीवन मे वह धन्य क्षण कब आयेगा जब आपका नाम लेने मात्र से (भक्तिरसोद्रेक के कारण) मेरी आँखो से प्रेमाश्रु की धारा बह निकलेगी, मुख मे वाणी गद्गद होकर रुद्ध हो जायगी और सारा शरीर रोमाचित हो उठेगा,

नयन गलदश्रुधारया, वदन गदगद रुद्धयागिरा ।
पुलकैर्निचित वपु कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ।।[4]

१ आलवदार स्तोत्र के तीसवें श्लोक की टीका का प्रास्ताविक
२ आलवदार स्तोत्र ३०
३ वही ४६
४ शिक्षाष्टक ६

रूप गोस्वामीपाद ने स्कन्दपुराण का साक्ष्य देते हुए भक्तिरसामृत सिन्धु में बताया है कि भगवान को लक्ष्य करके वाणी से जो कुछ विज्ञापन या उद्‌गार प्रकट किये जाते हैं उनसे मोक्ष के द्वार की अर्गला खुल जाती है। रूपगोस्वामी के अनुसार ये विज्ञप्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं —'सम्प्रार्थनात्मिका, दैन्यबोधिका, लालसामयी'[1] भक्तों के मनोरथ मुख्यतः लालसामयी विज्ञप्ति के ही अन्तर्गत आते हैं क्योंकि उनमें भगवत्सम्बन्धी उनकी लालसा ही प्रधान रूप से अभिव्यक्त होती है। विनय पत्रिका के एक पद से इस स्थापना का समर्थन होता है। तुलसीदास का मनोरथ है कि प्रभु उन्हें अपना लीला सहचर बना लें, इसके लिए वे पशु, पक्षी, वृक्ष, दास कुछ भी बनने के लिये तैयार हैं इस नाते के जुड़ जाने पर वे नरक में भी सुख का अनुभव करेंगे अन्यथा परमपद प्राप्त कर लेने पर भी दुःख से दग्ध होते रहेंगे। उनके मन में यही लालसा है। वे प्रभु की पादुका पकड़ने के लिए तैयार हैं, वे चाहते हैं कि प्रभु वचन दे दें या अपने मन में ही ठान लें कि तुलसीदास के इस प्रण का वे निर्वाह कर देंगे। प्रीति प्रार्थना से सनी अद्भुत पंक्तियाँ हैं —

> खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
> यही नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥
> इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहिहौं।
> दीजै बचन कि हृदय आनिये तुलसी को पन निबहिहौं॥[2]

इस पूरे विवेचन का निष्कर्ष यही है कि तुलसीदास और अन्य भक्त भी भगवद्भक्ति की एक विशिष्ट भूमिका पर पहुँच जाने पर प्रीतिविवश होकर भगवत् सम्बन्धी मनोरथ करने लगते हैं। ये मनोरथ उनकी भक्ति साधना को न केवल पुष्ट करते हैं बल्कि उसे उन्नततर भूमिका पर आरूढ़ कर देते हैं। हाँ, यह बात जरूर है कि अपनी अपनी रुचि और मान्यता के अनुरूप उनके मनोरथों में कुछ भिन्नताएँ भी होती हैं।

तुलसीदास अपने विचारों और संस्कारों से श्रीराम के अनन्य, कृपानिर्भर, दास्यभाव के निष्काम भक्त थे। उनके मनोरथों में उनकी ये विशेषताएँ अनायास ही परिलक्षित होती हैं। अनन्यता इष्टातिरिक्त अन्यों के आश्रय के त्याग को कहते हैं। राम को छोड़कर किसी अन्य का सहारा न लेने के लिए तुलसीदास इस प्रकार कटिबद्ध हैं कि उस निर्भर अपने चेतन संकल्प पर छोड़ना नहीं

१ भक्ति रसामृत सिन्धु १।२।४८
२ विनय पत्रिका २३१।५ ८

चाहते। उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की है कि यदि मन के किसी कोने में भी किसी दूसरे का सहारा लेकर बात बना लेने की मूढ़ता विद्यमान हो तो प्रभु आप उसे दूर कर दें

> यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
> और आस-बिस्वास भरोसो हरो जीव जड़ताई ॥[1]

इसी अनन्यता के कारण उन्होंने अपने सारे मनोरथ श्रीराम के सम्बन्ध में ही किये हैं एवं एक मात्र प्रभु राम के समक्ष ही प्रकट किये हैं। उन्होंने बार बार इस प्रकार के उद्गार व्यक्त किये हैं, 'तुम तजि हौं का सों कहौं और को हितु मेरे'[2] 'तुलसिदास कासों कहै तुम ही सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितै हौं'[3] आदि आदि। यदि उन्होंने कभी अन्य देवी देवताओं की स्तुतियाँ की भी हैं तो उनसे श्रीराम की भक्ति ही माँगी है जिससे उनकी अनन्यता अबाधित रही है।

दूसरी बात यह कि तुलसी के मनोरथों का अंगी तत्त्व प्रभु श्रीराम की निष्काम भक्ति की याचना है। उनका विश्वास था कि भक्ति कृपा साध्य है, 'रघुपति कृपा भगति पाई'।[4] सन्तों की कृपा भी भक्ति दे सकती है किन्तु सच्चे सन्त तो भगवत्कृपा से ही मिलते हैं, 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही, चितवहिं राम कृपा करि जेही'[5] अतः भक्ति पाने का मुख्य और अचूक स्रोत स्वयं श्रीराम हैं। तुलसीदास यह भी जानते हैं कि राम मनोरथ कल्पतरु हैं। उन्होंने श्रीराम से मानस में बार बार कहलाया है, 'जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं, मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं',[6] 'मोरे नहिं अदेय कछु तोही'[7] आदि। तुलसीदास प्रभु से निवेदन यह करते हैं कि आप महादानी हैं, कुछ भी दे सकते हैं यह तो ठीक है किन्तु याचक को सर्वाधिक सन्तोष तो तब होता है जब उसकी रुचि के अनुसार दान मिलता है। अतः उनकी प्रार्थना है, 'तुलसिदास जाचक रुचि जानि दान दीजै। रामचंद्र चंद्र तू चकोर मोहिं कीजै।'[8] इसी प्रकार

१ विनय पत्रिका १०३।१-२
२ वही २७३।१
३ वही २७०।६
४ रामचरितमानस १।२१०।५
५ वही ७।६८।७
६ वही १।१५०।२
७ वही २।१४९।८
८ विनय पत्रिका ८०।९-१०

'करुनानिधान बरदान तुलसी चहत सीतापति भक्ति सुरसरिनीर मीनता'[1] 'पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति सुधा सुनाज'[2] जैसी उनकी अनेकानेक पक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। मानस के सुन्दरकाड के मगलाचरण मे उन्होंने अभिनिवेशपूर्वक कहा है, 'हे रघुपते मैं सच कहता हूँ कि मेरे हृदय मे और कोई दूसरी अभिलाषा नही है आप अखिल जगत के अन्तरात्मा है अत आप भी इसे जानते ही हैं। मेरी प्रार्थना यही है आप मुझे परिपूर्ण भक्ति प्रदान करें और मेरे हृदय को कामादि दोषो से मुक्त कर दें

> नान्यास्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये,
> सत्य वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
> भक्ति प्रयच्छ रघुपुगव निर्भरा मे,
> कामादिदोषरहित कुरु मानस च ॥[3]

यह भक्ति भी पूर्णत निष्काम होनी चाहिए। राम को साधन बना कर किसी भौतिक वस्तु या स्थिति की प्राप्ति कर लेना तुलसी की दृष्टि मे आत्मघाती मूर्खता है। अत उनकी तो राम से यही विनती है कि—

> चहौं न सुगति, सुमति, सपति कछु रिधि सिधि बिपुल बडाई।
> हेतुरहित अनुराग रामपद बढौ अनुदिन अधिकाई॥[4]

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है, तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ।'[5] बात यह है कि भक्ति न केवल 'त्रिविधि ताप, भवदापनसावनि' एव 'सब सुख खानि' है, न केवल 'भक्ति, भक्त, भगवन्त गुरु चतुरनाम बपु एक'[6] के सिद्धान्त के अनुसार भगवान से अभिन्न है बलिक भक्तो की मान्यता के अनुसार भगवान को वशीभूत कर लेने वाली है। 'भक्ते फलमीश्वरवशीकार'[7] अर्थात भक्ति का फल ईश्वर को वश मे कर लेना है, यह मत तुलसीदास को भी मान्य है। उन्होंने लिखा है कि पवनसुत ने नाम जप रूपी भक्ति के कारण 'अपने बस करि राखे रामू'[8] 'विनय पत्रिका' मे तो उनकी स्पष्ट घोषणा है—

१ विनय पत्रिका २६२।१०
२ वही २१६।१०
३ मानस ५।म० २
४ वि० प० १०३।३ ४
५ दोहावली ६२
६ भक्तमाल १
७ भक्तिमीमासा सूत्र ४।१।१
८ मानस १।२५।६

ऐसी हरि करत दास पर प्रीती ।
निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीती ॥[1]
अतएव भक्ति माँगकर तुलसीदास वस्तुत भगवान को ही माँग रहे है । भ
की याचना से उनकी शरणागति भी किसी तरह व्याहत नही होती वल्कि
पुष्ट होती है । शरणागति के अनन्तर श्री रामानुजाचाय ने भी परज्ञान, प
भक्ति की याचना की थी । तुलसीदास के अन्य सभी मनोरथ इसी अगी
को पुष्ट करने वाले, उजागर करने वाले अगोपागो की तरह हैं ।

तुलसीदास पूणत कृपानिभर हैं । वे यह भी मानते हैं कि उनके मनो
की पूर्ति प्रभु कृपा से ही सभव है । इसीलिए वे आतभाव से प्रभु कृपा
प्रतीक्षा करते हैं, 'नाथ कृपा ही को पथ चितवत दीन हौं दिन राति' ।[2] ऐसा
है कि उन्हे राम कृपा का अनुभव न होता हो । 'जानकीसकी कृपा' ने
अन्य सुजान जीवो को जगाया था, वैसे ही उन्हे भी जगाया था, उसी कृ
की कृपा के सहारे वे अनुभव करते थे, 'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यो बा
बबा के' ।[3] किन्तु कृपा का रहस्य ही ऐसा है कि प्रेम की ही तरह
अधिकाधिक पाने की प्यास बढती ही जाती है । कुछ ज्ञानी भक्त ऐसे भी
है जो सब जगह सब समय प्रभु की कृपा की समीक्षा, सम्यक ईक्षा
रहते हैं, कृपा किसी भी वेष म क्यो न आये, उसे देखते, पहचानते रह
किन्तु दैन्य की आर्त्ति मे तुलसी का मनोरथ कृपा को उसके सहज रूप मे
का और अधिकाधिक पाने का है अत वे प्रभु से उलाहना भरे स्वर म
उठते हैं, 'कृपा सो धौ कहाँ बिसारी राम ।'[4] यह भी कहा जा सकता है
तुलसी के मनोरथो के वत्त मे यदि केन्द्र प्रभु की निष्काम भक्ति प्राप्ति व
तो परिधि कृपा प्राप्ति की है ।

इस परिधि के अन्तगत तुलसी के मनोरथो को मूलत दो भागो मे
जा सकता है (१) सकल्प प्रधान मनोरथ (२) लालसा प्रधान मनोरथ ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि कृपा पर निर्भरता तुलसी को आलसी
बनाती । राम की कृपा से ही सब मनोरथ सिद्ध होते हैं और उनकी
मिलती है, इस विश्वास का अर्थ यह नही है कि भक्त कुछ न करे, हाथ

१ विनय पत्रिका ९८।१ २
२ वही २२१।१
३ वही २२५।८
४ वही ९३।१

हाथ धर कर बैठा रहे। इसका अभिप्राय सिर्फ यही है कि उसे अपने कर्तृत्व का अहकार न हो और फल पाने मे विलम्ब होने पर भी न साधनो के प्रति अविश्वास हो, न हृदय म निराशा आय, इस रक्षाकवच को धारण कर तुलसीदास कितनी निष्ठा के साथ कितनी उच्चकोटि के साधनो के सकल्प का निर्वाह करते थे इसका कुछ अनुमान उनके प्रसिद्ध पद 'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौगो'[1] के विवेचन द्वारा किया जा सकता है। वे भी राम की कृपा से ही सन्त स्वभाव ग्रहण कर इन साधनो को जीवन मे उतार पायेंगे, इस उक्ति का अभिप्राय यही है कि जिन साधनो को करने का सकल्प वे कर रहे हैं, उसके प्रेरयिता या प्रयोजक कर्ता तो श्रीराम है और प्रेरित या प्रयोज्यकर्ता वे स्वय हैं। अपनी समस्त साधना का श्रेय स्वय न लेकर, श्रीराम को देना उनके मूलभूत विश्वास का अग है जिसके कारण वे अपने समस्त गुणो को राम का और दोषो को अपना मानते थे, 'निज दूषनु गुन राम के समुझे तुलसीदास, होय भलौ कलिकाल हूँ उभय लोक अनयास।'[2] इसी तरह उनके कथन 'यथा लाभ सन्तोष' का अर्थ 'यथा उद्यमस तोष' नही है। अपने कार्यक्षेत्र मे परिपूर्ण उद्यम करने के बाद जो मिले उसे सन्तोषपूर्वक ग्रहण करना तुलसी को अभीष्ट है। रामचरितमानस की रचना करने के लिए 'नाना पुराण निगमागम' का जिस प्रकार मन्थन उन्होने किया था, उससे उनके महान् उद्यम का कुछ कुछ अनुमान किया जा सकता है। जो राम से ही भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही चाहता वह दूसरो से अपने लिए कुछ कैसे माग सकता है। इसी प्रकार तुलसी के अन्य अभीष्ट गुण है, निरन्तर परहित मे निरत रहना, मन, वचन, कर्म की एकता का पालन करना, दूसरो के अपशब्दो को शान्तिपूर्वक सहना, अहकार त्याग देना, मन म समता और शीतलता बनाये रखना, दूसरे के गुणो की प्रशसा और दुर्गुणो की उपेक्षा करना, देहजनित चिन्ताओ को छोडकर सुख दुख को समान समझकर सहना। ये सब मानव जीवन के उच्चतम आदर्श है। स्पष्टत तुलसीदास के इन मनोरथो म परिच्छिन्न अहमूलक ऐन्द्रिय सुख भोगपरक मूल्यो की अवहेलना और सर्वहितमूलक सेवा तपस्या परक मूल्यो की स्थापना की गयी है। स्मरण रखना चाहिए कि मानवमूल्यो का निर्माण कुछ विशिष्ट उद्देश्यो की ओर उन्मुख मानव इच्छाओ द्वारा ही किया जाता है। मनुष्य के मनोरथ ही उसके मूल्यबोध को उजागर करते है। ये मनोरथ सच्चे हैं कि झूठे इसकी कसौटी उसका आचरण,

१ विनय पत्रिका १७२

२ दोहावली ४७

उसका चरित्र ही है। जब ऊँचे मनोरथो को तदनुकूल आचरण का समर्थन प्राप्त होता है तब भले अपने लक्ष्य तक मनोरथकर्ता न पहुच पाये, उसका निरंतर उत्थान होता जाता है। आचरणविहीन मनोरथ तो प्रवचना मात्र हैं। तुलसीदास का सारा जीवन इन उदात्त मनोरथो को रूपायित करने की एक विराट साधना है।

तुलसी की दृष्टि मे समस्त साधनो की सार्थकता राम का होकर जीने मे ही है। इसके लिए जो कुछ राम के अनुकूल है, उसे स्वीकारना और जो कुछ राम के प्रतिकूल है, उसे त्यागना अनिवार्य है। अनुकूलता के सकल्प के अन्तर्गत तुलसी ने काशी[1] या चित्रकूट[2] आदि पवित्र क्षेत्रो मे सतस्वभाव के अनुसार जीवनयापन करते हुए रामनाम जप के मनोरथ को ही सब से अधिक प्रमुखता दी है। शम, सतोष, विमल विचार और सत्सग को दृढतापूर्वक धारण करने पर स्रवन कथा, मुखनाम, हृदयहरि, सिर प्रनाम, सेवाकर, अनुसरु। नयनन निरखि कृपा समुद्र हरि अग जग रूप भूप सीता बरु'[3] की स्थिति सध जाती है और उनका मनोरथ मुखर हो उठता है, 'जानकी जीवन की बलि जैहो। चित कहै राम सीय पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहो।'[4] इसी सकल्प मे प्रतिकूलता के त्याग को धारणा गुथी हुई है। अब वे कानो से किसी और की कथा नही सुनेंगे, जीभ से किसी और की बात नही करेंगे, नेत्रो से किसी और को नहीं देखेंगे, सिर्फ प्रभु को ही सिर झुकायेंगे, उन्ही से स्नेहपूर्ण नाता जोड कर और सब नातो को छोड देंगे, और अपना सारा भार प्रभु को सौप कर निश्चिन्त हो जायेंगे। उनका सकल्पयुक्त मनोरथ यह भी है कि राम कृपा से अज्ञान की नीद से जागकर वे अब फिर नही सोयेंगे, अब तक नष्ट हुए तो हुए, अब नष्ट नही होंगे, 'अब लौं नसानी अब न नसैहों'[5] न केवल अपनी हृदय के हाथो से वे नाम की सुदर चिन्तामणि को खिसकने नही देंगे वरन् प्रभु के सुदर रूप की कसौटी पर अपने चित्तकचन के खरेपन की जाँच भी करेंगे। विषयाधीन इन्द्रियो को अपने वश मे कर अब वे फिर कभी हँसी के पात्र नही बनेंगे। इस पद मे सब से अद्भुत और भावपूर्ण सकल्प तो यह है 'मन मधुकर पन करि

१ सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी,—वि० प० २२
२ अब चित चेति चित्रकूटहि चलु, वही २४ आदि
३ वही २०५।३, ५-६
४ वही १०४।१-२
५ वही पद स० १०५

तुलसी रघुपति पद कमल बसैहो।' भौंरा स्वभाव से ही बहुवल्लभ है, उसी प्रकार मन भी नाना विषयो के रस लेता रहता है। उसे प्रतिज्ञापूर्वक एकनिष्ठ बनाकर प्रभु के चरणकमलो मे ही बसा देने का मनोरथ दुष्कर भले हो, सफल होने पर विलक्षण आनन्द दान करने मे समर्थ है। जिस प्रकार कमल के सौंदर्य और सौरभ का रसास्वादन तो और भी कर सकते हैं किन्तु उसके मकरन्द का पान करने मे केवल भ्रमर ही समर्थ है, उसी प्रकार प्रभु का चिन्तन तो बुद्धि भी कर ले सकती है किन्तु उनके प्रेमरसामृत का पान मन ही कर सकता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सकल्प प्रधान मनोरथो को पूर्ण करने का उत्तरदायित्व प्रेरितकर्ता के रूप मे सही, एक सीमा तक तुलसीदास अपना मानते हैं। इसीलिए वे अपनी तरफ से कोई कोर कसर उठा नही रखते। अपने मन को सावधान करते हुए उसे समझाते हैं कि स्वत स्वीकृत अगम मार्ग पर चलना शुरू करके फिर छोटे मोटे प्रलोभनो की छाया मे रुकना नही चाहिए क्योंकि अपना भला अपनी ओर से अपने नियम के निर्विघ्न निर्वाह मे ही है,

एक अग मग अगम गमन करि बिलमु न छिनछिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो, अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहैं।'[1]

इसके बाद उस प्रयास को सफल करने की जिम्मेदारी प्रभु की है, वे जानें। 'यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।'[2]

इसके विपरीत भगवत् लालसा परक मनोरथो को सफल करना पूरी तरह प्रभु के ही हाथो मे है। उनमे अपना कर्तृत्व बिलकुल नही चलता। इन मनोरथो मे निहित लालसा को भी दो भागों मे बाँटा जा सकता है (१) प्रभु को प्रेमदान की लालसा (२) प्रभु से अनुकूल प्रतिदान पाने की लालसा। बात यह है कि पूरी तरह राम का हो जाने के लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिए। एक तो तुलसी का मन राम से लगना चाहिए, दूसरे राम द्वारा तुलसी को अपनाया जाना चाहिए। ये दोनो बातें राम के अनुग्रह से ही सभव हैं। मन कहने के लिए अपना हो सकता है, पर उस पर अपना अधिकार कहाँ है कि उसे अपनी लालसा के अनुसार राम से लगा दें। और राम तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं ही। इसीलिए इन मनोरथो मे सकल्प सम्बन्धी मनोरथो की सी दृढता न होकर छटपटाहट भरी आर्त्ति है।

लालसा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रूप गोस्वामीपाद ने लिखा है,

१ विनय पत्रिका ६४।६।१०
२ वही १०४।८

'अभीष्टलिप्सया गाढगृध्नुता लालसो मत ।
अत्रौत्सुक्यं चपलता घूणश्वासादयस्तथा ।।'[1]

अभीष्ट की लिप्सा से या इस सन्दर्भ में यो कहूं भगवान के लाभ के
से उत्पन्न जो गाढी ललक है, उसे लालसा कहते हैं । इसमे मनोरथ प्राप्ति
त्सुकता भावना की चपलता, उन्मत्तता और भावोच्छलित दीर्घ नि श्वास
का भी समावेश होता है ।

तुलसी की लालसा है कि उनका मन राम से लग जाये किन्तु अपने मन
विकृतियो से परिचित होने के कारण उन्हे भरोसा नही हो पाता कि उनका
राम से लग ही जायेगा । उलझन, अनिश्चय, आशका से लिपटी उनकी
सा इन शब्दो मे प्रकट हुई है ।

रघुबरहिं कबहुँ मन लागिहै ?
कुपथ, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल कपट कब त्यागिहै ?[2]

कुछ तो बुरा ही बुरा चुना है मन ने, रास्ता, चाल, बुद्धि, विषम सम्बन्धी
रथ सब ऐसे है उसके कि वह विष को ही अमृत समझ बैठा है, और
त को विष । उस पर तुर्रा यह कि कपट के कारण वह अपने इस घिनौने
को छिपाकर कुछ और ही दिखाता रहता है अपने को । कब वह अपनी
ी रीति छोडकर प्रभु से प्रेम कर पायेगा ? तुलसी एक युक्ति खोज निकालते
सोचते हैं कि यदि मन अपने द्वारा प्रयुक्त अक्षरो, शब्दो, अर्थों को राम
की चाशनी मे पगाकर उनसे राम के गुण गाये तो स्वामी रीझ जायेंगे और
मांगा इनाम देंगे ।

यह युक्ति भी उन्हें बहुत पक्की नही लगती क्योकि ऐसा भी तो तभी सभव
ा जब मन राम से लग चुका हो । अभी तो सवाल मन लगाने का है ।
हैं लगता है कि यह तभी हो सकता है जब राम स्वय मेरे मन को खीचकर
ने से लगा लें । रूपकात्मक भाषा मे वे कह उठते हैं, प्रभु विषय रूपी जल
मेरा मन रूपी मत्स्य कभी अलग होता ही नही, इसीलिए तुमसे लगता नही
र दारुण दु ख सहता रहता है । प्रभु तुम्हारा कौतुक हो जायेगा और मेरा
द्वार यदि तुम कृपा की डोरी और अपने चरण चिह्न के अकुश की बंसी बना
र उसमे प्रेम का मृदु चारा लगाकर उससे मेरे मन को बेधकर हर लो, अपना
ा लो

उज्ज्वल नीलमणि, शृङ्गारभेद प्रकरण ३३
विनय पत्रिका २२४।१-२

विषय बारि मनमीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
तातें सहिय विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥
कृपा डोरि, बंसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो ।
एहि बिधि बधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥[1]

अच्छा समझ लो कि राम कृपा से मन राम से लग ही गया। तो भी सवाल रह जाता है कि मन कैसे यानी किस भाव से राम से लगे। इस क्षेत्र में तुलसीदास का चुनाव बिलकुल स्पष्ट है। उनकी अभिलाषा है कि उनका मन राम से उसी प्रकार सहज रूप में बिना किसी प्रयास के लगे जिस प्रकार विषयी जनों का मन शरीर, घर, पत्नी, पुत्र, रुपये पैसे से अनायास लगा रहता है। उनको सन्तोष तभी होगा,

जौ मन लागै रामचरन अस ।
देह, गेह, सुत, वित, कलत्र महँ, मगन होत बिनु जतन किए जस ।[2]

उन्हें इस बात का अफसोस ही रह गया कि उनका मन उस प्रकार निश्छल भाव से कभी राम से नहीं लगा जिस प्रकार स्वाभाविक रूप से विषयों से लगा रहता है। वे राम को पुकार कर कह उठते हैं,

यो मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो ।
ज्यों छल छाँडि सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो ॥[3]

इसी पद में विस्तार से उन्होंने बताया है कि वे चाहते हैं कि जिस ललक से आँखें परस्त्री को देखती हैं उसी ललक से वे प्रभु के, साधुओं के दर्शन करें, जिस चाव से कान घर घर के पाप प्रपंच सुनते हैं, उसी चाव से श्रीराम की निर्मल गुणगाथा सुनें, जिस प्रकार नाक सुगन्ध के लिए और जीभ षटरस व्यंजन पाने के लिए आकुल रहती है उसी प्रकार राम के प्रसाद की माला और जूठन के लिए भी वे आकुल रहें। इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह कि राम के प्रति उनका प्रेम विधिमूलक या गुरु, सन्त, शास्त्र आदि की आज्ञा के ही कारण न होकर रागात्मक हो जाये, स्वाभाविक हो जाये।

तुलसीदास राम से कितना गहरा, कितना प्रबल, कितना पावन प्रेम करना चाहते है इसका कुछ अनुमान उनके प्रसिद्ध पद 'राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जसे

१ विनय पत्रिका १०२।५ ८
२ वही २०४।१ २
३ वही १७०।१ २

नीर मीन को'[1] के द्वारा किया जा सकता है, जिसम एक के बाद एक कई उपमाएँ देकर उन्होने अपने अभीष्ट प्रेम की प्रगाढता को समझाना चाहा है। फिर भी क्या वे पूरी तरह समझा पाये है ? पहली ही उपमा के माध्यम से वे कहते हैं, हे राम क्या तुम मुझे कभी उतने प्रिय लगोगे मछली को जितना प्रिय पानी लगता है। ध्यान देने की बात है कि मछली का जीवन ही पानी पर निभर है, उसके बिना वह तडप-तडप कर मर जाती है, केवल इतना ही अभिप्राय इस उपमा का नही है। इसम यह भी ध्वनित है कि मछली का सुख भी पानी पर निभर करता है। पानी जितना अधिक होता है, मछली उतनी ही सुखी और जितना कम होता है उतनी ही दुखी होती है। इसी तरह तुलसी चाहते हैं कि राम प्रेम उनका जीवन हेतु भी हो और उसकी प्रचुरता उनके सुख का कारण भी। उनके एक दोहे मे उनके इस मनोरथ का यह भाव खोलकर कह दिया गया है,

'राम प्रेम बिनु दूबरो, राम प्रेम ही पीन।
रघुबर कबहुँक करहुगे, तुलसी ज्यो जल मीन ॥'[2]

उपर्युक्त पद की अन्य उपमाओ द्वारा इगित किया है तुलसी ने कि जैसे जीव को सुखमय जीवन, साप को उसकी मणि और लोभी को धन प्रिय लगता है जसे चतुर युवानायक को अपनी प्रिया प्यारी लगती है वैसे ही इन सब की प्रियता की समष्टि के रूप मे श्रीराम से पवित्र, प्रगाढ प्रेम करने की लालसा मेरे मन मे जगे। जीवन के विविध स्तरो से चुनी गयी इन उपमाओ द्वारा प्रेम की स्वाभाविकता, एकोन्मुखता, सततता और उद्दामता का क्रमश आभास मिलता है। परन्तु इसके बाद भी बहुत कुछ अनकहा रह जाता है, उसे तुलसीदास ने 'मनसा' मे समेट लिया है और प्रभु से प्राथना की है कि मैं तुम्हे मन भरकर प्यार कर सकू, यह वरदान मुझे दो।

यह भी समझ रखना चाहिए कि तुलसीदास राम से इतना प्रेम परलोक स्वर्ग, साकेत आदि मे जाकर नही इसी धरती म, इसी जन्म मे बल्कि बार-बार जन्म लेकर करना चाहते हैं मुक्ति उनके लिए तुच्छ है। उन्होंने साफ कहा है,

'को जाने को जैहै जमपुर, को सुरपुर, परधाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को॥'[3]

१ विनय पत्रिका २६९
२ दोहावली ५७
३ विनय पत्रिका १५५।९-१०

राम के सेवक का इसी जगत् का जीवन तुलसी को इतना प्रिय है कि उन्होंने भगवती गगा से कह दिया कि यद्यपि तुम बनाने मे समर्थ हो तथापि मैं न *विष्णु बनना चाहता हूँ, न शिव, मैं तो बार-बार जन्म लेकर राम भक्त के रूप* मे तुम्हारे किनारे रहना चाहता हूँ,

बरु बारहि बार सरीर धरौं रघुबीर को ह्वै तब तीर रहौंगो।
भागीरथी ! बिनवौं कर जोरि, बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो ॥[1]

इतना प्यार लेकर तुलसी अपने राम की सेवा करना चाहते थे तभी तो उन्होंने अपने काव्यो मे सेवा के अद्भुत मानदड स्थापित किए हैं।

तुलसीदास चातक की एकागी भक्ति को एक बडी सीमा तक अपना आदश मानते थे। 'एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास'[2] कहकर उन्होंने अपना तादात्म्य भी उसके साथ कर दिया था। बादल रूपी प्रेमपात्र समय पर प्रेम का प्रतिदान बरसाये या जीवन भर उदास रहे, इससे निरपेक्ष होकर वे अपनी प्रेमतृष्णा को बढाते जाने के पक्ष मे थे। फिर दास्य भाव के भक्त होने के कारण वे मर्यादा मे भी बँधे थे और स्वामी की इच्छा को अपनी इच्छा बनाने के अभ्यास के कारण अपनी इच्छा का निवेदन करने मे भी सकोच का अनुभव करते थे। किन्तु जैसे चातक भी स्वाति का जल ग्रहण करता ही है वैसे ही तुलसीदास भी बहुत शील सकोच के साथ यही मनोरथ प्रार्थना के रूप मे निवेदित कर पाते हैं 'कबहुँ कृपा करि रघुबीर माहूँ चितैहौं'[3] हे राम जी *कभी कृपा कर मुझे तुम एक बार देख लोगे ? उनका यह आग्रह भी नहीं है कि* प्रभु प्रेमपूर्ण चितवन से ही उन्हे देखें। अपने और अपने गुरुजनो के अनुभवो के आधार पर वे कहते हैं

बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि, बिनु बेर।
कृपा, कोप, सति भायहुँ, धोखहुँ, तिरछेहुँ राम तिहारेहि हेरे॥[4]

हे राम बहुत से पतित बिना किसी नौका या बेडे के बिना किसी साधन के ही इस ससार समुद्र को पार कर गये क्योकि तुमने किसी को कृपा से, किसी को क्रोध से किसी को सच्चे भाव से, किसी को धोखे से, किसी को तिरछे नेत्रो स देख लिया था। प्रभु मुझे भी एक बार देख लो, जो दृष्टि तुम्हे उचित लगे,

१ कवितावली ७।१४७।३-४
२ दाहावली २७७
३ विनय पत्रिका २७०।१
४ वही २७३।३-४

उसी से देखो, पर देखो जरूर, 'जो चितवन सोधी लगे चितइये सबेरे। तुलसिदास कीजै न ढील अब जीवन-अवधि अति नेरे।' और अब ढिलाई मत करो, जल्दी ही देखो क्योंकि जीवन की सीमा अब बहुत निकट आ गयी है।

फिर उन्हें लगता है कि केवल राम ही मुझे देखें, इतना ही काफी नही है। मैं भी तो राम को प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य कभी प्राप्त करूँ। अच्छा पूरे दर्शन न सही, चरणो की झलक ही सही। अभिलाषा, उत्कठा, आर्त्ति का अद्भुत समाहार है लालसा भरे उनके इस मनोरथ मे, 'कबहिं देखाइहौ हरि चरन।'[1] प्रभु, कभी अपने उन चरणो के दशन कराओगे, जो कलिकाल के समस्त क्लेशो को दूर कर, सभी मगलो का विधान करने वाले हैं, जो शरत्काल के नये खिले लाल रग के कमलो जैसे हैं, जो लक्ष्मी जी के कोमल करो द्वारा सेवित और अनुपम शोभाशाली हैं, जो गगा के जनक, शिव के प्रिय और वामन रूप मे बलि को छलने वाले, अहल्या, नृग और वधिक तक के दारुण दु खो-दोषो को नष्ट करने वाले, सिद्धो, देवताओ, मुनियो द्वारा वन्दित और उन्हे सुख तथा सबको शरण देने वाले हैं, जिनका एक बार भी हृदय मे ध्यान करने पर कोई भी तर सकता है, दूसरो को तार सकता है। प्रभु के चरणो की महिमा का वणन करते उनकी भावनाओ मे प्रेम का ज्वार आ जाता है, दशन की उत्कठा सीमा पार कर जाती है, एक क्षण का विलम्ब भी उन्हे असह्य लगने लगता है और वे कातर स्वर मे पुकार उठते हैं,

कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति हरन।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन॥

दशन लालसा की तीखी प्यास के कारण प्राण निकलना ही चाहते है, ओ भक्तो के कष्टहारी, कृपासिन्धु प्रभु अब तो दर्शन दो। इस मम तुद पीडा बोध से तुलसीदास के रामप्रेम की गहराई और सच्चाई का कुछ-कुछ आभास हमे मिलता है। ऐसा ही एक और मर्मस्पर्शी मनोरथ है तुलसीदास का 'कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।'[2] सिर पर हाथ रखने का अथ है तुम जैसे भी क्यो न हो, तुम्हे पूरी तरह से अपना लिया। यह मनोरथ करते समय सभवत तुलसी के अ तमन मे वह दृश्य कौंध गया होगा जब प्रभु ने हनुमान जी के सिर पर हाथ रखा था, पावती को कथा सुनाते समय अपने हनुमदवतार के उस प्रसग को स्मरण कर शिव जी भावमग्न हो गये थे। 'प्रभु

१ विनय पत्रिका २१८
२ वही, पद १३८

कर पकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।'[1] उसी प्रकार प्रत्यक्ष मेरे सिर पर भी प्रभु हाथ रख दें, मैं उनके स्पर्श से पुलकित हो उठू, उनके दशन पा कर कृताथ हो जाऊ, यह सोचते-सोचते आवेग-विह्वल स्वर मे तुलसीदास कह उठे होंगे रघुनायक, कभी तुम अपना वही करकमल मेरे सिर पर रखोगे वही कहने का तात्पर्य है प्रभु के कोमल शील स्वभाव का उजागर करन वाले प्रसगा के नायक कर कमल। इन प्रसगो के उल्लेख का उद्देश्य है एक आर प्रभु की करुणा को उद्दीप्त करना और दूसरी ओर अपने चित्त को आश्वस्त करना कि जब इतने लोगो को उनके कर कमल के स्पर्श का महाप्रसाद मिल चुका है तो मुझे मिल भी सकता है मिलेगा। आत भक्तो द्वारा विवश होकर भी एक बार नाम पुकारने पर ही प्रभु जिस करकमल से उन्हें अभय प्रदान कर देते हैं, जिस कर कमल से कठार शिव धनुष को भग कर उन्होंने जनक का सशय दूर किया था, केवट को उठाकर भाई की तरह गले से लगा लिया था, जटायु का अन्तिम सस्कार किया था, वालि का वध कर सुग्रीव को कपीस बना दिया था, भयभीत शरणागत विभीषण का राजतिलक किया था, रावण वध कर देवताओ को निभय किया था, जिसकी शीतल सुखद छाया समस्त पाप-ताप माया की निवृत्ति कर देती है, रात दिन उसी करकमल की छाया पाने के लिए तुलसीदास बेकरार हैं। मूल पद मे बार-बार 'जेहि कर कमल का उल्लेख उसे पान की गहरी आसक्ति भरी कामना का सूचक है।

राम मुझे देखें, वे भी मुझे देखें, मैं भी उन्हें देखू, उनका स्पर्श भी पा लू दास्य भाव के भक्त के मनोरथों की यह सीमा सी है। तुलसी इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते किन्तु अपनी समस्त आकुलता, अपनी समस्त आग्रह क्षमता, भक्ति से ही प्राप्त प्रभु के प्रति अपनी समस्त अधिकार भावना को पुजीभूत कर वे बार-बार यह लालसा भरी भाव विह्वल गुहार जरूर लगाते है, अपना सर्वोच्च मनोरथ अवश्य प्रकट करते हैं कि राम तुम कभी मुझे अपना मान लो, मेरा कोई दावा नही है अपने साधनो के द्वारा तुम्हारा बन पाने का, किन्तु अपने विरद की लज्जा रखने के लिए क्या कभी तुम मुझे अपनाओगे,

'आपनो कबहुँ करि जानिहो।
राम गरीबनिवाज राजमनि विरदलाज उर आनिहो।'[2]

राम मुझे किसी तरह भी अपना मान लें, जो चाहे, वही नाता मुझसे जोड लें

१ मानस ५।३२।२
२ विनय पत्रिका २२३।१-२

तुलसी ने इस मनोरथ को सबसे अधिक महत्त्व दिया है, निम्नाङ्कित पंक्तियों से यह स्पष्ट है, 'बारक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो'[१] 'तोहि-मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै'[२] 'खीझि रीझि बिहँसि अनखि क्यों हूँ एक बार तुलसी तू मेरो बलि कहियत किन'[३] 'कहै ही बनेगी, कै कहाए बलि जाऊँ राम तुलसी तू मेरो हारि हिये न हहरु'[४] 'तेहि कौतुक कहिए कृपालु तुलसी है मेरो'[५] ज्यों-त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायहि पर बनिहै'[६] इत्यादि। तुलसीदास प्रभु से यह क्यों कहलाना चाहते हैं कि 'तू मेरा है'? इसके लिए वे ऐसा विकट सकल्प क्यों करते हैं, 'प्रन करि हौ हठि आजु ते राम द्वार पर्यो हौं। 'तू मेरो' यह बिनु कहे उठि हौं न जनम भरि प्रभु की सौं करि निवर्‌यो हौं।'[७] बात यह है कि तुलसी अपनी ओर से प्रभु की 'भक्तिमूला प्रपत्ति' ग्रहण कर चुके हैं किन्तु प्रपत्ति या शरणागति की पूर्णता तभी होती है जब प्रभु उस पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दें। शरणागति शास्त्र के अनुसार स्वगत स्वीकार प्रपत्ति अधूरी है, 'परगत स्वीकार' के द्वारा ही शरणागति सुसम्पन्न होती है। अत तुलसीदास बार बार प्रभु से यह प्रार्थना करते रहते हैं कि वे प्रकट अप्रकट किसी भी रूप मे उन्हे अपना लें, 'तू मेरा है' यह आश्वासन दे दें।

प्रभु की शरणागतवत्सलता पर असीम विश्वास के कारण तुलसीदास के चित्त मे कभी-कभी उल्लासात्मक और कभी कभी क्षोभात्मक स्फुरण भी हुआ है। एक मात्र प्रभु के आश्रय का उनका भरोसा बिलकुल पक्का है, इसके लिए वे कठिन से कठिन परीक्षा देने के लिए तैयार है। यदि वह झूठा साबित हो तो प्रभु इस शरीर की दु सह दुर्गति करें किन्तु यदि सच्चा साबित हो तो तो तुलसीदास की लालसा है कि प्रभु पचो के मध्य उनके चातक सदृश प्रण को प्रमाणित करने के लिए अपने हाथ स पान का बीडा दें, 'साँचि परै पाऊँ पान, पचन मे पन प्रमान, तुलसी चातक-आस राम स्याम घन की।'[८]

१ विनय पत्रिका ८८।१२
२ वही ७६।७
३ वही २५३।५
४ वही २५०।८
५ वही १४६।१०
६ वही ६५।६
७ वही २६७।१-२
८ वही ७५।११-१२

इसी तरह जब भावावेग में तुलसी को लगता था कि प्रभु ने उनकी उपेक्षा कर दी है, वे न उन्हें अपना कर अच्छा ही बना रहे हैं, न त्याग कर शरीरान्त ही करवा रहे है तो रोष क्षोभ मे कह उठते हैं 'ढील किए नाम महिमा की नाव बोरिहौ'[1] जब उन्हें लगता है कि प्रभु ने अजामिल, अहल्या, गज, गीध आदि को तो पापी समझ कर नाम लेने मात्र से या यो ही कृपा परवश होकर तार दिया और मुझ जैसे पापी शिरोमणि को (जिसके पासग बराबर भी वे लोग नहीं थे) बिलकुल अनदेखा कर दिया तो क्रोध भरे शब्दो मे वे कहते हैं जसे भाट लोग जिससे कुछ न पाकर अप्रसन्न होते हैं उसके नाम का पुतला बनाकर उसकी निन्दा करते हुए उसे लिए फिरते हैं, वैसे ही तुम्हारी करतूत को, तुम्हारी बदली प्रकृति को उजागर करने के लिए मैं भी तुम्हारा पुतला बनाऊँगा क्योकि मुझसे अब अपना उपहास सहा नही जाता, अब भी चेत जाओ, और मुझे अपना लो,

> 'हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते ।
> अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मो पै परिहास एते ॥'[2]

इस प्रेम कलह के प्रसग मे अनायास याद आ जाता है नारद का कथन, 'तदर्पिताखिलाचार सन् कामक्रोधाभिमानादिक तस्मिन्नेव करणीयम्'[3] अर्थात् अपने सब आचार भगवान को अर्पित कर चुकने पर यदि काम, क्रोध अभिमा नादि हो तो उन्हे भी उनके प्रति ही करना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि इन उद्‌गारो का तात्पय भी यही है कि प्रभु उन्हे शीघ्र अपनालें, यह नहा कि वे सचमुच प्रभु से अपना सम्मान करवाना चाहते थे या उनका अपमान करना चाहते थे । प्रभु के प्रति तुलसीदास की अविचलित निष्ठा के उल्लसित या विक्षुब्ध मनोविलास के रूप म ही ऐसे प्रकरणो को देखना समीचीन होगा।

'विनय पत्रिका' तुलसीदास की वैयक्तिक भाव साधना का प्रामाणिक दस्ता वेज है । इसमे उनके अन्तप्रदेश मे उठने वाले मनोभावो का विश्वसनीय चित्रण है । यह देखकर हर्ष होता है कि इसम भी तुलसीदास केवल अपने लिए प्रभु से प्रार्थना नही करते, जीव मात्रा के, चराचर के मगल के लिए प्रभु की करुणा की वर्षा कराना चाहते हैं । 'अपने प्रभु को' सर्व सौभाग्यप्रद, सर्वतोभद्रनिधि,

१ विनय पत्रिका २५८।१६
२ वही २४१।६-१०
३ नारद भक्ति सूत्र ६५

सब, सर्वेस, सर्वाभिराम'[1] मानने के कारण उनकी दृष्टि मे वही भक्त श्रेष्ठ था जो 'सवभूतहित, निब्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एक रस'[2] हो। जगत की पीडा से सन्तप्त होकर राम के दरबार मे उन्होंने हाँक लगायी थी,

दीनदयालु दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव दुआर पुकारत आरत सब की सब सुखहानि भई है।।[3]

इस लम्बे पद मे समाज की दुदशा का मार्मिक चित्रण करने के बाद कलिकाल को दडित कर पीडित जनगण की व्यथा हर लेने की प्राथना प्रभु से तुलसी ने की है और यह मगलमयी कल्पना भी की है कि प्रभु ने उनकी बिनती सुनकर करुणा की वर्षा कर जगत् का सारा सन्ताप हर लिया एव राम राज्य की स्थापना हो गयी,

बिनती सुनि सानद हेरि हँसि करुना बारि भूमि भिजई है।
राम राज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत विजई है।।[4]

तुलसी के मनोलोक के जिस सत्य का वैयक्तिक प्रकाश तुलसी की विनय पत्रिका की स्वीकृति मे हुआ है, उसी का सावजनिक रूप इस प्रार्थना की स्वीकृति मे निखरा है। लोक-हित, साधन एव लोक पीडा निवारण तुलसी की चेतना के प्रमुख अग हैं, इस सत्य की पुष्टि 'कवितावली' के उत्तरकाड के अनेक छन्दो से भी की जा सकती है। इस प्रसग मे केवल एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। समाज के विविध स्तरो के व्यक्तियो को जीविका विहीन पाकर बडवा नल से भी पेट की आग बडी है, ऐसा मानने वाले तुलसी ने राम से प्राथना की थी कि दारिद्रय रूपी रावण ने सारी दुनिया को दबा रखा है, हे दुरित दहन, तुलसी हाहा खाकर तुमसे प्रार्थना करता है (कि तुम उसका विनाश कर जगत को आनन्दित करो!) 'दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु दुरितदहन देखि तुलसी हहा करी।'[5]

तुलसीदास या किसी भी भक्त के मनोरथ क्रमश दढ होते हुए मानसी सेवा मे परिणत हो जाते हैं। मनोरथ करते करते जब मन प्रभु से लगने लगता है तब सेवा पूजा के लिए बाहरी उपकरणो की आवश्यकता नही रह जाती।

१ नारद भक्ति सूत्र ५३।१
२ वही २०४।५
३ वही १३६।१-२
४ वही १३६।१६ २०
५ कवितावली ७।६७।७-८

वल्लभाचार्य ने बताया है कि शरीर से और रुपये पैसे से की गयी सेवा को क्रमश तनुजा, वित्तजा सेवा कहते हैं। इनका उपयोग मानसी सेवा की सिद्धि के लिए ही है चित्त का प्रभु की ओर प्रवण हो जाना उनकी ओर वृत्तियो के रूप मे निरन्तर प्रवाहित होते रहना ही मानसी सेवा है। यह मानसी सेवा ही प्रभु की समस्त सेवाओ मे सर्वोत्कृष्ट है। वल्लभ का सुप्रसिद्ध श्लोक है

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणसेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा ॥[1]

निश्चय ही भगवत् सम्बन्धी उत्कृष्ट मनोरथ करते करते तुलसी की मनोवृत्तियाँ रामाकार हो गयी होगी और प्रभु की मानसी सेवा उनके लिए सहज हो गयी होगी, किन्तु तुलसीदास ने अपनी मानसी सेवा का कोई विवरण देना उचित नही समझा है। अत उसके बारे म कुछ कहने की स्थिति मे हम नहीं हैं।

भगवत्सम्बन्धी मनोरथ यदि सच्चे हो तो उनकी फलश्रुति स्वय भगवत्प्राप्ति ही होती है। मन जब प्रभु मे लग जाता है तो भगवदाकार ही हो जाता है क्योकि मन का अपना कोई स्वरूप है ही नही। मन के भगवदाकार हो जाने पर बुद्धि उसका चिन्तन करने के लिए विवश हो जाती है क्योकि उसके सामने एक मात्र विषय भगवान ही रह जाते हैं। मन के साथ-साथ बुद्धि भी जब भगवान मे निविष्ट हो जाती है तब भक्त भगवन्मय हो जाता है, उन्ही मे निवास करता है। गीता मे प्रभु ने अर्जुन से कहा ही है कि अपना मन मुझमे रख दो, अपनी बुद्धि मुझमे सन्निविष्ट कर दो और नि सशय हो जाओ कि उसके बाद तुम मुझमे ही निवास करोगे,

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न सशय ॥[2]

१ सिद्धान्त मुक्तावली १, २
२ श्रीमद्भगवद्गीता १२।८

तुलसीदास की विचारणा के कुछ विशिष्ट विन्दु

तुलसीदास की विचारणा का अर्थ है उनकी विचार प्रक्रिया की पद्धति और उपलब्धि। यह स्मरण रखना चाहिए कि तुलसीदास मूलत भक्त कवि थे। अत उनकी विचारणा मे दो विशिष्टताएँ उनकी इस भूमिका के कारण स्वत आ गयी थीं। पहली तो यह कि उनकी विचारणा काव्य के अग के रूप मे अभिव्यक्त हुई है अत विशुद्ध दार्शनिक विचारक की प्रणाली से वह कुछ भिन्नता लिए हुए है। वह व्यापक वैविध्यपूर्ण जीवन अनुभवो से उदभूत है और इसीलिए प्रबन्ध काव्यो मे कथा प्रयोजन से अनुशासित और मुक्तको मे तुलसी की रचनाकालीन मानसिकता से अनुरजित है। दूसरी यह कि मूलत भक्त होने के कारण उनकी विचारणा का प्रमुख लक्ष्य भजनीय के एव अपने स्वरूप की अधिगति, भजनीय से अपने सम्बन्ध का निर्णय, जगत की वास्तविक सत्ता का बोध तथा अपने जीवनलक्ष्य के सन्दर्भ मे जगत से व्यवहार करने की पद्धति का निश्चय करना ही है।

तुलसी के विचार यो तो उनकी समस्त कृतियो मे परिलक्षित होते हैं किंतु मूलत श्रीराम चरित मानस और विनय पत्रिका का आधार लेकर ही उनका विवेचन किया जाता रहा है। मुझे लगता है कि इस सन्दर्भ मे दो दृष्टियो से सतर्कता बरतनी चाहिए। कथाप्रधान रामचरित मानस मे देश, काव्य और पात्र को दृष्टि मे रखकर विचार व्यक्त किये गये हैं। उसमे अभिव्यक्त समस्त विचारो को तुलसी का मत मान लेने स कई भ्रातियाँ हो सकती हैं उदाहरण के लिए सागर जैसे अधम पात्र द्वारा कथित 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी'[1] जैसी उक्ति को तुलसी का मत बताकर उनका अपमान करने का दुस्साहस करने वाले तथाकथित बुद्धिमानो की कमी नहीं है। क्या आज के किसी उपन्यास के किसी अधम पात्र की उक्ति को उपन्यासकार का मत बताना बुद्धि सगत माना जा सकता है? अन्य पात्रो की तुलना मे श्रीराम, शिव,

१ मानस ५।५८।६

लक्ष्मण, काकभुशुंडि, याज्ञवल्क्य आदि के मतों को तुलसी की अपनी दृष्टि से एक सीमा तक जोड़ा जा सकता है किन्तु इन पात्रों ने भी सम्बोध्य और सदर्भ को दृष्टिगत रखकर ही अपनी बात कही है। अतः कभी-कभी उनकी उक्तियाँ भी परस्पर विरोधी सी लग सकती हैं। प्रस्तुत है एक उदाहरण—श्रीराम मानस के उत्तर काण्ड में अयोध्या वासियों से कहते हैं कि मानव शरीर पाकर भी परलोक न सँवार पाने वाले स्वयं दोषी है, वे अपनी त्रुटियों के लिए काल, कर्म, ईश्वर को झूठमूठ दोषी ठहराते हैं।

'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।'

सो परत्र दुख पावई सिर धुनि धुनि पछिताइ।

कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥[१]

किन्तु स्वयं श्री राम ही कैकेयी अम्बा को समझाते समय इन्हीं तत्वों को दोषी ठहराते हैं

प्रथम राम भेंटी कैकेयी। सरल सुभायँ भगति मति भेई।

पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिरधरि खोरी।[२]

स्पष्टतः इस दूसरे प्रसंग में श्री राम का उद्देश्य दुखी कैकेयी को सांत्वना देना है, सिद्धान्त का निरूपण करना नहीं।

जिस तरह देश, काल, बौद्धव्य के अनुसार प्रबंध काव्य के पात्रों की उक्तियों में थोड़ा थोड़ा परिवर्तन होता है उसी तरह मुक्तक काव्य के रचयिता की मनःस्थितियों के भेद के कारण उसकी अपनी उक्तियों के विचारों, भावों में थोड़ा थोड़ा अंतर आ सकता है। विनय पत्रिका में तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है —

'अति आरत अति स्वारथी, अति दीन दुखारी।

इनको बिलगु न मानिए बोलहिं न बिचारी॥[३]

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि श्री राम चरित मानस के उत्तम पात्रों और विनय पत्रिका की उन्हीं उक्तियों को प्रमाणकोटि के अंतर्गत लेना प्रशस्त होगा जो संयत, शान्त, मन स्थिति की अभिव्यक्तियाँ है। इनमे भी विनय पत्रिका की विचारपरक उक्तियां तुलसी की वैयक्तिक मान्यताओं को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ मानी जानी चाहिए।

भक्ति साधना में विचार का विशेष प्रयोजन नहीं है, यह धारणा भ्रान्त

१ मानस ७।४३

२ वही २।२४४।७,८

३ विनय पत्रिका ३४।१ २

है। भक्ति का अर्थ है भजनीय के प्रति परानुरक्ति। बिना कुछ जाने तो किसी के प्रति अनुराग हो ही नहीं सकता। गुरु या सन्तों से अपने भजनीय प्रभु के नाम, रूप, लीला, गुण आदि के सम्बन्ध में सुनकर, भक्ति के ग्रन्थों को पढ़कर तदनुरूप भगवदाकार हो गई वृत्ति के अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में भक्ति का अनुभव होता है। इसीलिए भक्ति में भी विचारणा का महत्वपूर्ण स्थान है। गीता के भक्तियोग नाम से विख्यात द्वादश अध्याय में भगवान का स्पष्ट आदेश है—'मयि बुद्धि निवेशय'[1]

अर्थात् मुझमें ही निश्चय करने वाली बुद्धि को स्थिर कर लगा दे। प्रभु के स्वरूप स्वभाव आदि का सम्यक् बोध हो सके इसके लिए सत्संग करना, विचार करना आवश्यक है। जैसे-जैसे भक्ति दृढ़ होती जाएगी वैसे-वैसे वह अन्तःकरण के रागद्वेष को निवृत्त करती जाएगी। भक्ति रागात्मक वृत्ति है। वह द्वेष की प्रतिपक्षिणी तो है ही, अन्य रागों को भी दूर करती है। एक ही साथ कोई हृदय भगवान के प्रति राग, किसी के प्रति द्वेष, किसी अन्य के प्रति राग नहीं रख सकता। अतः भक्ति के कारण प्रपञ्च से राग द्वेष की निवृत्ति सहज ही हो जाती है। तब उस शुद्ध मन स्थिति में भजनीय को और अपने को भी ठीक ठीक समझ पाना सुगम हो जाता है। इसीलिए भगवान ने गीता में कहा है —

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेव विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥'[2]

अर्थात् हे परंतप अर्जुन, अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरा इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन करना, मुझे तत्त्वतः जानना और मुझमें प्रवेश कर पाना भी संभव हो जाता है। भक्ति से परमेश्वर का अनुभव और उसका ठीक ठीक ज्ञान, 'भगवत प्रबोध' हो जाता है इसका समर्थन श्रीमद्भागवत भी करता है।[3] अध्यात्म रामायण में श्रीराम ने शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए निरूपित किया था कि तत्त्वविचार भक्ति का नवम साधन है।[4] वल्लभाचार्य जी ने भी भक्ति को माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह के रूप में ही स्वीकार किया है।[5]

१ श्रीमद्भगवद्गीता १२।८
२ वही ११।५४
३ श्रीमद्भागवत ११।४२।४३
४ अध्यात्म रामायण ३।१०।२७
५ तत्त्वार्थ दीप निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण (व्याख्याकार केदारनाथ मिश्र) ४२

इसी परम्परा के अनुरूप तुलसीदास ने भी कहा है —

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई। जिमि खगपति जलकै चिकनाई॥[१]

इससे साफ है कि तुलसी के अनुसार भी भक्ति के लिए 'जानना' आवश्यक है, केवल मानना ही काफी नही है। हाँ, यह ठीक है कि शुष्क ज्ञानियो की और तुलसी जैसे भक्तो की जानने की पद्धति मे थोडा अतर है। ज्ञानी अपने विवेक, वैराग्य, षटसम्पत्ति, मुमुक्षा, श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि के द्वारा जानने का दावा करता है, जबकि तुलसी ऐसे भक्त उसके लिए राम कृपा को अनिवार्य समझते हैं। राम कृपा के या गुरु कृपा से भक्त मे जब विवेक का उदय होता है तभी वह भजनीय को तत्त्वत जानने के लिए प्रवृत्त होता है। विनय पत्रिका मे तुलसीदास ने इस तथ्य को समझाते हुए कहा है —

तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिवेक न होई।
बिनु बिवेक ससार घोर निधि पार न पावै कोई॥[२]

ससार सागर को लाँघ जाने के लिए आत्म अनात्म, सत असत, नित्य अनित्य, आदि को अलग अलग कर विचार पूवक समझ लेना तुलसीदास की दृष्टि म आवश्यक है। तभी तो उन्होने विनय पत्रिका मे बार बार अपने मन को विचार करने की ओर उ मुख किया है 'न करु बिलम्ब बिचारु चारु मति बरष पाछिले सम अगिलो पलु'[३] करु बिचार, तजु बिकार भजु उदार रामचन्द्र भद्र सिंधु दीन बधु बेद बन्त रे'[४]

'तरु कोटर महँ बस बिहँग तरु काटे मरे न जैसे।
साधन करिय बिचार हीन मन शुद्ध होइ नहिं तैसे॥[५]

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि राम चरित मानस मे भी भरद्वाज, पार्वती और गरुड, राम के स्वरूप की अधिगति के लिए ही याज्ञवल्क्य शिव और काकभुशुडि से प्रश्न करते हैं और प्रश्नोत्तर का यह क्रम भी विचार पक्ष को अपने मे समेटे हुआ है।

१ मानस ७।७६।६-७ ८
२ विनय पत्रिका ११५।८।१०
३ वही २४।७
४ वही ७४।२
५ वही ११५।५-६

तुलसी की विचार सरणि को मुख्यत श्री राम चरित मानस के आधार पर म० म० प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, स्वामी करपात्री जी, श्री विजयानन्द त्रिपाठी आदि ने अद्वैतवादी, श्री राम वल्लभाशरण, श्री अजनीनन्दन शरण, श्रीकान्त शरण आदि ने विशिष्टाद्वैतवादी और आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने द्वैतवादी घोषित किया है। स्मरण रखना चाहिए कि मानस की स्थिति श्रीमद्भगवद्गीता एव श्रीमदभागवत के सदृश ही अत्यन्त व्यापक है। इसीलिए विविध विवेचको या टीकाकारो ने अपने अपने मतो का उस पर आरोपण कर उसे अद्वैतवादी या विशिष्टाद्वैतवादी या द्वैतवादी सिद्ध करना चाहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपेक्षाकृत तटस्थदृष्टि का प्रमाण देते हुए कहा है, 'परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैतमत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।'[1] डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र और डॉ० उदयभानु सिंह इसी सतुलित मत के हैं। यदि श्री रामचरित मानस और विनय पत्रिका दोनो पर समुचित ध्यान केन्द्रित किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि तुलसीदास सिद्धान्तत तो अद्वैत को मानते हैं किन्तु उनका जीवन सर्वस्व भक्ति ही है जिसम भेद, अभेद दोनो को वे समाहित कर लेते हैं। श्रीमद्भागवत से इस दृष्टि को ग्रहण कर अधिक सटीक और सतुलित रूप मे उन्होंने प्रस्तुत किया है। भागवत मे सस्कृत-वैदुष्य की तुष्टि के लिए साख्य, योग, धर्म आदि से सम्बोधित पाण्डित्य की ऐसी बहुत सी बातो की अवतारणा भी है जो इस प्रसग से सीधे नही जुडती। तुलसी का सरल, स्पष्ट निरूपण सीधे अपने लक्ष्य के अनुरूप है।

तुलसीदास की विचारणा पर विमर्श करते समय यह ध्यातव्य है कि उनकी रामकथा के समान ही उनकी विचारणा भी 'नाना पुराणनिगमागमसम्मत' है। उन्होंने किसी एक ही सम्प्रदाय से अपने को नही बाँधा है। वैदिक विचार धारा के विविध पक्षो का अनुशीलन कर उन्होंने अपने लिए जिस समन्वित दृष्टि को स्वीकार किया है—वह गीता और भागवत की ही तरह सम्प्रदाय-निरपेक्ष एव व्यापक है। तुलसीदास ने विचार के स्तर भेदो को स्वीकार किया है किन्तु उनकी विचारणा का चरम पर्यवसान अद्वैत मे ही होता है। 'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूपरूप।'[2] 'अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज अमित अविकार आनन्द सिंधो।'[3] 'अज अद्वैत अनाम, अलख

१ गोस्वामी तुलसीदास (सप्तम सस्करण) पृष्ठ ६६
२ विनय पत्रिका ५०।१६
३ वही ५६।१५

रूप गुनरहित जो। माया पति सोइ राम, दास हेतु नर-तनु धरेउ ॥[१] जैसी अनेक उक्तियाँ तुलसी साहित्य से इस स्थापना के समर्थन मे उद्धृत की जा सकती हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तुलसी ने अपने पूरे साहित्य मे केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत या शुद्धाद्वैत जैसे किसी साम्प्रदायिक मान्यता के द्योतक शब्द का प्रयोग अपने इस औपनिषदिक अद्वैत चितन के लिए नही किया है। हाँ उन्होने द्वैत की अस्वीकृति अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे की। उन्होने बार बार कहा है 'द्वैत रूप तमकूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी'[२] 'द्वैत मूल, भय सूल, सोग, फल, भवतरु टरै न टार्‌यो'[३] 'दुइज द्वैत-मति छाडि चरहि महि-मँडल धीर'[४]—अधिक उद्धरण देने की आवश्यकता नही, तुलसी द्वैत बुद्धि को अज्ञानजन्य एव भय, शोक, दुख आदि का मूल कारण मानते थे, यह स्पष्ट है। तुलसी की मान्यता के अनुसार यह 'द्वैत बुद्धि' या मेरे तेरे की भावना जगत मे नामरूप की विविधता के कारण नानात्व का बोध उत्पन्न करने वाली माया का परिणाम ही है।[५] यह माया मन अर्थात अन्तःकरण को मलिन कर द्वैतजनित ससृति दुख मे फँसा देती है और किसी को शत्रु, किसी को मित्र तथा किसी को तटस्थ बनाकर क्रमश सर्प के समान त्याज्य, स्वर्ण के समान ग्राह्य और तृण के समान उपेक्षणीय मानने की भ्राति उत्पन्न करती है।[६] तुलसीदास माया के दो भेद करते हैं विद्या और अविद्या।[७] अविद्या माया जीवो को बन्धन मे डालती है। विद्या माया भक्ति स्वरूपा भगवती जानकी ही है जो जीवो को बन्धनमुक्त कर राम-मय बना देती है।[८] भक्ति श्री राम को प्रिय है और माया तो श्री राम के सकेत से नाचने वाली नर्तकी मात्र है, जो भक्ति से और इसी कारण भक्तो से भी डरती रहती है।[९] यह माया श्री रघुबीर की दासी है और इसके रूप को

१ वैराग्य सदीपनी सोरठा सख्या ४
२ विनय पत्रिका ११३।८
३ वही २०२।३
४ वही २०३।५
५ मानस ३।१५।३-४
६ विनय पत्रिका १२४।२-३ ४
७ मानस ३।१५।४
८ वही १।२०२।३ ४
९ वही ७।११६।३ ७

ठीक से समझ लेने पर यह मिथ्या ही है किन्तु राम कृपा के बिना यह छूटती नही।[१] तुलसीदास की अद्वैत यात्रा इसी भक्ति के निर्देशानुसार सम्पन्न हुई है। उन्होंने ईमानदारी से अनुभव किया है कि उनका अन्त करण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहकार एव उनकी अधीनस्थ ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ माया जन्य अज्ञान के मल से ग्रस्त हैं। इसीलिए वे एव ससार के सभी ऐसे व्यक्ति निरन्तर दुख भोग रहे है।[२] अत पहली समस्या यही है कि अन्त करण को निमल कैसे किया जाय। तुलसीदास का स्पष्ट निदान है, 'रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नाम न पावै।'[३] राम चरित मानस मे भी तुलसी ने गुरु वशिष्ठ से कहलाया है, 'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअतर मल कबहुँ न जाई।[४] तुलसीदास भागवत की परम्परा के अनुसार भक्ति को फलरूपा ही नही, साधनरूपा भी मानते थे। 'भक्त्या सजातया भक्त्या'[५] के अनुरूप ही उन्होंने भी 'साधन सिद्धि राम पग नेहू'[६] की घोषणा की है। मलिन अन्त करण को शुद्ध करने का साधन तुलसी के अनुसार उसे बार बार राम भक्ति जल से धोते रहना ही है। इसी प्रक्रिया से जब चित्त या अन्त-करण शुद्ध हो जाएगा तब उसे अनायास ही अनुभव होगा कि ससार मे दिखने वाले नाना नामरूप वस्तुत एक ही चैतन्य तत्त्व के विलास हैं। यह प्रतीयमान नानात्व या द्वैत वास्तविक न होकर दृष्टि दोष के कारण आभासित है। तुलसीदास की स्पष्ट उक्ति है, 'रघुपति-भगति वारि-छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै। तुलसिदास कह चिद् विलास जग बूझत बूझत बूझै।[७] क्रमश जैसे जैसे चित्त शुद्ध होता जाता है वैसे वैसे समझते समझते यह बात ठीक ठीक समझ मे आ जाती है कि नाम रूप की असख्यता के बावजूद चैतन्य की अद्वैतता ही समस्त सृष्टि मे विलसित हो रही है। इसका अथ हुआ कि अधिष्ठान की दृष्टि से यह जगत ब्रह्म ही है और सत्य है। जबकि परिवतनशील नामरूप की दृष्टि से यह जगत मिथ्या है, नश्वर है।

१ मानस ७।७१
२ विनय पत्रिका ८२
३ वही ८२।८
४ मानस ७।४६।६
५ श्रीमद्भागवत ११।३।३१
६ मानस २।२८६।८
७ विनय पत्रिका १२४।६-१०

'जग नभ बाटिका रही है फलि फूल, रे।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे॥'[१]

'जेहि जाने जग जाई हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥'[२]

'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग सन्त कहत जे अन्त लहा है।'[३]

जैसी अनेकानेक उक्तियाँ तुलसी साहित्य से उद्धत कर यह सहज ही प्रतिपादित किया जा सकता है कि नामरूपधारी नानात्व के कारण तुलसी जगत को मिथ्या, नश्वर मानते थे। अधिष्ठान की सत्यता के आधार पर ही वे जगत को स्थान स्थान पर सत्य भी कहते हैं।

'सीय राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी'[४],

'निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध'[५]

'सवमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद, विष्णो।'[६]

जैसी पक्तियो स यह तथ्य प्रतिपन्न है। ये दोनो स्थापनाएँ उपनिषद् की 'नेह नानास्ति किंचन'[७] एव 'सव खल्विद ब्रह्म'[८] द्वारा प्रतिपादित सत्य के अनुरूप ही हैं।

अच्छा चैतन्य तो एक ही है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति मे मात्रा भेद तो हो सकता है। प्रभु पूण है, हम अशी हैं, हम शरीरधारी जीव अश हैं, अणुमात्र हैं, यह भी तो कहा जा सकता है। तुलसी ने माना है कि चिन्तन के एक स्तर पर यह मान हो सकता है। 'ईश्वर अस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।'[९] जीव अनेक एक श्रीकान्ता'[१०], जैसी उक्तिया मे इस प्रतीति का निरूपण किया गया है। किन्तु गम्भीर विचार करने पर यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि तुलसी के अनुसार यह अनुभव भी माया के अधीन हो जाने के

१ विनय पत्रिका ६६।७ ८
२ मानस १।११२।२
३ कवितावली ७।३८।१
४ मानस १।८।२
५ वही ७।११२
६ विनय पत्रिका ५४।५
७ कठोपनिषत् २।१।११, अध्यात्म उपनिषत् ६३
८ छान्दोग्य उपनिषत् ३।१४।१
९ मानस ७।११७।२
१० वही ७।७८।७

कारण ही होता है। यह ध्यान देने की बात है कि ये दोनों उक्तियाँ काक-भुशुंडि जी की हैं और इन दोनों अवसरों पर उन्होंने इस भेद को मायाकृत और मिथ्या बताया है। जीव को ईश्वर का अंश बताने के बाद ही उन्होंने कहा है 'सो माया बस भयहु गोसाइं। बँध्यो कीर मरकट की नाइं। जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।'[1] इसी तरह जीव की अनेकता के कथन के बाद ही वे जोड़ते हैं, 'मुधा भेद जद्यपि कृतमाया। बिनु हरि जाहि न कोटि उपाया।'[2] अर्थात् यह मायाकृत मिथ्या भेद हरि कृपा से ही दूर हो सकता है। इसी सन्दर्भ में श्रीराम के द्वारा निरूपित जीव की व्याख्या भी उल्लेख्य है। लक्ष्मण को समझाते हुए उन्होंने कहा था कि जीव उसे कहना चाहिए जो माया के कारण अपने को ईश्वर के रूप में न जान पाये। 'माया ईस न आपु कहुँ जान कहिय सो जीव।'[3] जड़ पंच भूतों से बने हुए अपने शरीर को अपना आपा मानने के कारण ही चेतन जीव माया से आबद्ध हो गया है। काकभुशुंडि के अनुसार जड़ चेतन की यह गाँठ मृषा है, मिथ्या है। क्योंकि जड़ और चेतन में गाँठ बँध ही नहीं सकती है। अनादि अज्ञान के कारण फिर भी इस ग्रंथि बंधन का अनुभव जीव करता रहता है। कष्ट साध्य ज्ञान दीपक के प्रकाश में अथवा सुरक्षापूर्ण सुख साध्य भक्ति चिन्तामणि के आलोक में देखना यही है कि वास्तव में जड़ और चेतन में कोई गाँठ बँधी ही नहीं है। और इस प्रकार माया के बन्धन को मिथ्या जान लेने वाला जीव सदा मुक्त ही है। हाँ तुलसी के अनुसार या भक्तमार्गियों के अनुसार यह जानना, यह ज्ञान उसे ही हो सकता है जिसे स्वयं प्रभु जना दें क्योंकि वस्तुतः यह अपने स्वरूप को या यों कहें राम के स्वरूप को ही जान लेना है। तुलसी ने वाल्मीकि से कहलाया है —

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥[4]

'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई' में मुंडकोपनिषद की उक्ति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'[5] की स्पष्ट अनुगूंज है। वेदान्त का यह अखण्डनीय सिद्धान्त है कि

१ मानस ७।११७।३ ४
२ वही ७।७८।८
३ वही ३।१५
४ वही २।१२७।३ ४
५ मुंडकोपनिषद ३।२।९

जानने मात्र से यदि कोई कुछ हो जाता है तो वह पहले से भी वही रहता है। अत तुलसीदास का मत यह ज्ञात होता है कि वास्तव मे जीव ब्रह्म ही है। माया के कारण ही कभी वह अपने को ब्रह्म का अंश, कभी अपने को नामरूप धारी बद्ध व्यक्ति मान बैठता है। भक्ति के चरम उत्कर्ष के समय फलरूपा भक्ति की प्राप्ति के अनन्तर भक्त और भगवान मे अभेद हो जाता है। भक्तो की मान्यता के अनुसार प्रेमप्रवाह में अद्वैत की स्थिति सर्वथा सम्भव है। नारदीय भक्ति सूत्र मे प्रेमी प्रेम और प्रेमास्पद के त्रिरूप को भंग कर नित्यदास या नित्यकांता के रूप म प्रभु से प्रेम करने का निर्देश दिया गया है।[1] शाण्डिल्य भक्ति सूत्र मे भी कहा गया है 'तदैक्य-नानात्वैकत्वमुपाधियोग हानादादित्यवत्।'[2] अर्थात जीव और ईश्वर म एकता है, दोनो एक हैं। उपाधि के सयोग से उनमे नानात्व की प्रतीति होती है और उपाधि भंग हो जाने पर एकत्व का बोध स्पष्ट हो जाता है। ठीक उसी तरह, जैसे एक ही सूर्य जल से भरे हुए भिन्न भिन्न पात्रो मे पृथक पृथक् प्रतिबिम्बित होने पर अनेक सा प्रतीत होता है, परन्तु जल पात्र रूपी उपाधि के न रहने पर वह पुन एक ही रह जाता है। विष्णु पुराण मे भी भक्तो के इस अनुभव को स्वीकार किया गया है कि यह सारा जगत और मैं स्वय भी अर्थात हम सब वासुदेव ही हैं। बस एक मात्र वह परम पुरुष परमेश्वर ही हैं,' 'सकलमिदमह च वासुदेव परमपुमान्परमेश्वर स एक ।[3] अत स्पष्ट है कि भक्ति से अद्वैत तक की यात्रा पूर्णत सभव है।

सिद्धान्त अद्वैत को स्वीकार कर लेने का अर्थ यह नही होता कि भक्ति के क्षेत्र मे भी अद्वैत के अनुरूप व्यवहार किया जाय। तत्त्वानुभव और रसानुभव मे अन्तर होता है। सब गहने सोने के ही हैं, यह बोध तत्त्वबोध है किन्तु शृगार के समय पैर में पहनने वाला गहना गले म और गले मे पहनने वाला गहना पैर मे नही पहना जा सकता। यह भेद व्यवहार मे मानना ही पडता है, मानना ही चाहिए। इसी तरह जिसके मन की रचना जिस प्रकार की है उसे उसी प्रकार से सुख प्राप्त कर सकता है। मछली को इसका बोध हो जाने पर भी कि सारे जगत मे एक ही तत्त्व व्याप्त है जीवित रहने के लिए पानी मे ही रहना

१ नारदीय भक्ति सूत्र ६६
२ शाण्डिल्य भक्ति सूत्र तथा उस पर प० श्री राम नारायण दत्त शास्त्री की टीका ८३
३ विष्णु पुराण ३।७।३२

पड़ेगा, हवा मे रहने से उसकी मृत्यु हो जाएगी। इसी तरह जिनका जीवन-सर्वस्व भक्ति ही है वे अपनी चरितार्थता के लिए आजीवन भक्ति करते ही रहेंगे। यह भक्ति भी उनकी रुचि के अनुसार है। यह भक्ति भेद भक्ति भी हो सकती है और अभेद भक्ति भी। काकभुशुंडि जी जब यह कहते है कि 'निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई।'[1] तो वे यही बताना चाहते हैं कि अपनी मानसिक रचना के कारण मुझे निर्गुणमत अच्छा नही लगता, क्योकि सगुण ब्रह्म के प्रति मेरे मन मे अत्यधिक रति है। ध्यान देना चाहिए कि बात सुहाने की है, अच्छी लगने की है, गलत लगने की नही। अपनी मन स्थिति को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा है, 'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना।'[2] अब कोई अगर बलपूर्वक यदि उनके मन रूपी मत्स्य को राम भक्ति रूपी जल से अलग कर दे तो उससे उनका कल्याण कैसे होगा। भारतीय साधना मे अधिकार भेद को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। अत ऐसे भक्तो को अद्वैत ज्ञान के अनन्तर भी भेद भक्ति करते रहने का पूरा अधिकार है। ऊपर बताया जा चुका है कि काक-भुशुंडि जड चेतन की ग्रन्थि को मृषा मानते थे, ब्रह्म और जीव के भेद को मुधा मानते थे। फिर भी अपने स्वभाव के अनुसार भेद भक्ति करते रहते थे। आचार्यों ने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि ज्ञान से पहले का द्वैत तो मोह मे डाल सकता है परन्तु अद्वैत बोध के अनन्तर अपनी मनीषा से भक्ति के लिए कल्पित किया गया द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर होता है, 'द्वैत मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।'[3] पारमार्थिक रूप से अद्वैत को स्वीकार कर भजन के लिए द्वैत को मानकर जो भक्ति की जाती है वह सैकडो मुक्तियो से भी अधिक आनन्ददायी होती है,'

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका।[4]

तर्क के लिए यदि यह भी मान लिया जाय कि कुछ भक्त काकभुशुंडि की तरह भेद को मिथ्या न भी मानते हों तो भी ब्रह्म श्रीराम से जुडने के कारण प्रमेयबल से उनका भी कल्याण होगा। तुलसीदास की मान्यता यही है कि हरि सेवको

१ मानस ७।११०।१६
२ वही ७।१११।८
३ बोधसार के अन्तर्गत भक्ति रसायनम् श्लोक स० ४२
४ वही श्लोक सख्या ४६

का अविद्या माया नही व्यापती, विद्या माया व्यापती है अत उनका नाश होता और उनकी भेद भक्ति बढती रहती है।

'हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या।
ताते नाम न होइ दास कर। भेद भगति बाढइ बिहगबर॥'[1]

बहुत से भक्त ऐसे भी होते हैं जो स्वय चीनी बन जाने के स्थान पर चींटी रहकर चीनी का स्वाद लेते रहते हैं। दशरथ, शरभग आदि भक्त ऐसे ही दूसरी तरफ शबरी, कौशल्या आदि मे विवेक का पक्ष प्रबल है इसीलिए श शरीर त्याग कर हरि पद म लीन हो जाती है। जहाँ से कभी कोई नही लौ 'तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भई जह नहिं फिरे।'[2] भक्तो के स्व वैविध्य को स्वीकार कर तुलसी न उचित ही किया है। उन्होने यह भी बत है कि यदि एक तरफ भगवत साक्षात्कार हो जाने के बाद भी सुतीक्ष्ण क भुशुडि जैसे भक्त भजन के लिए देह धारण किये रहना चाहते हैं क्योंकि विनु देह भजन नहिं करना'[3] तो दूसरी तरफ जटायु, बालि जैसे भक्त प्र कहने पर भी शरीर रखना नही चाहते। उनकी मान्यता है कि साक्षात के समक्ष शरीर छोडने से बढकर शरीर छोडने का अवसर और कब मिल स है अत किसलिए शरीर को रखा जाए।

जाकर राम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा।
सो मम लोचन गोचर आगे। राखौं देह नाथ केहि खाँगे॥[4]

भक्ति साधना की इस विविधता को स्वीकारने पर भी यह प्रश्न उठाया सकता है कि तुलसी की अपनी भक्ति साधना भेद प्रधान थी या अभेद प्रधा यह मुश्किल मे डालने वाला सवाल है। जग जाहिर बात है कि तुलसी सिद्धात था, 'सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।'[5] 'सा सीतानाथ से, सेवक तुलसीदास।'[6] फिर भी उनकी भक्ति साधना अभेदोन् थी इसके कई निश्चित प्रमाण मिलते है। भगवान शिव से उन्होंने श्रीराम चरणो म भेद माया रहित भक्ति की याचना की थी,

१ मानस ७।७८।२-३
२ वही ३।३६।छद प० ३
३ वही ७।८६।५
४ वही ३।३१।६-७
५ वही ७।११८।क
६ दोहावली १८१

'देहिकामारि श्रीरामपदपकजे भक्तिमनवरत गतभेदमाया ।'[१]

विनय पत्रिका मे उन्होंने एक स्थान पर स्पष्ट कहा है 'हरिपद प्राप्ति' के अनुभव का परम सुख उसी अतिशय द्वैत वियोगी भक्तियोगी को होता है जो जगत के समस्त दृश्यो को नाम रूपधारी नानात्व को अपने उदर मे रखकर निद्रा को त्याग कर सोता है अर्थात निर्विकल्प समाधि का अनुभव करता रहता है । इस स्थिति मे शोक, मोह, भय, हर्ष दिन, रात, देश, काल आदि का लोप हो जाता है और समस्त सशय निर्मल हो जाते हैं ।

'सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी ।
सोइ हरि पद अनुभवै परम सुख, अतिशय द्वैत वियोगी ।।
सोक, मोह, भय, हरष, दिवस-निसि, देस, काल, तहँ नाही ।
तुलसिदास यहि दसाहीन ससय निर्मूल न जाही ।।[२]

कौन कह सकता है कि तुलसीदास स्वय ही ऐसे भक्तियोगी नही थे । मेरी विनम्र मान्यता है कि तुलसीदास उन्ही पण्डितो मे थे जो 'पाएहुँ ग्यान भगति नहि जाही ।'[३]

व्यवहार में तुलसीदास ने श्रीराम के सगुण रूप के प्रति अत्यधिक आग्रह व्यक्त किया है । यह अत्रि, शरभग, सुतीक्ष्ण, काकभुशुडि आदि के प्रकरणो से स्पष्ट है फिर भी विचारणा के स्तर पर वे निर्गुण और सगुण दोनो को केवल स्वीकार ही नही करते थे पारमार्थिक स्तर पर समान रूप से सत्य भी मानते थे । यहाँ उनकी भूमिका शकराचार्य और वल्लभाचार्य दोनो से भिन्न है । शकराचार्य ब्रह्म के निर्गुण रूप को ही पारमार्थिक स्तर पर सत्य मानते हैं । सगुण रूप की सत्ता उनकी दृष्टि मे मायोपाधिक एव व्यावहारिक मात्र है । वल्लभाचार्य के अनुसार रसरूप पुरुषोत्तम सगुण ब्रह्म ही पारमार्थिक स्तर पर परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप है । निर्गुण ब्रह्म की कल्पना वे आनन्दतत्त्व को परिसीमित कर अक्षर ब्रह्म के रूप मे करते हैं । इन दोनो से भिन्न तुलसी की स्थापना है कि ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनो रूपो मे कोई तात्त्विक भेद नही है । जो निर्गुण है वही भक्तो के प्रेमवश सगुण हो जाता है । जैसे जल और हिमखण्ड में तत्त्वत कोई अन्तर नही होता उसी प्रकार तात्त्विक दृष्टि से सगुण और निर्गुण दोनो एक ही हैं ।

१ विनय पत्रिका १०।१८
२ वही १६७।७ ८ ६-१०
३ मानस ३।४३।१०

'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे । जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥'[१]

तुलसीदास की एक और विशिष्ट स्थापना है कि ब्रह्म का निर्गुण रूप अत्यन्त सुलभ है किन्तु उसके सगुण रूप को कोई जान नहीं पाता । सगुण रूप के नानाचरित एक ही साथ इस प्रकार सुगम और अगम हैं कि उन्हें सुनकर मननशील मुनियों के मन में भी भ्रम उत्पन्न हो जाता है —

'निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोई ।
सुगम अगम नानाचरित सुनि मुनि मन भ्रम होई ।'[२]

तुलसी की यह स्थापना सामान्य मान्यता के प्रतिकूल है । साधारणत यह माना जाता रहा है कि सगुण साकार की उपासना सुगम है, सरल है, निर्गुण निराकार की व्याख्या ही कठिन है । इसी मान्यता के अनुसार सूरदास ने अपने प्रसिद्ध पद 'अविगत गति कछु कहत न आवै' में निर्गुण निराकार को मन वाणी से अगम अगोचर एवं 'रूप रेख, गुन जाति' उक्ति के परे मानकर उसे 'सब बिधि अगम' घोषित कर सगुण पद गाने की प्रतिज्ञा की थी ।[३] इसके विपरीत तुलसीदास निर्गुण रूप को सहज सुलभ बताते हैं । विचार करने पर प्रतीत होता है कि सामान्य आस्तिक बुद्धि से भगवान को स्वीकार करने पर उसे प्रत्येक देश, काल, वस्तु आदि में व्यापक मानना पड़ता है और यह स्थिति निर्गुण निराकार के लिए ही सम्भव ज्ञात होती है । अत तुलसीदास जोर देकर कहते हैं कि इस प्रकार भगवान की निर्गुण सत्ता को तो स्वीकार कर लेना सहज है, सुलभ है किन्तु साकार रूप धारण कर उनके द्वारा किए गए अनेक प्रकार के चरित्र उनकी भगवत्ता के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न करते ही हैं । सगुण साकार ब्रह्म देहबद्ध ज्ञात होता है, जन्म मरण को स्वीकार करता है, शिशु रूप में अशक्त, असमर्थ प्रतीत होता है मिलन, विरह में प्रसन्न, कातर होता है । सर्वसमर्थ भगवान की ऐसी स्थितियाँ कैसे स्वीकार की जा सकती हैं? एक बार इस प्रकार के संशयों के जाल में फँस जाने पर सती और काकभुशुण्डि का भी निस्तार नहीं होता तो अन्य साधारण जीवों का तो कहना ही क्या ? अत तुलसीदास की यह स्थापना सत्य ही ज्ञात होती है कि सगुण रूप के रहस्य

१ मानस १।११६।१ ३
२ वही ७।७३ ख
३ सूरसागर (ना० प्र० सभा) १।२

को जानना किसी के लिए भी सभव नही है। उसके सुगम अगम अनेक प्रकार के चरित्रो को देख सुनकर बडे-बडे मुनियो विद्वानो को भी भ्रम हो जाता है। विश्वास की सच्ची परीक्षा सगुण लीला को स्वीकार करने मे ही होती है अत तुलसीदास जी ने घोषित किया है कि—

'चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहि बुद्धि, वल बानी।
अस विचारि जे तग्य बिरागी। रामहि भजहि तक सब त्यागी ॥[1]

तुलसी की एक बहुत बडी विशिष्टता यह है कि उन्होने ब्रह्म राम को इष्ट देव बनाया है। साधारणत ब्रह्म को ज्ञान का विजय माना जाता है। भक्त किसी देव विशेष को अपना इष्ट मान लेते है और बाद मे भावना के स्तर पर उस पर ब्रह्म के लक्षण आरोपित करते है। तुलसी ने आरभ से ही घोषित किया है कि उनके राम साक्षात ब्रह्म ही हैं। मानस के बाल काण्ड मे समस्त देवता, मुनि, गधव आदि पृथ्वी के साथ जब ब्रह्म लोक मे जाकर रावण के भय से मुक्त करने की प्राथना ब्रह्म से करते हैं तब वे भी अपनी असमथता प्रकट करते हैं। शिव जी उन सबको सचेत करते है कि देख, काल, दिशा, विदिशा मे व्याप्त अगजगमय और सबसे रहित विरागी प्रभु अर्थात् स्वय औपनिषदिक ब्रह्म प्रेम से ही प्रकट होते हैं। ब्रह्मा उनसे प्रेरित होकर जिन श्री राम की स्तुति करते ह वे वेदान्त वेद्य, ब्रह्म ही हैं। उद्धत है इस स्तुति की कुछ पक्तिया

जय जय अबिनासी सब घट बासी व्यापक परमानदा।
अबिगत गोतीत चरित पुनीत माया रहित मुकुन्दा ॥
जोहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनि बृन्दा।
निसि बासर ध्यावहि गुन गन गावहि जयति सच्चिदानदा ॥[2]

यही प्रभु मानस मे श्रीराम के रूप मे वर्णित ह। स्पष्टत तुलसी के राम अवतार नही, अवतारी हैं, परब्रह्म ह। अन्यत्र उन्होने स्पष्ट कहा है,

'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा।
सकल बिकार रहित गद भेदा। कहि नित नेति निरूपहि बेदा ॥[3]

साक्षात् ब्रह्म को इष्टदेव बनाना बहुत गम्भीर अथ को अपने मे समेट लेनेवाला निणय है। इष्ट शब्द दो धातुओ से बनता है, इष्-इच्छति से और यज्-यजति से। पहले अथ मे इष्टदेव का अथ है इच्छित प्रिय दव। दूसरा अथ

१ मानस ६।७४ क।१ २
२ वही १।१८६ छद स०-२
३ वही २।६३।७ ८

अधिक गम्भीर है। यज धातु से बने इष्टि और इष्ट ये दोनों शब्द यज के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। वैदिक परम्परा मे विश्वास करनेवाले मानते हैं कि उनका सारा जीवन ही यज्ञ है, होना चाहिए। जीवन भर अपने प्रत्येक आचरण द्वारा वे विष्णु रूपी यज्ञ मे अपनी आहुति चढ़ाते रहते हैं। मृत्यु के बाद अपने शरीर को आहुति के रूप मे चितारूपी यज्ञ वेदी पर वे अर्पित करते हैं। इसीलिए इस क्रिया को अन्त्येष्टि शरीर के द्वारा किया गया अतिम यज्ञ कहा जाता है। इष्ट देव को यज्ञदेव के रूप मे स्वीकार करने वाला भक्त अपनी भक्ति साधना मे अपने अन्त करण और अपनी आत्मा की आहुति अपने इष्टदेव को अर्पित करता रहता है और गीता मे वर्णित, ब्रह्म के यज्ञ के अनुसार,

'ब्रह्मार्पण ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्य ब्रह्मकर्मसमाधिना॥'[१]

ब्रह्ममय, राममय हो जाता है। इस सन्दर्भ मे उल्लेख्य है स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती का यह विचार, 'भेद बुद्धि के निवृत्त होते ही उपाधि भी ब्रह्मरूप ही है, क्योंकि अधिष्ठान से अध्यस्त और प्रकाशक से प्रकाश्य भिन्न नही होता। फिर तो यही कहना पड़ेगा कि भक्ति ब्रह्मरूप ही है।'[२] इसी स्थिति मे नाभादास जी की उक्ति 'भक्ति भक्त भगवत गुरु—चतुर नाम वपु एक।'[३] की सार्थकता समझी जा सकती है। ब्रह्म राम को इष्टदेव मान कर की गयी तुलसी की भक्ति साधना उनकी अद्वैत दृष्टि के अनुरूप ही है।

तुलसीदास केवल शाब्दिक तत्त्व निरूपण को ही महत्त्व नहीं देते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि केवल वाचिक ज्ञान मे निपुण हो जाने पर कोई ससार सागर को पार करने मे उसी प्रकार समर्थ नही होता, जिस प्रकार रात्रि मे दीपक की बात करते रहने पर अधकार दूर नही होता,

'वाक्य ग्यान अत्यन्त निपुन भवपार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।'[४]

उनकी दृढ मान्यता थी कि विचार के अनन्तर जिस निश्चय को निरूपित किया जाए उसी के अनुसार जीवन जिया जाए तभी कल्याण सम्भव है। वे कहते हैं कि —

१ गीता ४।२४
२ भक्ति सर्वस्व, पृष्ठ १८३
३ भक्तमाल १।१
४ विनय पत्रिका १२३।३ ४

'जो कुछ कहिय करिय भवसागर तरिय बत्सपद जैसे ।
रहनि आन बिधि, कहिय आन, हरिपद सुख पाइय कैसे ।'[१]

कहनी और रहनी मे यदि अन्तर होगा तो 'हरिपद' सुख की प्राप्ति नही हो सकती । यह अन्तर होता ही क्यो है । इसीलिए कि लोग यह मान बैठते हैं कि परमार्थ और स्वार्थ मे विरोध है । परमार्थ को सिद्ध करने के प्रयास मे यदि स्वार्थ को चोट पहुँचती है तो लोग मुह से परमार्थ की बात करते रहते हैं और व्यवहार मे स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । तुलसीदास इस मान्यता को ही गलत बताते हैं कि परमार्थ और स्वार्थ मे अन्तर होता है । जो स्वार्थ हमे परमार्थ से अलग करता है, वह सच्चा स्वार्थ नही है । अनर्थ है । चोरी, बेईमानी, छल, कपट से बनाया हुआ काम बनता नही है, वास्तव म बिगड जाता है । तुलसीदास की विचारणा है कि परमार्थ और सच्चे स्वार्थ मे कोई अन्तर नही होता । यदि उन्होने एक तरफ लक्ष्मण जी से कहलाया है, 'सखा परम परमारथ एहू । मन क्रम बचन राम प्रद नेहू ।'[२] तो दूसरी तरफ काकभुशुण्डि जी से घोषणा करवाई है 'स्वारथ सांच जीव कहुँ एहा । मन क्रम बचन रामपद नेहा ।'[३] इस प्रकार जो तुलसी की तरह परमार्थ और सच्चे स्वार्थ को अभिन्न मानकर राम के चरण कमलो से मनसा वाचा कर्मणा प्रेम करेगा उसकी कथनी और करनी मे अन्तर नही होगा ।

भक्त की विचारणा का एक प्रमुख पक्ष यह भी है कि वह ससार मे रहते हुए ससार से कैसा व्यवहार करे । तुलसीदास की दृष्टि मे ससार 'देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किए बिचार'[४] था । सामान्य व्यक्तियो को रमणीय लगने वाला ससार तुलसी जैसे विचारशील व्यक्तियो के लिए अत्यन्त भयकर है । वे समता, सतोष दया और विवेक से उसे व्यवहार के स्तर पर सुखकारी बनाने का प्रयास करने हैं इसीलिए ससार के बारे मे उन्होने कहा है —

'अनबिचार रमनीय सदा, ससार भयकर भारी ।
सम सतोष दया विवेक तें व्यवहारी सुखकारी ।।'[५]

तुलसीदास की दष्टि के अनुसार ससार मे व्यवहार करने का सूत्र है—

१ विनय पत्रिका ११८।३ ४
२ मानस २।६३।६
३ वही ७।९६।१
४ विनय पत्रिका १८८।३
५ वही १२१।७ ८

परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीडा सम नहिं अधमाई।[1] किन्तु पर हित करने मे भी अहकार का आवेश हो सकता है इसलिए वे ससार को अपने प्रभु का व्यक्त रूप मानकर उसकी सेवा करने को अधिक ऊँचा आदर्श मानते है। इसीलिए उन्होने श्री राम से कहलाया है —

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत॥[2]

प्रभु के अनन्य सेवक की दृष्टि म यह जगत 'सीयराममय' है, अत वह सहज ही इस जगत को अपना सेव्य मानकर जीवन व्यतीत करता है। तुलसीदास जानते थे कि इस प्रकार का जीवन जी पाना बहुत कठिन है अत उन्होने सचेत करते हुए कहा है—

'सबतें सेवक धरमु कठोरा'[3] भक्ति का अग होते हुए भी सेवा अधिक सावधानी की अपेक्षा रखती है। प्रेम के आवेश मे भी सेवक को लक्ष्मण की तरह ही सयत रहकर आचरण करना चाहिए। भरत से मिलने की उत्कठा को दबाते हुए किस प्रकार लक्ष्मण राम की सेवा म रत रहे इसका चित्रण करते हुए तुलसीदास ने कहा है—

'रहे राखि सेवा पर भारू। चढी चग जनु खैंच खेलारू।'[4]

यह सेवक सेव्यभाव तुलसीदास का जीवनाधार रहा है। लाख चेष्टा करने पर भी भक्तो के अनुसार सच्चाई यही है कि देहाध्यास अपने छुटाए नही छूटता। अत तुलसीदास का मत है कि जब तक व्यक्ति अपने को नामरूप धारी मानता रहे तब तक उसे अपने को सेवक और प्रभु को तथा चराचर जगत को भी प्रभु का रूप मानकर अपना सेव्य मानना चाहिए। जब मनुष्य अपने को देह के परे चैतन्य जीव माने तब वह प्रभु को पूर्ण या अशी और अपने को अश मानकर प्रभु से अशाशि सम्बन्ध भी जोड सकता है —'ईश्वर अश जीव अविनासी'[5] इसी चेतना की अनुभूति है। किन्तु तुलसीदास की दृष्टि मे चरमस्थिति तो अद्वैतदर्शी भक्त की ही है। इस ससार व्याधि की अमोघ औषध उनके अनुसार वही है, 'भक्त भेषज्यमद्वैत दरसी।'[6] ये तीनो भूमिकाए

१ मानस ७।४१।१
२ वही ४।३
३ वही २।२०३।७
४ वही २।२४०।६
५ वही ७।११७।२
६ विनय पत्रिका ५७।१७

परस्पर पूरक है। एक पुराना श्लोक है —

देहबुद्धया तु दासोऽह जीव बुद्धया त्वदशक ।
आत्म बुद्धया त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मति ॥[1]

अर्थात भक्त कहता है कि हे प्रभु! देहबुद्धि से मैं तुम्हारा दास हूँ, जीव बुद्धि से मैं तुम्हारा अश हूँ और आत्मबुद्धि से जो तुम हो वही मैं हूँ अर्थात् मैं तुमसे अभिन्न हूँ, यही मेरी निश्चित मति है। मेरी मान्यता है कि तुलसीदास के साहित्य मे भी ये तीनो भूमिकाएँ परिलक्षित होती है। व्यवहार से परमार्थ तक का यह अविरोधी क्रम तुलसीदास को भी स्वीकार्य था, ऐसा अनुमान करना सगत प्रतीत होता है।

पूरे विचार विमर्श के अनन्तर तुलसीदास विनम्रता पूर्वक यह भी कह देते है कि अपने बल से विचार के आधार पर भ्रम से छुटकारा पाना सभव नही है। इसके लिए प्रभु की कृपा अनिवार्य है। उन्होने दो टूक शब्दो मे कहा है कि कितना भी कोई सुन-गुन ले, समझ समझा ले, भगवान की माया इतनी प्रबल है कि उससे छूटना तब सम्भव नही जब तक प्रभु ही दया न करें।[2] अपना मत तो देख सुनकर विचार करने के बाद भी विषयासक्ति का अपना स्वभाव नही त्यागता।[3] शुष्क ज्ञानियो से तुलसी जैसे भक्तो की विचारणा का यह मौलिक अतर लक्षितव्य है। सभी दृष्टियो से पूरी तरह विचार विमर्श कर लेने के बाद तुलसी और उनके जैसे भक्तो का अतिम वैचारिक निष्कर्ष यही है —

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दास हित मोह न छूटै माया ॥[4]

१ कल्याण (उपनिषद अक) पृष्ठ ८४ पर उद्धत
२ विनय पत्रिका ११६।१-४
३ वही ११६।१ २
४ वही १२३।१-२

विनय पत्रिका मे

श्री रामचरितमानस मे रामराज्य का वणन करते हुए तुलसी ने लिखा है

जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र कें राज।[1]

अर्थात श्रीराम के राज्य में यही सुना जाता था कि मन को जीतो। श्रीराम के आध्यात्मिक राज्य के प्रत्येक निवासी की यही साधना है कि मन को जीत कर उसे श्रीराम के चरण कमलो म भ्रमर की भाँति बसा दिया जाय। तुलसीदास ने आजीवन यह साधना की थी। विनय पत्रिका मे उनकी इस साधना का विस्तृत रूप उपलब्ध होता है। उनका विश्वास था कि वे प्रत्येक पूव जन्म मे अपनी शक्ति भर मन से जूझते रहे फिर भी उस पर विजय न प्राप्त कर सके। अत इस बार प्रभु से कृपा की याचना करते हुए जिता दिए जाने की प्राथना करते हैं

कबहुँ कृपा करि रघुबीर मोहूँ चितैहो।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि ! अवगुन अमित बितैहो॥
जनम जनम हौ मन जित्यो, अब मोहिं जितैहौ।
हौ सनाथ ह्वैहौं सही, तुमहूँ अनाथपति, जो लघुतहि न भितैहो॥[2]

जन्म जन्म म मुझे मन ने जीता है, इस बार मुझे जिताओगे ? इस कातर प्रायना के पीछे जन्म जन्म म सह लाछन उपहास-कष्ट की कितनी मर्मतुद वेदना है। इस बार प्रभु कृपा स उनम मुक्ति पाने का सकल्प है। अ यत्र भी उ होंने कहा है

1 ७।२२।१० विनय पत्रिका और दोहावली के उद्धरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा की तुलसी ग्रथावली के दूसरे खड के चतुथ सस्करण से तथा रामचरितमानस के उद्धरण आचाय प० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र सपादित काशिराज सस्करण से उदधत है।

२ विनय पत्रिका २७०

परबस जानि हँस्यो इन इद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौ ।[1]

परवश (विषयवासना आदि के वश) जान कर ये इद्रियाँ मुझ पर
रहीं (मन तो इद्रियो का अधिपति है अत वह और भी अधिक हँसत
होगा), किन्तु आत्मवश होकर (मन सहित समस्त इद्रियो को जीतकर)
हास्यास्पद नही बनूगा । मनोविजय की इस दृढ सकल्पमयी साधना का
तुलसी ने किस प्रकार किया है, मुख्यत विनय पत्रिका के पदो के सहारे
विवेचन मात्र यहाँ अभिप्रेत है ।

यह भी समझ रखना चाहिए कि विनय पत्रिका मे गोस्वामी जी क
काम्य प्रभुशरणागति है । मनोविजय की साधना उसी के निमित्त है,
भगवान् की शरण तो तभी मिल सकती है जब मन विषयो का परित्य
शुद्ध और स्थिर होकर उनकी ओर उन्मुख हो उनके अनुकूल हो । तु
बार बार अनुभव किया है कि

विषय बारि मन-मीन भिन्न नहि होत कबहुँ पल एक ।
तातें सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ।।[2]

मन रूपी मत्स्य विषय रूपी जल से एक पल के लिए भी नही
होता फलत अत्यत दारुण विपत्ति सहनी पडती है, अनेक योनियो मे जन
करना पडता है । यदि इसी विषयासक्त मन से, मलिन अतस् से अनेक
के बाह्य साधन किए जाएँ तो उसी प्रकार कोई लाभ नही होगा जिस
बाबी को पीटने से उसके भीतर रहनेवाला सप नही मरता है । म
जीवद्रोह, मद मत्सर से परिपूर्ण, विषयानुरागी, चचल और निजतापर
द्वैतबुद्धि से लिप्त है तो भगवान् का प्रिय कैसे हो सकता है[3] क्योकि
लिए तो इनसे विपरीत गुणो की अपेक्षा है

अखिल-जीव-बत्सल निमत्सर चरन-कमल अनुरागी ।
ते तव प्रिय रघुबीर ! धीरमति अतिसय निज पर-त्यागी ।।[4]

मानस मे तो श्रीराम ने स्पष्ट कहा ही है

निमल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।

१ विनय पत्रिका १०५
२ वही १०२
३ वही ११५
४ वही ११८

निष्कर्ष यही निकलता है कि जब तक हृदय मे भक्ति का प्रकाश नही होता और मन से विषयवासना की तृष्णा नही मिटती तब तक आवागमन के चक्र मे पडे रहने के कारण स्वप्न मे भी सुख नही मिल सकता, प्रभु शरण की तो बात ही और है। अत मनोविजय उस प्रधान उद्देश्य का अनिवाय साधक तत्त्व है।

चूंकि विनयपत्रिका की शैली भाव निवेदन प्रधान ह अत तत्त्व विवेचन उसका अग बनकर ही आ सका है। वास्तव मे विनय पत्रिका क पद एक महान विचारशील भक्त के सहज वैयक्तिक उद्‌गार हैं जिनमे प्रभु की महत्ता बोधक स्तुति क साथ अपनी लघुता सूचक उक्तियो का समावेश इस प्रकार किया गया है कि उनकी करुणा का उद्रेक हो सके और वे भक्त को अपनी शरण मे ले लें, अपना बना लें। फलत इन पदो मे तुलसी की दाशनिक विचारधारा प्रसग प्राप्त विषयो के अनुसार अभि यक्त हुई ह, सागोपाग विवेचन के रूप म नही। मन क विचार के सम्ब ध मे भी यही सत्य है। मन अणुरूप है कि विभुरूप, उसकी अवस्थिति दोनो भौहो के बीच आज्ञा चक्र म ह या हृदय मे आदि निरे सैद्धातिक विवेचन म तुलसीदास नही उलझे हैं। मन की परिभाषा भी उ होने नही दी है कि तु उसकी क्रिया प्रकृति आदि का विस्तृत चित्रण किया है। इसका अभिप्राय यही है कि उ होने परम्परागत अथ म मन को ग्रहण कर उसके व्यावहारिक पक्ष पर पूरा जोर दिया है और प्रतिपादित किया ह, कि विषयासक्त होने पर जीव का दुदशा तथा विषयनिवत्त हो रामो मुख होने पर ही जीव का कल्याण साधन सभव है। वाक्य ज्ञान के प्रति अनास्था एवम् सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति' पर भरोसा करनेवाले भक्त क लिए यह स्वाभाविक ही है। सूक्ष्म शास्त्रीय दष्टि से वेदात मे मन को अत करण के चार विभाजनो मन, बुद्धि, चित्त और अहकार मे एक माना गया है और उसका लक्षण सकल्प विकल्प करना कहा गया है। तुलसी ने इस विभा जन को स्वीकार करत हुए विनय पत्रिका म लिखा है

> चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन, चित अहँकार।
> विमल बिचार परमपद निज सुख सहज उदार॥[1]

किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि तुलसीदास ने 'मन' शब्द का प्रयोग सदा 'सकल्प विकल्प' करनेवाली अत करण की विधा विशेष के रूप मे ही नही किया है। जब वे कहत है

१ विनय पत्रिका २०३

काम न क्लेस लेस, लेत मानि मन की ।
सुमिर सकुचि रुचि जोगवत जन की ॥[1]

तब वे काय की तुलना मे मन को रख कर यह सूचित करते हैं कि यहाँ मन से तात्पर्य सपूर्ण अत करण से है केवल सकल्प विकल्प करनेवाले अश से नही । यही भाव

मन, इतनोई या तनु को परम फलु ।
सब अग सुभग बिंदुमाधव-छबि तजि सुभाउ अवलोकु एक पलु ॥[2]
तो तू पछितैहैं मन मीजि हाथ ।
भयो सुगम तो को अमर-अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ ॥[3]

आदि प्रयोगो मे भी झलकता है । 'करम बचन मन' तुलसी का अत्यत प्रिय मुहावरा है । इससे भी बाह्य वृत्तियो (करम-बचन) के साथ आभ्यतर वृत्ति (मन) का बोध होता है । कहा जा सकता है कि 'मन' से तुलसी का यही प्रधान अभिप्रेत अर्थ है । 'मन्यते बुध्यते अनेन इति मन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी मन का अर्थ है मनन का साधन अर्थात् प्राणियो की वह शक्ति जिसके द्वारा उनको वेदना, सकल्प, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है ।[4] इसी व्यापक अर्थ मे तुलसीदास ने मन का प्रयोग किया है । प्राय इसी के ममशील अर्थ मे चित्त[5] और हृदय[6] का भी प्रयोग किया है ।

अब 'जीतहु मनहिं' का अर्थ भी समझ लिया जाय । मन अजितावस्था मे क्या करता है, उसका वह कार्य किस प्रकार जीव को बाँधता है, यह जान लेने पर मन को जीतने का अर्थ स्पष्ट हो जायगा । मन इद्रियो द्वारा उपलब्ध ज्ञान को वर्गीकृत कर आत्मा के पास पहुँचाता है और आतरिक निणयो को इद्रियो के द्वारा कार्यान्वित कराता है । इस प्रकार वह बाह्य वस्तुओ का तद्वत बोध नही करता वरन वस्तुओ के मनोमय रूप बनाकर रागद्वेष के कारण उन्हे ग्राह्य, त्याज्य या उपेक्षणीय मान बैठता है । वह बाह्य जगत से भिन्न मनोमय

१ विनय पत्रिका ७१
२ वही ६३
३ वही ८४
४ सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
५ विनय पत्रिका १४, १०४
६ वही ११६, १६९

जगत की रचना कर उसके प्रति रागद्वेष का पोषण कर जीव को बांधता है। पचदशी के द्वैत विवेक प्रकरण मे यह बताया गया है कि द्वैत दो प्रकार का है—ईश्वरकृत और जीवकृत। ईश्वर ने अपनी मायाशक्ति से अपने सकल्प के अनुसार समस्त जगत् की रचना की है। वह ईश्वरकृत द्वैत जीव को सदव बांधता ही हो ऐसी बात नही है। वह गुरु, शास्त्र आदि (जो ईश्वरकृत द्वैत के कारण ही सुलभ हैं) के द्वारा इसकी प्रतीति हो जाने पर कि इस दृश्यमान *जगत् मे मूल म एक ही तत्त्व है, जीव को इस द्वैत से मुक्ति पाने की सुविधा* भी देता है। यह ईश्वर कृत जगत् जीव का भाग्य उसके ज्ञान एवम् कम के कारण ही बनता है। अत वास्तविक बधन तो जीवकृत द्वैत है जो मनोमय जगत् के कारण उत्पन्न होता है। ईश्वरकृत मासमयी स्त्री तो एक ही है किन्तु उसी के *आधार से निर्मित मनोमयी स्त्रियाँ, माता, भगिनी, प्रिया, पत्नी,* पुत्री आदि के रूप मे अनेक हैं और इन्ही मनोमय रूपो के कारण वह मासमयी स्त्री (या कोई भी वस्तु) रागद्वेष के बधन मे भोक्ताओ को बांधती है। बाह्य पदार्थ के रहने न रहने से ही सुख दु ख की अनुभूति होती हो ऐसा भी नही है। वह *तो मनोमय पदार्थ के रहने न रहने से ही होती है। किसी का प्रवासी पुत्र* जीवित भी हो किन्तु यदि पिता को कोई दुष्ट उसकी मृत्यु का सवाद दे तो मनोमय पुत्र को मरा जानकर पिता रोने लगता है। इसी तरह यदि पुत्र की मृत्यु हो गई हो तो भी ज्ञात न होने तक मनोमय पुत्र के जीवित रहने के *कारण पिता को शोक नही होता।*[1] *निष्कर्ष यह निकलता है कि जीव के लिए* मन ही अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार जगत की सृष्टि करता है और उसी से जीव को बांधता है। अत मन की प्रवृत्तियो का निरोध कर इसी मनोमय द्वैत का निराकरण करना ही मन को जीतना है।

तुलसीदास पचदशी से यहाँ तक तो सहमत हैं। उनका सुविचारित मत है

> जो निज मन परिहरै बिकारा।
> तौ कत द्वैत जनित ससृति-दुख, ससय, सोक, अपारा॥[2]

१ दूरदेश गत पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलम्भकवाक्येन मृत मत्वा प्ररोदिति॥
मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अत सर्वस्य जीवस्य बधहेतुर्मानसं जगत्॥ पंचदशी, ४।३४ ३५

२ विनय पत्रिका १२४

यदि मन अपने विकारो को छोड दे तो फिर द्वैतभाव के कारण उत्पन्न अपार सासारिक दु ख, सशय और शोक कहाँ रह जायें। इसी मन ने तो बलपूर्वक किसी को शत्रु मानकर सर्प के समान त्याज्य, किसी को मित्र मानकर स्वर्ण के समान ग्राह्य और किसी को मध्यस्थ मानकर तृण के समान उपेक्षणीय समझ रखा है। जैसे भोजन, वस्त्र, धन विविध प्रकार की वस्तुएँ सब मणि मे रहती हैं वैसे ही स्वर्ग, नरक और अनेक प्रकार के लोक मन मे ही बसते हैं जैसे वृक्ष या काठ मे कठपुतली और सूत मे वस्त्र बिना बनाये निहित रहते हैं (तभी तो उन पदार्थों से उनका निर्माण हो जाता है) वैसे ही मन मे अनेक प्रकार के रूप अव्यक्त भाव से रहते हैं जो अवसर पाते ही प्रकट हो जाते हैं। इससे यह नही समझना चाहिए कि तुलसीदास विज्ञानवादी बौद्धो की तरह जगत को केवल मन की कल्पना मानते थे। उनके अनुसार जगत तो 'सीय राम मय' है एवम् राम का रुख पाकर माया द्वारा रचित है, मन केवल उसमे प्रवृत्त होकर उसे अपना भोग्य बनाता है और इस प्रकार मनोमय जगत की सृष्टि करता है। रूपक की भाषा मे तुलसी ने कहा है

वपुष ब्रह्माण्ड सो, प्रवृत्ति लकादुर्ग रचित मन दनुज मयरूपधारी।[1]

यहाँ ब्रह्माण्डरूपी शरीर का रचयिता मन नही कहा गया है, वह तो प्रवृत्ति रूपी लकादुर्ग को ही रचता है। यह भी लक्षणीय है कि तुलसी इस लकादुर्ग का समूल नाश नही चाहते। वे इसका कलुष प्रबल वैराग्य रूपी हनुमान से भस्म करवा कर मोहरूपी रावण के स्थान पर राम क चरणसेवक विभीषण को इस पर राज्य करते देखना चाहते हैं सारांश यह कि मन के विचार या मनोमय द्वैत के कारण ही कोई पदार्थ सुखमय या दु खमय प्रतीत होता है और इसी रागद्वेष के कारण जीव बधनग्रस्त होता है। इसीलिए विष्णु पुराण मे कहा गया है, 'मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो' अर्थात् मन ही मनुष्य के बधन और मोक्ष का कारण है।[2] विषयासक्त मन जीव को बाधता है और निर्विषय मन मुक्त करता है। इसके आगे पचदशीकार का और उनका मार्ग भिन्न है। पचदशी (अर्थात् ज्ञान मार्गियो) के अनुसार ब्रह्मज्ञान से ही इस द्वैत की वास्तविक निवृत्ति सम्भव है,[3] योग भी सहायक है, निर्विकल्प समाधि

१ विनय पत्रिका ५८
२ विष्णु पुराण ६।७।२८
३ पचदशी ४।३६

से या आत्मज्ञानी दीर्घ प्रणव का उच्चारण कर मनोराज्य को जीत सकता है। विजित हो जाने पर मन उसी प्रकार वृत्तिशून्य हो जाता है जिस प्रकार मूक वाग्व्यवहार से रहित होता है। तुलसीदास को न यह मार्ग स्वीकार है और न मन की वृत्तिशून्य मूकवत स्थिति। मनोविजय के लिए तुलसीदास का एक मात्र सम्बल है प्रभु कृपा और काम्य है मन की वृत्तियों का राममय हो जाना।

तुलसीदास ने विस्तारपूर्वक मन की उच्छृङ्खलता, चंचलता और विषयासक्ति का चित्रण किया है, क्योंकि मन की अनीति को दूर करने के लिए उसे पहले जानना होगा। मानस के उत्तरकाण्ड में मानसरोगों की चर्चा करते समय उन्होंने लिखा है कि काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक रोगों से सारा संसार ग्रस्त है, किन्तु विरले ही ऐसे होते हैं जो यह जान भी पाते हैं कि उन्हें मानस रोग कष्ट दे रहे हैं। जान पाने पर ये पापी कुछ छीजते हैं, दुर्बल होते हैं यद्यपि नष्ट नहीं होते।[1] अतः मानसिक विकारों का वर्णन भी उन विकारों को दूर करने में सहायक है, किंतु इस वर्णन का यही प्रधान कारण नहीं है। वस्तुतः यह वर्णन अपने जानने के लिए नहीं, प्रभु को सुनाने के लिए किया गया है, जैसा कि

दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर, कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिविध ज्वर, करत फिरत बौराई ॥[2]
तथा 'सुनहु राम रघुबीर गुसाइं। मन अनीति रत मेरो।'[3]

आदि पंक्तियों से स्पष्ट है। दोहावली में तुलसी ने लिखा है

तुलसी राम कृपालु सो कहि सुनाउ दुख दोष।
होय दूबरी दीनता परम पीन संतोष ॥[4]

अर्थात् कृपालु राम से अपने दुःख दोष कह सुनाओ जिससे दीनता दुर्बल और संतोष परम पुष्ट हो। प्रभु के निकट सच्चे हृदय से अपने दोषों की स्वीकृति उन दोषों की निवृत्ति के लिए परम आवश्यक है क्योंकि सच्चे पश्चात्ताप

१ एहि विधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥
मानसरोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए ॥
जाने तें छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥
—मानस, ७।१२२।१३

२ विनय पत्रिका ८१

३ वही १४३

४ दोहावली ८६

पर ही प्रभु की करणा होती है। तुलसी ने विनय पत्रिका मे बार बार इस बात पर भरोसा किया है कि मैंने अपने मन की कुचाल प्रभु से कह सुनाई है। कभी अपने मूढ मनकृत दोषो का वर्णन करते हुए वे कहते हैं

तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछु नहिं गोयो।[1]

कभी इस बात से बडे सतोष का अनुभव करते हैं कि मैं अपनी ओर से सब बातें प्रभु से कह कर निश्चित हो चुका

तुलसी समुझि समुझायो मन बार बार।
अपनो सो नाथ हूँ सो कहि निरबह्यो हौं॥[2]

कितने विश्वास के साथ वे कहते हैं कि मेरी बात सब प्रकार से बिगडी हुई है केवल एक ही प्रकार से अच्छी तरह से बनी है कि मैंने सब कुछ अपने श्रेष्ठ स्वामी से कह सुनाया है

सब भाँति बिगरी है एक सुबनाउ सो।
तुलसी सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो॥[3]

अत यह स्मरणीय है कि मन की दुष्टता का वणन प्रभु की करुणा की याचना के उद्देश्य से इस विश्वास के साथ किया गया है कि मन को सुधारने का अतिम उत्तरदायित्व प्रभु का ही है।

तुलसीदास के अनुसार मन का सबसे बडा दोष यह है कि वह हरिपद सुख का परित्याग कर विषयासक्त हो गया है। अपनी इस वेदना को उन्होंने जैसी

ऐसी मूढता या मन की।
परिहरि रामभगति-सुरसरिता आस करत ओसकन की॥[4]
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इद्रिन तान्यो।[5]
चरन सरोज बिसारि तिहारे निस दिन फिरत अनेरो॥[6]
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो।[7]

पक्तियो मे व्यक्त किया है। अनीतिरत मन प्रभु के चरण कमलो को भुलाकर

१ विनय पत्रिका २४५
२ वही २६०
३ वही १८२
४ वही ९०
५ वही ८८
६ वही १४३
७ वही २४५

अ यत्र फिरता रहता है, वेदादि का अनुशासन नही मानता, उसे किसी का भी त्रास नही है, कम के कोल्हू मे तिल के समान अनेक बार पेरा जाकर भी वह मूल को भूल गया है जहाँ प्रभु की कथा हो, सत्सग हो वहाँ स्वप्न मे भी नही जाता, लोभ, मोह, मन, काम, क्रोध मे रत है उन्ही से घना प्रेम करता है, पर गुण सुनकर जल उठता है, पर दोष श्रवण से हर्षित होता है, आप पाप का नगर बसा ले किंतु दूसरे का गाँव भी उसे सह्य नही, समस्त साधनो का फल वेदो का सार, भवसरिता तरने के लिये बेडे के समान प्रभु का नाम कौडियो क लिए बेच कर बलपूवक दासवत्ति अपनाता है। कभी यदि सत्सगति के प्रभाव से सुमाग के निकट भी जीव आता है तो यह क्रुद्ध होकर कुमनोरथों से भटका देता है, मन के दु सह दरेरे असह्य हैं।[1]

इस अनीति का कारण मन की मलीनता है जो विषयासक्ति के फलस्वरूप है—'मन मलिन विषय सँग लागे'। विषय इद्रियो के अथ को कहते हैं। शब्द, स्पश, रूप, रस, गध के प्रति श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, नासिका की सहज आसक्ति है। ये इन्द्रियाँ बलपूवक जीव को अपने अपने विषयो मे लगा देती हैं। इसीलिए कहा गया है

निसि दिन भ्रमत बिसरि सहज सुख जहँ तहँ इद्रिन तायो।

इन विषयो के भोग के कारण सुख की भ्रामक प्रतीति के अनतर दु सह दु ख झेलना पडता है, फिर भी मन अपना स्वभाव नही छोडता, भौतिक सुखो की कामना से कम कीच म सनता ही रहता है। यह इसका चरम अज्ञान है कि शत्रुओं को मित्र मान कर उनका सग कर कुपथगामी हो जाता है। ये शत्रु है काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर जिन्होने इसका ज्ञान और वैराग्य हर लिया है।[2] मन अत्यत चचल है। वह क्षण भर के लिए भी स्थिर नहीं हो पाता। कभी वह योग मे लीन होता है तो कभी भोग मे, कभी वियोग का अनुभव करता है, कभी मोह के वशीभूत हो अनेक प्रकार के द्रोह करता है तो कभी अत्यत दयालु हो उठता है, कभी दीन, निर्बुद्धि, गरीब बन जाता है, कभी पाखडी तो कभी धर्मात्मा ज्ञानी, कभी ससार को धनमय देखता है तो कभी शत्रुमय, कभी स्त्रीमय, इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ के सन्निपात से ग्रस्त हो दारुण सासारिक दु ख भोगता रहता है।[3] इन्ही विचारो को तुलसीदास ने

१ विनय पत्रिका १४३
२ वही १७३।१८७
३ वही ८१

अनेक पदो मे दुहराया है।

मन की इस शोचनीय परिणति का सारा दोष तुलसीदास अपना मानते है, उसे विधाता, देश, काल, कर्म, स्वभाव आदि के माथे नही थोपते

> हे हरि, कवन दोष तोहि दीजै ?
> जेहि उपाय सपनेहुँ दुलभ गति, सोइ निसि बासर कीजै ॥[1]
> कैसे देउँ नाथहि खोरि ?
> काम लोलुप भ्रमत मन हरिभगति परिहरि तोरि ॥[2]
> है प्रभु मेरोई सब दोसु ।
> शीलसिंधु, कृपालु, नाथ, अनाथ आरत पोसु ॥[3]

आदि पदो मे तुलसीदास सीधे-सीधे अपने को ही दोषी मानकर कहते है कि प्रभु तो अनाथो और आर्तों का पोषण करने वाले हैं, मैं ही यदि केवल वचन और वेष मे वैराग्य झलकाऊँ और मन को पापो एव अवगुणो का कोष बना रखू, राम के प्रति मेरा विश्वास और प्रेम तो पोला हो और कपटाचरण ठोस हो तो फिर कैसे मेरा भला हो सकता है ? यहा दोहावली का यह दोहा भी द्रष्टव्य है

> निज दूषनु गुन राम के समुझे तुलसीदास ।
> होय भलो कलिकाल हू उभय लोक अनयास ॥[4]

अर्थात् दोष अपने और गुण राम के समझने पर इस कलिकाल में भी भला होता है और अनायास ही उभय लोको की प्राप्ति होती है। इसी सिद्धात के अनुसार मन की शठता के लिए भी अपने को ही दोषी मानकर वे उसे सत्पथ पर लाने का प्रयास करते हैं।

मन को अपने आचरण पर लज्जित करने के लिए वे उसकी भर्त्सना करते हैं और साथ ही साथ उसे शिक्षा भी देते है। 'तौ तू पछितैहैं मन मींजि हाथ' या 'मन पछितैहै अवसर बीते' जैसे पद केवल भर्त्सनामूलक नही है। यह सचमुच ग्लानि की बात है कि देवदुलभ मानव शरीर पाकर उसे क्षुद्र कार्यों म नष्ट कर दिया जाय। मन को शिक्षा देते समय तुलसीदास ने उसकी प्रवृत्तियो को खूब ध्यान म रखा। आखिर मन विषयो के पीछे क्यो भटकता है, सुख के

१ विनय पत्रिका ११७
२ वही १५८
३ वही १५९
४ दोहावली ७७

लिए ही तो। अत तुलसी ने पहले इसी बात पर जोर दिया है कि

सुखसाधन हरि बिमुख बृथा, जैसे श्रम फल घृतहित मथे पाथ।[1]

अर्थात हरिविमुख होकर सुख के लिए प्रयास करना उसी प्रकार व्यथ है जैसे घी के लिए पानी मथना, उससे केवल परिश्रम ही हाथ आता है। इसी तरह

सुनु मन मूढ, सिखावन मेरो।
हरिपद बिमुख लह्यो न काहु सुख सठ यह समुझि सबेरो॥[2]

कहने के बाद सूय, चन्द्रमा और गगा के उदाहरण से तुलसी ने बताया है कि प्रभु से बिछुडने पर सबको घना दुख उठाना पडता है। सुख तो प्रभु की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। अत वे कहते है

तुलसिदास सब भाति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥[3]

फिर उन्होंने यह भी बताया है कि विषय सुख अत्यत क्षणिक, भ्रातिमूलक एव वस्तुत दुख की जड है। विषय सुख की असारता का वणन करते हुए उन्होने लिखा है

अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यो भरि मुख पकरयो।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन सतोष धरयो॥[4]

जिस प्रकार कोई भूखा कुत्ता पुरानी सूखी हड्डी को मुह म भरकर झिझोडे और अपने तालू से निकलते हुए रुधिर को उस हड्डी से निकलता मानकर उसे झिझोडने मे सुख माने, जबकि वस्तुत उस परम हानि हो रही है उसी प्रकार विषयों के भोग म जिस सुख की अनुभूति है वह अपनी स्पृहा से उत्पन्न एव मृगजल की तरह मिथ्या है तथा जीव को आवागमन के चक्र मे डालनेवाली है। बार बार तुलसी ने विषय सुख को ओस-कण की तरह तुच्छ, नीम की तरह कटु, मृगजल की तरह अवास्तविक, विषफल के समान त्याज्य आदि कहा है। विषय भोग के अतिम परिणाम की ओर ध्यान आकृष्ट कर उनके परित्याग की प्रेरणा देते हुए उन्होने लिखा है कि सहस्रबाहु एव रावण भी जीवनकाल म 'हम हम (श्रेष्ठता का अहकार) करते हुए धनधाम ही सँवारते

१ विनय पत्रिका ८४
२ वही ८७
३ वही १६२
४ वही ९२

रहे किन्तु अन्त मे उन्हे खाली हाथो ही जाना पडा। पुत्र पुत्री आदि आत्मीय तो परम स्वार्थी है, स्वार्थ सध जाने पर अन्त मे तेल निकली हुई खली की तरह छोड देने म कुठित नही होते। अत ओ मन, तू उन्हे अभी से क्यो नही छोड देता। ओ जड, अब भी जाग और प्रभु से अनुराग कर, याद रख विषय भोग रूपी घृत से कामनाओ की अग्नि कभी शान्त नही होती।[1] अत मन यदि प्रभु रूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त करना चाहता है तो उसे विषय विकार का परित्याग एव जगत के सार स्वरूप प्रभु का भजन करना ही होगा। शम, सतोष, शुद्ध विचार एव सत्सग को दृढतापूवक धारण करना होगा और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग और द्वेष को जड से त्याग देना होगा।[2]

मन को वश मे करने के लिए इद्रियो को पहले वश मे करना चाहिए। इद्रिया को उनके विषयो से हटाकर निरुद्ध करना अत्यत कठिन है। तुलसीदास इद्रियो को रामोन्मुख कर देना चाहते है। उनका उपदेश है—

स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा समुद्र हरि अगजग रूप भूप सीतावरु॥[3]

अर्थात कानो से उनकी कथा सुनो, मुह से नाम लो, हृदय मे उन्हे बसाओ, सिर झुकाकर प्रणाम करो, हाथो से सेवा एव नेत्रो से चराचर रूप कृपा समुद्र श्रीराम के दशन करो। ऐसा कर पाने पर किसी अन्य साधन का प्रयोजन ही नही रहेगा क्योकि यही सच्ची भक्ति है, वैराग्य है, ज्ञान है और हरि को प्रसन्न करने का व्रत है। इसी प्रकार तुलसीदास मन को मनोरथ शून्य करने के पक्ष म भी नही हैं। वे विषय भोग सम्बधी मनोरथो के स्थान पर प्रभु की सेवा, भक्ति करने और प्रभु की कृपा पाने के शुभ मनोरथो से मन को परिपूर्ण रखना चाहते हैं। उनके मनोरथो मे समस्त इन्द्रियो को प्रभुमय कर देने की भावना बहुत प्रबल है। उनका सकल्प है 'जानकीजीवन की बलि जैहो'। उनका चित्त सीताराम के चरणो को छोडकर अब और कही जाने के लिए प्रस्तुत नही है। उनके हृदय मे यह विश्वास जम गया है कि प्रभु पदविमुख होकर स्वप्न मे भी सुख नहीं मिलेगा। वे मन समेत शरीर के समस्त निवासियो (इद्रियो) को यही शिक्षा देंगे। वे काना से और बात नही सुनेंगे, जीभ से किसी और के

१ विनय पत्रिका १६८
२ वही २०५
३ वही २०५

गुण नही गायेंगे, नेत्रो से किसी और को नही देखेंगे तथा प्रभु के सामने ही सिर झुकायेंगे।[1]

वे यहीं नही रुकना चाहते। मन का स्वभाव है विषयो म आसक्त होना, यही उसकी सहज प्रकृति है। तुलसीदास का मनोरथ है कि इसी प्रकार सहज स्वाभाविक रूप से मन को प्रभु के प्रति आसक्त होना चाहिए। ऐसा न होने पर वे परिताप के साथ कहते हैं कि 'हे प्रभु! मेरा मन इस प्रकार तुमसे कभी नही लगा, जिस प्रकार छल छोडकर स्वाभाविक रूप से निरन्तर विषयो मे अनुरक्त रहता है, जसे परनारी को देखा वैसे तो कभी साधुओं के (या प्रभु के) दशन नही किये, जैसे घर घर के पास प्रपच रस ले ले कर सुन वैसे तो कभी गगा-तरग के समान निमल राम के गुण समूह नही सुने, जैसे नासिका अन्य सुगधो के रस क वश रही वैसे तो राम के प्रसाद की माला उसने नही सूँघी, जैसे जिह्वा का षटरस भोजन मे प्रेम रहा वैसे तो वह राम की जूठन के लिए नही ललकी, नही ललची, जैसे चदन, चद्रमुखी के शरीर, भूषण वस्त्र को यह नीच शरीर स्पश करना चाहता था वैसे तो कभी राम के चरण स्पश के लिए यह पापी नही तरसा, जैसे भौतिक दुष्ट स्वामियो की सेवा शरीर, मन और वाणी से की वैसे तो कभी कृतज्ञ राम की सेवा नही की जो एकबार प्रणाम करने से भी सकुचित हो जाते हैं, जैसे तुच्छ लोभ के लिए ये पैर दुनिया के द्वार द्वार भटकते फिरे वैसे तो ये अभागे कभी सीताराम के आश्रय जाने के लिए नही उमगे।[2] इन सभी पदो से यही सिद्ध होता है कि मन और इद्रियो को वशीभूत करने के लिए वे उन्हे स्वाभाविक रूप से रामोन्मुख कर देना चाहते थे।

तुलसीदास मन को अभिमानरहित शत्रु मित्र, मान अपमान, शीत उष्ण में एकरस, क्रोधरहित (विगत मान, सम सीतल)[3] सुख-दुख, हर्ष शोक आदि द्वद्वो से रहित, ज्ञान रत, विषयो से विरक्त, सब प्रकार की परीक्षाओ मे खरा उतरने वाला, समस्त प्राणियो का हितैषी, निष्कपट, प्रेम भक्ति के दृढ नियमो का एक रस निर्वाह करनेवाला[4] बनाना चाहते थे।

किन्तु प्रश्न यह है कि मन ऐसा हो कैसे? मन को वश मे करने के लिए

१ विनय पत्रिका १०४
२ वही १७०
३ वही १७२
४ वही २०४

अनेकानेक साधनो की चर्चा शास्त्रो मे की गई है। योग तो चित्तवृत्तियों का निरोध करने वाला शास्त्र ही है। ज्ञानी आत्मज्ञान द्वारा मन को वश मे करते है। भगवान ने गीता के छठे अध्याय मे ध्यान योग द्वारा मन को वशीभूत करने का उपदेश देते हुए 'अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते' कहकर अभ्यास और वैराग्य पर बहुत बल दिया है। योग सूत्र में भी पतंजलि ने 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध'[1] कहकर इन साधनो की वरिष्ठता स्वीकार की है। पर तुलसीदास को ये सभी साधन यथेष्ट नही लगते। अपने अनुभवो से आकुल होकर वे प्रभु से पूछ बैठते हैं—

> हे हरि ! कवन जतन भ्रम भागै ?
> देखत सुनत विचारत यह मन निज सुभाव नहिं त्यागै ॥
> भगति, ज्ञान, बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
> कोउ भल कहहु, देउ कछु कोऊ, असि बासना न उर तें जाई ॥[2]

हे हरि ? किस प्रकार यह भ्रम दूर हो। मेरा यह मन देख, सुन और विचार करके भी (विषयासक्ति का) अपना स्वभाव नही छोडता। मन के इस स्वभाव को छुडाने के लिए भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त साधन करने पर भी यह वासना तो हृदय से नही गई कि कोई मुझे भला कहे, कोई मुझे कुछ दे। वास्तविक संकट यह है कि 'सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय दसा हृदय नहिं आव'[3] तत्त्वज्ञान को सुनते, मनन करते, समझते और समझाते हुए भी वह जानकारी मन की सहज दशा, निष्ठा नही बन जाती। कबीर की साखी है—

> मन जाणै सब बात जाणत ही औगुण करै।
> काहे की कुसलात कर दीपक कूँवै पडै ॥

मन तो सब बातें जानता ही है, जानकर अवगुण करता है। हाथ में दीपक लिए हुए कोई कुएँ मे कूद पडे तो कुशल कैसे होगी ? वाक्यज्ञान के स्थान पर आचरण और अनुभूति मे विश्वास करनेवाले तुलसी का निश्चित मत है—

> सोक, मोह, भय, हरष, दिवस निसि, देस काल तहँ नाही।
> तुलसिदास यहि दसाहीन, संसय निर्मूल न जाही ॥[4]

१ योगसूत्र १।१२
२ विनय पत्रिका ११९
३ वही ११६
४ वही १६७

अर्थात द्वद्वातीत दशा के बिना सशय निर्मूल नही हो सकते । तुलसीदास का दृढ मत है कि केवल अपने प्रयाण से या इन साधनो से काम नही बनने का । अपने सतत प्रयासो की विफलता उन्होने अनेक स्थलो पर स्वीकारी है। हे हरि जू ! मेरा मन हठ छोडता ही नही । रात दिन इसे अनेकानेक शिक्षाए देना रहता हूँ किंतु यह तो अपने स्वभाव से टस से मस नही होता । 'हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि, अतिसय पबल अजै ।'[1] मैं अनेक प्रकार के यत्न करके हार गया किन्तु यह अब भी अत्यन्त प्रबल है । 'सकल साधन' 'जतन बिबिध बिधि' आदि वचन इस बात के प्रमाण हैं कि इन अनेक साधनो का अभ्यास करके भी वे कृतकार्य नही हुए थे । इसका अर्थ यह नही लेना चाहिए कि ये साधन उनकी दृष्टि मे खोटे हैं । नही, ये साधन तो ठीक है 'ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाही'[2] या 'करम, उपासन, ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो'[3] आदि पक्तियो मे वैष्णव विनयशीलता के साथ इन साधनो की सत्यता को उन्होंने मान लिया है किंतु इसके साथ उन्होने दो बातें जोडी हैं । पहली तो यह कि घनघोर कलिकाल मे साधको की मति की विकलता के कारण ये साधन निरुपाधि नही रह गये है ।

जप, तप, तीर्थ जोग समाधी । कलि मति बिकल, न कछु निरुपाधी ।[4]

इसी तरह कलिरोग ने योग सयम, समाधि को ग्रस लिया है ।[5] कलिकाल मे कर्मकाड तो अत्यन्त कठिन तथा प्रचुर श्रमसाध्य है एवम ज्ञान, विराग, जोग, जप तप को लोभ मोह, क्रोध और काम का भय है[6] अर्थात तुलसी के मतानुसार ये साधन खरे होते हुए भी समयानुकूल नही है । दूसरी बात यह कि इन साधनो के प्रति तुलसी को व्यक्तिगत रुचि भी नही है । 'मोहिं तो सावन के अधहि ज्यों सूझत रग हरो' या 'मानत नहिं परतीति अनत ऐसोई सुभाव मन बाम को' आदि उक्तियो से यह स्पष्ट है । अत उन्होंने इन साधनों पर जोर भी नही दिया है ।

तुलसीदास की यह बडी अदभुत विशेषता है कि प्रतिकूल से प्रतिकूल परि

१ विनय पत्रिका ८६
२ वही ११६
३ वही २२६
४ वही १२८
५ वही ६६
६ वही १५५

स्थिति मे भी उनकी श्रद्धा विचलित नही होती। दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से दग्ध होते रहने पर भी वे टूटे नही हैं। मतवाले हाथी की तरह मन किसी भी शिक्षा को नही सुनता। प्राय समस्त साधन व्यर्थ हो चुके हैं, मन की अनीति से वे विकल हैं, उसके कारण दु सह दु खो के विषय-जाल मे उलझे हुए घोर 'संसति' सह रहे हैं किंतु फिर भी वे घुटने नही टेकते, अदम्य विश्वास और अटूट आस्था की वाणी मे कहते हैं

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भौंतुवा भौंर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित यहि बल बडे ठेकाने ठौर को हौं॥[1]

क्या हुआ, जो मन ने कलिकाल से मिलकर मुझे (विषयो के) भँवर का भौंतुवा (एक छोटा काला कीडा) बना दिया (अर्थात तुच्छ विषय सुखो के चारो ओर चक्कर काटने वाला बना दिया), मैं इस बल पर नित्य शीतल (शात) रहता हूँ कि मैं बडे ठौर ठिकाने का हूँ। यह बडा ठौर ठिकाना श्रीरामदरबार है। श्रीराम के सेवक का अकल्याण असभव है—

"तिहूँ काल तिनको भलो जे रामरगीले।"[2]

इसलिए बडे आत्मविश्वास के साथ वे कहते हैं—

'तुलसिदास रघुबीर-बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।'[3]

मन और इद्रियो की क्या बिसात कि रामकृपा के बाद भी उछल कद करें। अपना बल थक गया है, अपने प्रयास असफल हो गए हैं तो भी क्या, हुआ, राम की कृपा के बल पर उन्हें जीता जा सकता है, भ्रम मिटाया जा सकता है—'तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माही।'[4]

ये दुर्विनीत इद्रियाँ मेरा अनुशासन नही मानतीं किंतु हृषीकेश (इद्रियो के स्वामी) की आज्ञा का उल्लघन तो नही कर सकेंगी, यही सोचकर तुलसी प्रभु का हृषीकेश नाम सुनकर उन पर न्यौछावर हो जाते हैं और हृदय मे गहरे भरोसे का अनुभव करते हुए कहते हैं कि हे प्रभु! इद्रियजन्य दु ख तुम्हारे द्वारा ही हरे जा सकेंगे—

हृषीकेस सुनि नाऊ जाऊँ बलि, अति भरोस जिय मोरे।
तुलसिदास इद्रिय-सभव दुख हरे बनिहिं प्रभु तोरे॥[5]

१ विनय पत्रिका २२६
२ वही ३२
३ वही १३७
४ वही ११६
५ वही ११६

और मन के प्रेरक भी तो प्रभु ही हैं। उनके बरजने पर वह अवश्य वशी भूति हो जाएगा—'तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।'[1] वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि विषयवारि म मग्न रहनेवाले मेरे मन मीन को आप अपनी कृपा डोरि म परम प्रेम का मृदु चारा लगी, चरण कमल के अकुश की बसी से बेधकर मेरे दु खो को दूर करने का कौतुक करें।[2] तुलसी अत्यन्त दीन स्वर मे कहते हैं—

इक हौं दीन मलीन हीनमति बिपति जाल अति घेरो।
तापर सहि न जात करुनानिधि मन को दुसह दरेरो॥
हारि परचो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सबेरो।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो॥[3]

एक तो मैं स्वय अत्य त दीन मलीन बुद्धिहीन और विपत्ति समूह से घिरा हूँ उस पर हे करुणानिधि! मन का दु सह रगडा अब सहा नही जाता। मैं अनेक प्रकार क यत्न करके हार चुका हूँ। अन अभी समय रहते ही मैं आप से प्रार्थना कर रहा हूँ कि यह त्रास यह दु ख कष्ट तभी मिटेगा जब आप हृदय मे निवास करेंग। प्रभु कृपा के सहारे ही मन को जीता जा सकता है, यही उनका अनुभूत सिद्धात है।

अब शका उठती है कि प्रभु कृपा प्राप्त ही कैसे होगी, विशेषकर जब मन अपवित्र और विषयासक्त हो। तुलसीदास ने दो प्रकार से इसका समाधान किया है। पहली बात तो यह है कि 'करुणाकर की करुणा करुणा हित' होती है, जो इसके लिए किसी हेतु की कल्पना करते हैं वे प्रभु की करुणा को कल कित करते हैं। दूसरी बात यह है कि 'राम नाम' की महिमा अपार है। राम का नाम लेने पर सर्वार्थ सिद्धि हो सकती है—

राम जपु, राम जपु राम जपु, बावरे!
एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि, रे॥[4]

मन को शुद्ध करने का भी साधन रामनाम, प्रभु की कृपा प्राप्ति का साधन भी रामनाम, स्वार्थ परमार्थ सबकी सिद्धि के लिए रामनाम ही तुलसी का एक मात्र अवलब है। रामनाम ही समस्त सौभाग्य और सुख की खान तथा वेद का

१ विनय पत्रिका ८६
२ वही १०२
३ वही १४३
४ वही ६६

सार सर्वस्व है ऐसा हृदय में जानकर विश्वास के साथ वे अपने मूढ़ शठ मन को बार-बार 'रामनाम' जपने का आदेश देते हैं—

सदा राम जपु, राम जपु, राम जपु, राम जपु मूढ़ मन बार बार।
सकल-सौभाग्य सुख खानि जिय जानि, सठ! मानि बिस्वास वद बेदसार॥[1]

सारी विनय पत्रिका रामनाम की महिमा से भरी पड़ी है। तुलसी का विश्वास था कि नाम की ओट लेने पर सहज कृपालु प्रभु अवश्य द्रवित होंगे—

सो धौं को जो नाम लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर?
कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरी सकल भवभीर॥[2]

इसी आस्था का सबल लेकर तुलसी अपने स्वामी प्रभु राम से अपनी सार सँभार की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे कृपासिंधु, हे दीनदयालु, आपके चरणों की शरण आया हूँ, एक बार कृपा दृष्टि से देख लीजिए जिससे इस जन के मन की सारी अशांति दूर हो जाए।

कृपासिंधु बिलोकिए जन-मन की साँसति जाय।
सरन आयो, देव दीनदयालु! देखन पाय॥[3]

राम की कृपा हुई या नहीं, राम ने अपनाया या नहीं, इसको परखने की कसौटी भी मन ही है। तुलसी का कहना है कि

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव बिषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सो नेह छाँड़ि छल करिहै॥[4]

हे प्रभु! तुमने मुझे अपनाया है यह तो मैं तभी मानूँगा जब मेरा मन विषयों की ओर से फिर जायगा और जिस प्रकार वह स्वाभाविक रूप से विषयों के प्रति आसक्त रहता है, उसी तरह सहज भाव से छल छोड़कर प्रभु तुमसे प्रेम करेगा। जब हे स्वामी! तुममें यह पुत्र की तरह प्रेम, मित्र की तरह विश्वास, राजा की तरह भय तथा अपने समान स्वार्थभाव रखेगा और इन चारों प्रकारों में चातक की तरह अपनी टेक में अडिग रहेगा, जब अत्यंत आदर पाने पर भी हर्षित नहीं होगा और निंदित होने पर भी जल नहीं मरेगा, जब हानि-लाभ, दुःख सुख, प्रिय अप्रिय इन सब में समभाव रखेगा एवं कलि की कुचालों को छोड़ देगा, जब आपके गुण सुनकर हर्षित होगा और प्रेमाश्रु बहाने

---

१ विनय पत्रिका ४६
२ वही १४४
३ वही २२०
४ वही २६८

लगेगा तब तुलसीदास को विश्वास होगा कि वह आपका हो गया और उस प्रेम को देखकर हृदय आनन्द और उमग से भर जायगा।

श्रीरामचरितमानस के उत्तरकाड मे मानस रोगो को दूर करने के लिए भी ऐसा ही उपचार बताया गया है। वह व्यवस्था पत्र इस प्रकार है

रामकृपा नासहिं सब रोगा। जौ इहि भाँति बनै सजोगा ॥
सदगुर बद बचन बिस्वासा। सजम यह न बिषय कै आसा ॥
रघुपतिभगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
एहि बिधि भलेही रोग नसाही। नाहि त जतन कोटि नहिं जाही ॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति क्षुधा बाढै नित नई। बिषय आस दुबलता गई ॥[1]

अर्थात् ऐसा सयोग बनने पर ही मन के मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि समस्त रोग रामकृपा से दूर हो सकत है कि सदगुरु रूपी वैद्य के वचनो पर विश्वास हो, सयम यह किया जाय कि विषय की आशा न हो, रघुपति भक्ति रूपी सजीवनी बूटी हो जिसका सेवन अति सुन्दर श्रद्धा के अनुपान के साथ किया जाय। इस विधि से सुभीते के साथ रोग नष्ट होंगे, नहीं तो करोडो यत्नो से दूर नही हो सकते। मन को तभी नीरोग समझना चाहिए जब हृदय मे विरागरूपी बल तथा सुमति रूपी क्षुधा नित्य बढ़े एव विषयासक्ति रूपी दुबलता दूर हो। जब मन विमल ज्ञान रूपी जल म स्नान करता है तब राम भक्ति हृदय मे छा जाती है। 'रामकृपा नासहिं सब रोगा' यही मूल बात है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास एक तरफ तो राम की प्रियता के लिए निमल मन को आवश्यक मानते हैं दूसरी तरफ कहते हैं कि राम की कृपा से ही मन निमल हो सकता है, इस प्रकार अपनी बात को स्वय काटते हैं। वस्तुत ऐसा नही है। पहली स्थापना विषयवारि मे मान रहनेवाले मन-मीन को लक्ष्य म रखकर की गई है। उस स्थिति म तो छल छिद्र एव कपटाचरण करनेवाला मन प्रभु की ओर उन्मुख होता ही नही, होना उसे काम्य भी नही रहता। फलत राम की कृपा की याचना भी नहीं करता, पाता भी नहीं। दूसरी स्थापना राम की शरण मे आए हुए व्यक्ति द्वारा मन को शुद्ध करने के सतत प्रयासो की दृष्टि मे रखकर की गई है। इन प्रयासो की सफलता रामकृपा द्वारा ही सभव है। यह सिद्धान्त अहकार के सपूण निरसन के लिए अत्य त उपकारक अत एकात प्रयोजनीय है। मैंने अपने प्रयास से मन

१ मानस ७।१२२।५-१०

को जीत लिया, मेरा मन अब बिल्कुल शुद्ध हो गया है आदि उक्तियों में अति दु खद मानसरोग 'अहकार' स्पष्ट ध्वनित है जिसके रहते हुए यह कैसे माना जा सकता है कि मन निर्मल हो चुका। इसीलिए भक्तों की मान्यता है कि भक्ति (और मन की शुद्धि भी) क्रियासाध्य न होकर कृपासाध्य है। यह भी स्मरण रहे कि इसका अर्थ क्रिया प्रयास की अवहेलना नही है वरन अपनी तरफ से सब कुछ करके भी उसे कुछ नही मानने की निश्चल विनम्रता है। तभी भक्त कह सकता है कि मैं विविध यत्न करके हार गया, अब भी यह दुष्ट मन अतिशय प्रबल है, यह तभी वश मे होगा जब प्रेरक प्रभु इसे बरजें। यह भी सही है कि मनुष्य का क्षुद्र प्रयास राम की कृपा का हेतु नही होता, वस्तुत रामकृपा तो अहेतुकी होती है, किंतु यह प्रभु की ओर देखकर निश्चित किया गया सिद्धात है। अपनी ओर से भक्त असावधान नही हो सकता। उसे तो अपने महान् साधन 'रामनाम जप' तथा स्वधर्म-पालन मे किंचित् शैथिल्य भी नही आने देना चाहिए। अहकार और शैथिल्य दोनो का निराकरण इस सिद्धात से सहज ही हो जाता है।

श्रीराम की महती कृपा का प्रसाद तुलसी को भी मिला है। शरण आने पर गरीबनिवाज रघुबीर ने उस तुलसी को भी अपना बना लिया जो मन का मलिन है, जिसकी करनी सुनकर कलिकाल (जो पाप रूप ही है) भी और पापी हो जाता है

मन मलीन, कलि किलविषी होत सुनत जासु कृत काज।
सो तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीबनिवाज ॥[1]

भक्त हृदय कृतकृत्य होकर अपने को अधमाधम मानता हुआ प्रभु की कृपा का यश गाता है कि प्रत्यक्ष पाप रूप तुलसी को भी आपने शरण दी 'प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ।'[2] जिसे और किसी ने भी नही अपनाया उस दीन हीन तुलसी से एक राम ने ही प्रीति की 'दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति।'[3]

राम की कृपा से ससार रूपी रजनी बीत गई। अब जागकर तुलसीदास फिर सोने के लिए बिछौना नही बिछाएँगे और प्रतिज्ञापूर्वक मन भ्रमर को श्रीराम के चरण कमलो मे बसा देंगे

१ विनय पत्रिका १९१
२. वही २१४
३ वही २१६

रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैंहौं।
मन-मधुकर पनकरि तुलसी रघुपति पद कमल बसैंहौं।।[1]

वे मन की मूढता के कारण उत्पन्न जिस दु सह दु ख से परित्राण करने की प्रभु से कातर प्रार्थना करते थे, वह अब प्रभु के अपनाते ही सहज ही दूर हो गया। प्रभु ने केवल नाम की महिमा और अपने अकारण करुणामय शील के चलते ही प्रेम और विश्वास से रहित (कैसी विनम्रता है तुलसीदास की, प्रेम और विश्वास की पराकाष्ठा होते हुए भी अपने को प्रेम और विश्वास से रहित कह रहे हैं!) तुलसी का भला कर दिया, यही देखकर वे सकुचित हो रहे है

तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिनाहूँ।[2]
नाम की महिमा, सीलनाथ को मेरो भलो बिलोकि तें अब सकुचाहु सिहाहूँ।

इस भक्तिमयी साधना पद्धति की सफलता इस तथ्य से हृदयगम की जा सकती है कि 'कबहूँ मन विश्राम मान्यो' सी कातर उक्ति कहनेवाला भक्त स्वानुभव से कह उठता है

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमन्द तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाही कहूँ।।[3]

१ विनय पत्रिका १०५
२ वही २७५
३ मानस ७।१३०।१९ २०

विनयपत्रिका में क्रिया और कृपा

मानव अपना चरम पुरुषार्थ क्या केवल अपनी क्रियाओं से प्राप्त कर सकता है या उसके लिए भगवत्कृपा अनिवार्य है? क्या क्रिया और कृपा पूर्णतः निरपेक्ष हैं या एक को दूसरे की अपेक्षा भी है? क्रिया और कृपा के स्वरूप क्या हैं, हेतु क्या हैं, परिणाम क्या हैं? इन सब प्रश्नों से पुरुषार्थ कामी व्यक्ति भी निस्तार नहीं पा सकता। जब गंभीरता से ये प्रश्न उठें, तब समझना चाहिए कि सतह की चमक दमक से समाधान न होने के कारण गहरे पैठने का उपक्रम हो रहा है। व्यक्ति का मन साधना के मध्य जिन समस्याओं और ऊहापोहों से गुजरता है, उन सबका प्रतिफलन विनय पत्रिका में हुआ है, साथ ही तुलसी की शास्त्र और स्वानुभव उभय सिद्धवाणी उनके समाधान के निर्देश भी करती चली है। अतः विनय पत्रिका के आधार पर इन प्रश्नों पर विचार करना निश्चय ही कल्याणकारक होगा।

विनय पत्रिका में ऐसे बहुत से कथन मिलते हैं, जिनसे लगता है कि तुलसीदास यह भी मानते थे कि अपनी करनी क्रिया से भवसागर पार किया जा सकता है। करनी के बिगड़ जाने के कारण ही भय होता है कि प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकेगी और अनंत जन्मों तक भवाटवी में भटकना पड़ेगा।

> जो पछु कहिय करिय भवसागर, तरिय बत्सपद जैसे।
> रहनि आन विधि, कहिय आन, हरिपद सुख पाइय कैसे ॥[1]

कथनी और करनी में अंतर होने के कारण ही भगवच्चरणारविंदों का सुख प्राप्त नहीं होता। इसी पद में पंक्तियाँ आती हैं कि जो अखिलजीववत्सल, निमत्सर चरणकमल अनुरागी एवम् अतिशय निज-पर त्यागी हैं, वे धीरमति श्रीरघुवीर को प्रिय हैं। स्पष्टतः वे धीरमति अपने शुभकर्मों के कारण ही भगवान की प्रियता प्राप्त कर सके हैं। तुलसी ने स्थान स्थान पर अपनी क्रिया हीनता तथा साधना हीनता के लिए शोक भी प्रकट किया है और उसी के चलते उ ह

1 विनय पत्रिका ११८

अपने परिणाम के लिए भय भी होता है। अवश्य ही भवरोग के अनुकूल उपचार न करने के लिए वे अपने को ही दोषी मानते हैं, प्रभुरूपी वैद्य को नही—

मैं हरि साधन करै न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोस कहा दिरमानी ॥[1]

केवल रोग के अनुकूल चिकित्सा ही नही की गई होती तो भी सभवत इतना परिताप न होता, किन्तु स्थिति तो यह है कि आचरण उसके नितात प्रतिकूल हुए हैं—

निजकरनी बिपरीत दखि मोहि समुझि महा भय लागै।[2]

यह भय इसलिए और अधिक होता है कि इन खोटे आचरणो के चलते प्रभु से बिनती करने का भी साहस नही हो पाता। भला जब जानबूझकर हरि को द्रवित करने वाले साधनो को छोड़कर विपत्तिजाल मे पडने वाले आचरण किये जायें, भवतारक परहित करने के स्थान पर अकारण ही दूसरो के सुख देखकर ईर्ष्या से जला जाय तो कौन सा मुह लेकर विनती की जा सकती है—

कौन जतन बिनती करिए।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिए ॥
जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन सो हठ परिहरिए।
जातें बिपति-जाल निसि दिन दुख तेहि पथ अनुसरिए ॥
जानत हूँ मन बचन कम परहित कीन्हे तरिए।
सो बिपरीत देखि परसुख बिनु कारन ही जरिए ॥[3]

इन उद्धरणो से ध्वनित होता है कि तुलसीदास यह मानते थे कि परहित आदि शुभकर्मों स व्यक्ति तर सकता है या अनुकूल साधनो से प्रभु को द्रवित कर सकता है।

दूसरी तरफ ऐसे बहुत से पद भी मिलते हैं, जिनमे व्यक्ति के अपने समस्त प्रयासो को दुखदूरीकरण मे असमर्थ मानकर एकमात्र प्रभु की कृपा को ही व्यक्ति के कल्याण साधन और दुख-निवारण के लिए सक्षम माना गया है। बहुत भटकने के बाद तुलसी समझ सके हैं कि प्रभु कृपा के बिना माया छूट ही नहीं सकती—

१ विनय पत्रिका १२२
२ वही ११६
३ वही १८६

जग कछु समुझि परत, रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया ॥[१]

यद्यपि यह प्रपच मिथ्या है, तथापि जब तक तुम्हारी कृपा नही होती तब तक यह सत्य भासता है, हे हरि इस भारी भ्रम को क्यो नही दूर कर देते ?[२] वे इस निश्चय पर पहुँच चुके हैं—

जब कब रामकृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥[३]
हरनि एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभुकृपा कालिका ॥[४]

यह निश्चय ही पूर्वकथित साधनो की सार्थकता के अनुकूल नही पडता। ऊपरी दृष्टि से लगनेवाले इस विरोधाभास के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है कि तुलसी की क्रिया और कृपा सबधी धारणाओ को समझ लिया जाय।

क्रिया का साधारण अर्थ है कुछ किया जाना—कर्म, व्यापार, चेष्टा, साधन, उपकरण आदि। प्रस्तुत सदर्भ मे क्रिया से वे कर्म, साधन अभिप्रेत है, जो साधक को भगवत्प्राप्ति करा सकें। प्रश्न है कि क्या भगवत्प्राप्ति क्रिया साध्य है ? अद्वैतवादी ज्ञानी या योगी का उत्तर होगा हाँ, क्योकि वे स्वयम् कर्ता हैं, उनके अलावा और कोई है ही नही, तब कौन किस पर कृपा करेगा। उन्हे अपनी ही साधना से माया के आवरण को छिन्न कर प्रत्यगात्मा या अत स्थित ईश्वर को उपलब्ध कर लेना है। गुरुकृपा आदि वस्तुत आत्मकृपा ही है। अत शकराचार्य स्व प्रयत्न की प्रधानता निरूपित करते हुए कहते हैं—

अविद्या कामकर्मादि पाशबन्ध विमोचितुम्।
क शक्नुयाद्विनात्मान कल्पकोटिशतैरपि ॥[५]

अर्थात अविद्या, कामना और कर्मादि के जाल के बधनो को सौ करोड कल्पो मे भी अपने सिवा और कौन खोल सकता है ? इसी तरह महर्षि पतजलि के योगदर्शन के साधनपाद मे क्रियायोग और उसका फल बताते हुए कहा गया है—

तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोग।
समाधिभावनार्थ क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥[६]

१ विनय पत्रिका १२३
२ वही १२०
३ वही १२७
४ वही १२८
५ विवेक चूडामणि ८७
६ पातजल योग दर्शन २।१-२

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूपी क्रियायोग समाधि की सिद्धि करनेवाला और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करनेवाला है। तुलसीदास पारमार्थिक दृष्टि से भले ही अद्वैतवाद मानते हो (इस विषय पर विद्वानो म गहरा मतभेद है), किंतु सर्वजन संमत है कि अपनी साधनिक दृष्टि से वे द्वैत मानकर चले हैं। परिणाम स्वरूप वे अपने ही साधनो पर भरोसा नही रखते। देश और काल के विचार से भी उन्हे निश्चय हो चुका था—

जप, तप, तीरथ, जोग, समाधी। कलि मति बिकल, न कछु निरुपाधी।
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥[1]

एक तो कलि के कारण मति विकल है, अत जप, तप, तीर्थ, योग, समाधि आदि साधन निर्विघ्न नही रह गये हैं। अपने प्रयत्न से पुण्यो के करते रहने पर भी पाप तो चुकते नही, वे तो रक्तबीज के समान बढते ही जाते है। अत उनका सुचिंतित मत है कि भवबंधन से छूटने के लिए योग, यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, वैराग्य आदि उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जैसे हाथी को बाँधने के लिए धूल की रस्सी बटना।[2] यह विचार उनके साहित्य मे अनेक स्थलो पर व्यक्त हुआ है। हाँ, रामनाम पर उनका अटूट विश्वास है। घोर भवसागर से पार लगानेवाली एकमात्र नौका राम नाम ही है। उससे ऋद्धि सिद्धि भी मिलती है और मुक्ति-भक्ति भी—

एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि, रे।
ग्रसे कलि रोग जोग संयम समाधि, रे।[3]

तुलसीदास नाम को नामी से भी बड़ा मानते है। अत नामनिष्ठा उनके लिए साधनमात्र नही, साध्य भी है। वैसे यदि कोई उनसे तर्क करने लगे, तो वैष्णव विनयशीलता के अनुरूप ही वे स्वीकार कर लेंगे कि ज्ञान, भक्ति आदि सभी साधन सत्य हैं, किंतु उनके मन म यही भरोसा है कि हरिकृपा से ही भ्रम मिट सकता है—

ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाही।
तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माही॥[4]

यह बिल्कुल तय है कि रामनाम के अतिरिक्त अन्य किसी साधन का सहारा

१ विनय पत्रिका १२८
२ वही १२६
३ वही ६६
४. वही ११६

लेने के लिए वे तैयार नहीं हैं, अर्थात असदिग्ध रूप से वे क्रिया की तुलना में कृपा को अत्यधिक महत्त्व देते है ।

इसी जगह कम सिद्धात सबधी तुलसी की मान्यता पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा । सामान्य तौर पर तुलसीदास को कम सिद्धात स्वीकार्य है । जीव अपने कर्मों के फलस्वरूप ही आवागमन के चक्र मे पडता है और पराधीन होकर दुख भोगता है—

तै निज कर्मडोरि दृढ कीन्ही । अपने करनि गाँठि गहि दीन्ही ।।
तातें परबस परयो अभागे । ता फल गभबास दुख आगे ।।[१]

उस पर भी प्रभु गर्भावस्था मे भी कर्मजाल से घिरे मनुष्य का भी साथ नही छोडते, उसका प्रतिपालन करते है, उसे ज्ञान भी देते हैं—

तू निज कमजाल जहँ घेरो । श्रीहरि सग तज्यो नहिं तेरो ।।
बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हो । परम कृपालु ज्ञान तोहिं दीन्हो ।।[२]

यह शरीर अपने कर्मों के फलस्वरूप ही हुमे मिला है—

हमहिं दिहल करि कुटिल करमचद मद मोल बिनु डोला रे ।[३]

और हमारे पूर्व कर्म बलपूर्वक हमे नाना विषयो मे आसक्त कर देते हैं । तुलसी प्रभु से प्रार्थना यही करते है कि हमारे कर्म हमे कही भी क्यो न ले जाएँ, वे हमारे ऊपर स्नेह करना न छोडें—

कुटिल करम लै जाय मोहिं जहँ जहँ अपनी बरिआई ।
तहँ तहँ जिनि छिन छोह छाँडिए कमठ-अड की नाई ।।[४]

कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति श्रीरामचरितमानस के गुह लक्ष्मण सवाद मे लक्ष्मण द्वारा कराई गई है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता । निज कृत करम भोग सबु भ्राता ।।[५]

इस स्वीकृति के दो परिणाम विचारणीय हैं, एक तो यही कि यदि अपने कर्मों का फलभोग अकाटय सिद्धात है तो अनत जन्मो के कर्मों का फल भोगते रहने के सिवाय चारा ही क्या है, दूसरे तब तो सत्कर्मरूपी साधनो की मुख्यता स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि हमारे पुण्यकर्म ही हमारा कल्याण कर सकते

१ विनय पत्रिका ३।१३६
२ वही ४।१३६
३ वही १८९
४ वही १०३
५ मानस २।९२।४

हैं। तुलसीदास इन दोनो परिणामो का स्वीकार नही करते। वे व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनो ही स्तरो पर आपत्ति करते हैं। व्यावहारिक स्तर पर उन्हें अपनी असमर्थता के कारण यह असभव लगता है कि वे (या कोई भी सामान्य जीव, तुलसीदास असामान्य होते हुए भी अपने को परम सामान्य मानते हैं) अपने थोडे से पुण्यरूपी नाखूनो से पाप वन के वृक्ष समूहो को काट सकेंगे। उनके एक एक क्षण के मन, वाणी और कर्म के पापों की गिनती करने मे असख्य शेष सारदा एव वेद हार जाएँगे—

> जो पै जिय धरिहौ अवगुन जन के।
> तौ क्यो कटत सुकृत-नख तें मोपै बिटप-वृन्द अघ-वन के॥
> कहिहै कौन कलुष मेरे कृत करम बचन अरु मन के।
> हारहिं अमित सेष सारद स्रुति गिनत एक एक छन के॥[1]

फिर उनका यह भी विश्वास है कि कराल कलिकाल ने रामनाम को छोडकर समस्त साधनो को निष्प्रभ कर दिया है, जिससे आगे से ही कठिन कर्म मार्ग और कठिन हो गया है—

> तौ कलि कठिन करम मारग जड हम केहि भाँति निबहते ?[2]

सैद्धांतिक स्तर पर कर्म को वे भक्ति या ज्ञान के समकक्ष नही मानते, यद्यपि निष्काम कर्म को वे इन दोनो का सहायक अवश्य मानते हैं। उन्होंने कर्म को कीच मानते हुए लिखा है कि अनेक जन्मो के कर्म कीच से सना चित्त विमल विवेक के जल से ही शुद्ध हो सकता है—

> जनम अनेक किए नाना विधि करम-कीच चित सान्यो।
> होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो॥[3]

और यह विवेक हरि एव गुरु की करुणा के बिना नहीं हो सकता—

> तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिबेक न होई।
> बिनु बिबेक ससार घोर निधि पार न पावै कोई॥[4]

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि कर्म से ही कर्मबन्धन से छुटकारा पाने की चेष्टा मल से मल धोने के समान निष्फल है। यह वैसी ही बात है, जैसे कोई

१ विनय पत्रिका ८६
२ वही ८७
३ वही ८८
४ वही ११५

प्यासा गगाजी को छोडकर अपनी प्यास बुझाने के लिये बार बार आकाश को निचोडता फिरे—

करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो ।
तृषावत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो ।।[1]

और अनन्त जन्मो के कर्मों का फल भोगना ही पडेगा, यह भी उन्हे मान्य नही है । उनका सिद्धान्त है कि प्रभु की शरण मे जाते ही अनतकोटि पूर्व-जन्मो के सचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं । मानस मे उन्होंने श्रीराम से कहलाया है कि—

सन्मुख होई जीव मोहि जबही । जन्म कोटि अघ नासहि तबही ।।[2]

यह बात विनय पत्रिका मे प्रभु के करकमलो की छाया की याचना करते हुए इस प्रकार कही गई है—

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप, ताप, माया ।
निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया ।।[3]

जैसे गीता मे कहा गया है कि ज्ञानाग्नि से समस्त पूर्व कर्म दग्ध हो जाते हैं, वैसे ही तुलसी का विश्वास है कि आर्त होकर पुकारने से प्रभु समस्त दुखो को (कर्म बधन के दुख को भी) दग्ध कर देते है—

जब जहँ तुमहि पुकारत आरत तब तिन्हके दुखदाहे ।[4]

गीता के कर्मयोग के अनुसार क्रियमाण निष्काम कर्म तो लिप्त नही होता, किंतु स्खलन होने पर साधक को पवित्र श्रीमानों के या योगियो के कुल मे जन्म लेना पडता है । तुलसी की धारणा है कि शरणागति के समय प्रभु समस्त पूर्व जन्मो के पापो को नष्ट कर देते हैं और यदि शरणागति के अनतर भी भक्त से चूक हो जाए तो उसे अनदेखा कर उसके हृदय के भाव को देखते है । सरल प्रकृति होने के कारण उन्हे अपने गुण, शत्रुओ के द्वारा किए गए अपकार, सेवको के दोष और दिए हुए दान की याद ही नही रहती ।[5] विभीषण सुग्रीव का उदाहरण इस सदर्भ मे उन्होने अनेक बार दिया है । भक्त के शरणोत्तर पापों के बारे मे गोस्वामीजी के अनुसार प्रभु का सिद्धान्त यही है—

१ विनय पत्रिका २४५
२ मानस ५।४४।२
३ विनय पत्रिका १३८
४ वही १४५
५ वही ४२

रहति न प्रभुचित चूक किये की । करत सुरति सय बार हिये की ।।[१]

प्रारब्ध भोग को धैर्यपूर्वक सहना ही भक्त का कर्तव्य है । इस प्रकार कर्म सिद्धात और कृपा सिद्धात के टकराने पर वे कृपा सिद्धात की महत्ता अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादित करते है ।

वास्तव मे कर्म सिद्धात, प्रभु की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और न्यायनिष्ठा पर आधारित है । प्रभु सब के कर्मों को जानते हैं, कर्मों के अनुसार अनुग्रह-निग्रह करने मे समर्थ हैं और जैसे को तैसा फल देने मे नीर क्षीर विवेकी हैं । इस सिद्धान्त मे हृदय की उपेक्षा है । इसके चलते ईश्वर जड नियमो की समष्टिमात्र रह जाता है चैतन्य और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र प्रभु के लिए यह स्थिति भक्ति मार्गियो को स्वीकार नही । वे उसे केवल न्यायी ही नही परम कृपालु और दयासागर भी मानते हैं । वे भक्तो के अपराधो को क्षमा भी कर सकते हैं । तुलसी के लिए यह कृपा सिद्धात अमोघ है ।

कृपा प्रभु का वह भाव विशेष है, जिसके परिणामस्वरूप वे अधीन जनो के पापो को नष्ट कर उन्हें अपनी शरण मे ले लेते हैं । श्री भगवद्गुण दर्पण के अनुसार—

> रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभु ।
> इति सामर्थ्यसंधाना कृपा सा पारमेश्वरी ।।
> स्व सामर्थ्यानुसंधानाधीन कालुष्यनाशन ।
> हार्दो भावो विशेषो य कृपा सा जागदीश्वरी ।।[२]

अर्थात् समस्त प्राणियो की रक्षा करने म मैं ही परम समर्थ हूँ, ऐसी सामर्थ्यानुसधाना कृपा ही पारमेश्वरी कृपा कहलाती है । वह जागदीश्वरी कृपा सामर्थ्यानुसधान द्वारा अधीन जनो के पापो का नाश करनेवाला प्रीत्यात्मक भाव विशेष है । इसी के कारण प्रभु मे अनुकम्पा और करुणा का उदय होता है । अनुकपा मे आश्रित भक्तो को सुख प्राप्त कराने की एव उनके समस्त मनोरथो को पूर्ण करने की इच्छा होती है और करुणा मे आश्रित की विपत्ति से अत्यन्त द्रवित होकर दुखित होना और उसकी विपत्ति निवारण के लिए त्वरा विह्वल होने का भाव रहता है । तुलसी ने आर्त भाव से बार बार प्रभु की कृपा एव करुणा की याचना की है । उनका चित चातक शावक के समान कृपा सुधारूपी जलदान, स्नेह स्वाति जल के लिए लालायित है—

१ मानस १।२८।५

२ गो० श्रीकान्तशरण कृत 'प्रपत्ति रहस्य' मे उद्धृत, पृष्ठ ३७३

कृपासुधा जलदान माँगिवो कहाँ सो साँच निसोतो ।
स्वाति सनेह-सलिल सुख चाहत चित चातक को पोतो ।।[1]

अत्यन्त विनीत होकर वे प्रभु से पूछते हैं कि जिस कृपा से व्याध, गज अजामिल आदि अनेक खल तरे, उसी कृपा से क्या तुम मुझे भी उनके समान मानकर तारोगे, पूर्व योनियो एव जन्मो मे जो मैंने बहुत प्रकार के दुष्कर्म किए हैं, मेरे इन अधम आचरणो को क्या तुम भुला दोगे। भक्त हृदय की कातर जिज्ञासा है—

कबहुँ रघुवंस मनि सो कृपा करहुगे ?[2]

तुलसीदास का निश्चित मत है कि भक्ति कृपा साध्य ही है, क्रिया साध्य नहीं। श्रीराम की भक्ति सत्सगति के बिना नहीं हो सकती। सत्सगति तभी मिलती है, जब राम द्रवित होते हैं, कृपा करते हैं, साधु सगति से मद, मोह, लोभ आदि दूर होते हैं। द्वैत भावना नष्ट होती है और राम के चरणो मे लौ लगती है, देह जनित विकार नष्ट होते हैं और निज स्वरूप मे अनुराग होता है। उसके अनतर अनेक सद्गुणो का आधान होता है एव हरि कृपा से सदा सुख की प्राप्ति होती है।[3] इस प्रकार चरम पूर्णत्व की उपलब्धि के आदि और अंत मे हरि-कृपा ही है। कृपा करने के लिए अपनत्व की भावना ही यथेष्ट है। प्रभु अपना मान लें बस, फिर भक्त की त्रुटियो की ओर उनका ध्यान ही नही जाता। भक्त इसी अपनत्व की दुहाई देकर कहता है—

कबहुँ कृपा करि रघुबीर मोहूँ चितैहो।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि ! अवगुन अमित बितैहो ।।[4]

और उसका दृढ विश्वास है कि मैं जैसा हूँ, वैसा ही मुझे वे अपना लेंगे। क्योंकि शरण मे आए हुए, पापी से पापी व्यक्ति को वे अंगीकार कर लेते हैं—

तुलसिदास परिहरि प्रपच सब नाउ रामपद कमल माथ ।
जनि डरपहि तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ ।।[5]

आश्वासन की यह अभयवाणी समस्त पापियो, पतितो एव अधमो के लिए है, क्योकि पापहरण करने के कारण ही वे हरि है, पतितो को पवित्र करने

१ विनय पत्रिका १६१
२ वही २११
३ वही १३६
४ वही २७०
५ वही ८४

के फलस्वरूप ही वे पतितपावन है और अधमो का उद्धार करने के चलते ही वे अधम उधारन है। यह भी समझ रखना चाहिए कि कृपा का अर्थ सदाचार का विरोध या उसकी उपेक्षा नही है। वस्तुत इस आश्वासन के द्वारा सहज ही मन के कलुष को दूर कर उसमे प्रभु के शील की प्रतिष्ठा होती है।

इसका यह अर्थ भी नही कि कृपाकाक्षी कुछ न करें। क्रिया और कृपा के सिद्धान्तो का समाहार करने के लिए तुलसीदास ने यह मार्ग निकाला है कि भक्त अपनी ओर से अपने प्रेम के नेम का निर्वाह करता जाए, इसके अतिरिक्त जो कुछ करणीय है वह प्रभु के ऊपर छोड दे। कायिकी और वाचिकी क्रिया का मूल मानसी क्रिया है। सर्वप्रथम भक्त अपने मन मे दृढ सकल्प करे कि अब तक तो जीवन नष्ट हुआ सो हुआ पर अब नष्ट नही करूँगा। अवश्य ही इस सकल्प के मूल मे भी रामकृपा ही है किंतु उसके साथ साथ यह चेतन सकल्प भी अवश्य है कि भवनिशा के बीत जाने पर, जाग जाने पर अब नही सोऊँगा। मन मधुकर को श्रीराम के पद कमलो मे बसा दूँगा।[१] जानकीजीवन श्रीराम के ऊपर न्योछावर हो जाऊगा और उनके चरणो को छोडकर कही नही जाऊँगा। अपनी समस्त इद्रियो को राममय कर दूँगा और प्रभु को ही अपना समस्त दायित्व सौप दूगा।[२] इसके बदले प्रभु से कुछ नही चाहूँगा। न मोक्ष, न बुद्धि, न सपत्ति, न रिद्धि सिद्धि, न विपुल बडाई ही केवल यही याचना करूँगा कि राम के चरणो मे अनुदिन अहेतुक अनुराग बढता जाए।[३] एक बार यह नेम लेने पर फिर हम एकागी दुगम मार्ग पर चलना आरभ कर क्षण क्षण छाया मे विश्राम करने की दुर्बलता छोड देनी चाहिए। स्मरण रखना चाहिए कि अपना भला अपनी ओर से अपने नेम को निर्विघ्न निभाने मे ही हो सकता है—

एक अग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहे॥[४]

यह नेम और कुछ नही राम घनश्याम के लिए पपीहा बनने का तुलसी का प्रेम प्रण है।

देहि मा ! मोहि प्रण प्रेम, यह नेम निज राम घनस्याम, तुलसी पपीहा।[५]

१ विनय पत्रिका १०५
२ वही १०४
३ वही १०३
४ वही ६५
५ वही १५

चातक की ही भाँति एकागी प्रेम करना ही तुलसी का भी आदर्श है। भले ही बादल ठीक समय पर बरसे या जन्मभर उदासीन रहे, तो भी उसी की आशा मे रहना एकागी प्रेम है। ऐसा प्रेम प्रेमपात्र की कठोरता और उपेक्षा से भी मरता नही और दढ होता जाता है। ऐसे घनिष्ठ प्रेम के चलते प्रभु के शील का आधान भक्त मे स्वत होता जाता है और उसकी समस्त दुर्वासनाएँ छूटती जाती है। राम की रीति को जाने बिना लोग वथा ही अनेक साधनो मे पचते मरते हैं। अत उनकी रीति को जानकर निश्छल भाव से उनकी शरण मे जाना कल्याण का निश्चित माग है। कृपा प्राप्त जनो की रहनी इस बात को एक दम स्पष्ट कर देती है कि कृपा से सदाचार की पराकाष्ठा का जीवन मे उतरना सभव है। तुलसीदासजी का मनोरथ है कि कभी इस प्रकार भी रहूँगा, कृपालु श्रीरघुनाथ की कृपा से सतो का स्वभाव ग्रहण करूँगा। यथा-लाभ सतुष्ट रहकर किसी से कुछ नही मागूँगा, परहित मे निरतर लगा रहूँगा और मनसा वाचा कमणा इस नियम को निभाऊँगा। दु सह कठोर वचनो को सुनकर भी उनकी आग मे नही जलूँगा, मान का त्याग कर शीतल मन से सम व्यवहार करूँगा और दूसरो के गुण ही कहूँगा, दोष नही। देह जनित चिंता को छोडकर दु ख सुख को समबुद्धि से सहूँगा। हे प्रभु इसी पथ पर रहकर मैं अविचल हरिभक्ति प्राप्त करूगा।[1] भगवान की प्राप्ति मे जिन साधनो को वे सहायक मानते हैं, उनका उल्लेख सक्षेप मे जो मन भज्यो चहै हरि सुरतरु[2] पद मे करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि भगवान को भजना चाहो तो हे मन! विषय विकारो को त्यागकर ससार सार रूपी प्रभु को भजो और अभी भी जो मैं कहता हूँ वही करो। शम, सतोष, अति विमल विचार और सतसगति इन चार का दढतापूवक अवलवन करो और काम, क्रोध, लोभ मोह, मद, राग, द्वेष आदि का निश्शेष रूप से त्याग करो। कानो मे हरिकथा, मुख म रामनाम और हृदय मे हरि को धारण करो, उनकी शिरसा वदना करो, उनकी सेवा करो तथा उनका अनुसरण करो। नेत्रो से चराचर जगतरूपी कृपा-समुद्र श्रीराम को प्रत्यक्ष करो। यही भक्ति वैराग्य ज्ञान है, यही हरि को सतुष्ट करनेवाला शुभ व्रत है, इसका आचरण करो। इस शिवमाग पर चलते हुए स्वप्न मे भी डर नही रह जाता। साफ है कि कृपाकाक्षी भक्त को तुलसीदास अपनी ओर से जिस एकागी प्रेम नेम और व्रत का उपदेश देते हैं, वे सदाचार के नितात

१ विनय पत्रिका १७२
२ वही २०५

अनुकूल है और क्रिया की महत्त्वपूर्ण सहयोगी भूमिका को स्पष्ट करने में समर्थ हैं।

किंतु तुलसीदास यह भी जानते हैं कि इन क्रियाओं से प्रभु की कृपा होगी ही, यह नहीं कहा जा सकता। कृपा में प्रभु पूर्ण स्वतंत्र हैं, वह अहेतुकी है, साधन होने पर भी संभव, उनके होने पर भी न होना संभव और न होने पर भी होना संभव है। कृपा, साधन संपन्नों की तुलना में, दीन हीन पर अधिक होती है, भक्तों की यही मान्यता है। तुलसी भी इसी मत के हैं। उनके अनुसार राम की बड़ाई ही यही है कि वे अमीरों, समर्थों की उपेक्षा कर गरीबों पर अधिकतर कृपा करते हैं। देवगण साधन करते करते थक जाते हैं, उन्हें तो स्वप्न में भी दर्शन नहीं देते, किंतु केवट, कुटिल, कपि, भालु, राक्षस आदि को भाई बना लेते हैं।[1] तुलसी को भय है कि वे गरीबी भी नहीं अपना सके हैं, अतः उनकी प्रार्थना है—

> नाथ गरीबनिवाज हैं मैं गही न गरीबी।
> तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी॥[2]

प्रभु आप अपनी ओर से जो कर सकें कर लें। यह अपनी ओर से का सिद्धांत तुलसी ने भक्त और भगवान दोनों पर लागू किया है। भक्त अपनी ओर से उपर्युक्त साधनों में जो बन पड़े निष्ठापूर्वक करे, किंतु उन सब साधनों को करते हुए भी यही समझे कि उसने कुछ नहीं किया। तभी वह प्रभु से कह सकेगा कि मेरे आचरणों की ओर नहीं अपने नामप्रताप, गुण, प्रण, स्वभाव की ओर देखकर मेरे ऊपर कृपा करो। तुलसी ने बार बार कहा है—

> जौ चित चढ़ै नाम महिमा निज गुन गन पावन पन के।
> तौ तुलसिहिं तारिहो बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के।[3]
> कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौं गति मन की।
> तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की।[4]
> जो करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हौं आवौं।
> मृदुल सुभाव सील रघुपति को, सो बल मनहिं दिखावौं।
> तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं जेहि सपनेहुँ तुमहिं रिझावौं।
> नाथकृपा भवसिंधु धेनुपद सम जिय जानि सिरावौं।[5]

१ विनय पत्रिका १६५ २ वही १४८ ३ वही ९६
४ वही ९०
५ वही १४२

'अपनी ओर देख कर प्रभु कृपा करते हैं' कहने का अर्थ ही है कि वे अहेतुकी कृपा करते है। तुलसी ने स्पष्ट कहा भी है—

बिन हेतु करुनाकर उदार अपार मायातारन।[1]
कारनीक बिनु कारन ही हरि, हरी सकल भवभीर।[2]

इसी भूमिका पर तुलसी कहते हैं कि प्रभु आप तो बिना सेवा, गुण, सामर्थ्य के ही दीन शरणागतो को निहाल कर देते हैं, अत उसी भाव से मुझे भी अपना लीजिए, मेरा मनोवाछित दान मुझे दीजिये—

सेवा बिनु, गुन बिहीन दीनता सुनाए।
जे जे तै निहाल किए फूले फिरत पाए।।
तुलसिदास जाचक रुचि जानि दान कीजै।
रामचद्र चद्र तू! चकोर मोहि कीजै।।[3]

प्रभु की कृपा की अभिलाषा दिनो दिन तीव्र होती जाती है, क्योकि वही एक मात्र सबल है। तुलसी को यह भी समझ मे नही आता कि वे प्रभु की कृपा को प्राप्त करने के लिए क्या करें, कहा जाएँ। वे देखते है कि एक तरफ तो पाडव है, जिनकी उत्पत्ति की कथा सुन सुन कर सत्पथ डर गया था, गर्भगत परीक्षित है, जो कुछ भी साधन करने मे नितात असमर्थ थे, अजामिल, गणिका आदि जैसे पापी है, दूसरी तरफ राजा नृग जैसे पुण्यात्मा हैं, दैत्य नमुचि जैसे समर्थ हैं, जो अजर अमर थे, वज्र से भी अवध्य थे। किंतु प्रभु की कृपा पाडवो, परीक्षित, अजामिल आदि पर ही हुई। अत स्वाभाविक रूप से तुलसी कह उठते हैं—

कहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तो न जानि परयो।
तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जोवत पथ खरयो।।[4]

किस आचरण से प्रभु प्रसन्न होते हैं, यह जैसे जानना असभव है, वैसे ही यह भी नही कहा जा सकता कि वे किस समय प्रसन्न होगे। अत भक्त यही कर सकता है—

नाथ कृपा ही को पथ चितवत दीन हौं दिन राति।
होइ धौ केहि काल दीनदयालु जानि न जाति।।[5]

१ विनय पत्रिका ६।१३६
२ वही १४४
३ वही ८०
४ वही २३६
५ वही २२१

कृपा के लिए खडे खडे पथ जोहना आलस्य या अभिमान का द्योतक नही है। तुलसीदास इसी पद मे आगे लिखते है कि मैंने तो सद्गुणो, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि श्रेष्ठ साधना का सहारा लेना ही चाहा था, किंतु कलि के पापो और दुर्गुणो को देखकर वे विकल होकर भाग गए। अत्यंत अनीति और कुरीति होने के कारण पृथ्वी सूर्य से भी अधिक तपने लगी है, कहा जाऊँ, मेरे लिए कोई स्थान ही नही है, मेरी मति विकल हो गई है, अब स्वयम् अपने सहित कोई मेरा अपना नही रहा। इस कठिन परिस्थिति म हे पिता! तुलसी की सफल धान की खेती को सूखने से बचाने के लिए श्यामघन की भाति आप ही उसे कृपापूर्वक सीच दीजिए। स्पष्ट है कि यह कृपा का पथ दिन रात देखते हुए खडे रहना उस असहाय असमर्थ मार्जार किशोर की भाति है, जो पडा पडा सोचता रहता है कि माँ आए तो जहा ले जाना हो स्वयम अपने मुह से पकड कर, उठाकर ले जाए। प० रामकिंकरजी उपाध्याय इसमे चतुराई देखते है और समझते हैं—'गोस्वामीजी ने बडे व्यग्य भरे शब्दो मे भगवान् राम से कहा कि प्रभु अगर आपकी कृपा के आने का मार्ग निश्चित होता तो मैं चल पडता, पर आपकी कृपा न जाने किन किन रास्तो से चलकर आ जाया करती है। अत नाथ कृपा ही को पथ चितवत हो दिन रात, अब मैंने निर्णय कर लिया है कि जाओ मत कही, यही चौराहे पर बैठे रहो। तो अब आपकी कृपा जिस मार्ग से चलकर आएगी, उसी मार्ग मे हम प्राप्त हो जाएगी। अगर आप यह बता दीजिए कि आपने अपनी कृपा का मार्ग निर्धारित कर दिया है या आप ऐसे करेंगे तो चलू उसी मार्ग पर।'[१] किंतु पूरे पद के प्रसग मे यह अर्थ ठीक नही लगता। इस अर्थ म उद्धृत पक्ति मे सभवत भूल से दीन शब्द छूट गया है और वह शब्द भी इस अर्थ का निषेध करता है। यह सच है कि गोस्वामीजी ने सुतीक्ष्णजी जैसे समर्थ भक्तो की प्रेम लपेटी अटपटी चतुराई पर प्रभु को रीझते भी चित्रित किया है, किंतु अपने को उन्होने इसका अधिकारी कभी नही माना। अपने लिए तो वे विनय पत्रिका म यही लिखते हैं—

> वहाँ को सयानप अयानप सहस सम,
> सूधो सत भाय कहे मिटति मलीनता।[२]

राम के दरबार म की गई चतुराई सहस्रो अज्ञान के बराबर है, सीधे सच्चे भाव से कहने से ही मलिनता मिट जाती है। हमे तो यही लगता है कि सब तरफ

१ 'चातक चतुर राम स्यामघन के' पृ० ११३
२ विनय पत्रिका २६२

से निराश होकर अत्यत आर्त भाव से प्रभुनिर्भरता को ग्रहण करने की, उनकी ही इच्छा को सर्वोपरि मान लेने की, यह विनीत स्वीकृति है। यह प्रतीक्षा कितनी करुण है। ज्यो ज्यो विलब होता है, त्यो त्यो भक्त की आर्ति बढती जाती है। कभी वह विनय करता है—

तुलसी की तेरे ही बनाए, बलि बनैगी।
प्रभु की विलब-अब दोष दुख जनैगी ॥[1]

विलब रूपी माँ से दोष दु ख के अतिरिक्त और क्या उत्पन्न हो सकता है? विरह की छटपटाहट से बडा दु ख और क्या हो सकता है और कलिकाल तो ताक मे है ही, प्रभु की ढील होते ही वह भक्त को दोष कोप बना देगा, उससे उत्पन्न दु ख और भी भयकर होगे। कभी मान भरे शब्दो मे पूछ बैठता है—

कृपा सोधौ कहाँ बिसारी राम?
जेहि करुना सुनि श्रवन दीन दुख धावत हौ तजि धाम ॥[2]

कभी अत्यधिक अधीर होकर प्रभु के द्वार पर धरना देकर प्रभु की ही शपथ कर बैठ जाता है कि बिना प्रभु के अपनाए मैं उठूगा ही नही। बाल हठ करते हुए कहता है—

हौं मचला लै छाँडिहौं जेहि लागि अरथो हौ।
तुम दयालु बनिहै दिए बलि, बिलब न कीजिए, जाति गलानि गरथो हौ ॥
प्रगट कहत जो सकुचिए, अपराध भरथो हौ।
तौ मन मे अपनाइए तुलसिहिं कृपा करि, कलि बिलोकि हहरथो हौ ॥[3]

प्रभु कृपा करके अपना लें प्रकट नही तो मन मे ही सही, यह आग्रह भी जीवन अवधि को अत्यत निकट देखकर छूट जाता है। तब यही बात रह जाती है कि जैसे और बहुत से पतित साधनो के बिना ही केवल तुमसे किसी न किसी प्रकार सबधित होने के कारण तर गए, वैसे ही मुझे भी कृपा, कोप सहजभाव धोखे से या तिरछे भाव से ही सही, जो आपको अच्छी लगे ऐसी किसी भी दृष्टि से देखकर शीघ्र ही अपना लीजिए, लेकिन अब और ढील नही सही जाती—

बहुत पतित भव निधि तर बिनु तरि बिनु बेरे।
कृपा, कोप, सति भाय हूँ, धोखेहु, तिरछेहूँ राम तिहारेहि हेरे।

१ विनय पत्रिका १७६
२ वही ९३
३ वही २६७

जौं चितवनि सौधी लगै चितइए सबेरे।
तुलसिदास अपनाइए कीजै न ढील अब जीवन अवधि अति नेरे।[१]

इस आर्ति से यह भ्रम नही होना चाहिए कि तुलसीदास को प्रभु कृपा नही प्राप्त थी। बात बिलकुल उलटी है। उन्हे भरपूर कृपा प्राप्त थी। इसलिए इतनी प्रखर आर्ति का वे अनुभव करते थे। सीधी सी बात है, जो जितना अतरग है जिसका प्रेम जितना प्रगाढ होता है, वह उतनी ही उत्कट विरह वेदना का अनुभव करता है, वियोग मे तो करता ही है, भक्तो की भावना के अनुसार मिलन मे भी पलकातर, यहाँ तक कि प्रत्यक्ष विरह का भी अनुभव करता है। तुलसीदास की इस आर्ति के पीछे भी उनकी वही प्रेम तृषा है, जिसका बढना ही वे अच्छा समझते है, क्योकि उसके घटने से तो प्रेम की मर्यादा ही भग हो जायगी। वैसे तुलसीदास ने विनय पत्रिका मे ही अपने ऊपर प्रभु की कृपा के कई सकेत दिये हैं। समाज हित के लिए कलि पर अकुश रखने की तुलसीदास की प्रार्थना प्रभु ने स्वीकार की है—

बिनती सुनि सानद हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है।
रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत बिजई है॥[२]

व्यक्तिगत रूप से भी तुलसीदास को चित्रकूट मे भगवान की कृपा की अनुभूति हुई थी, इसके साकेतिक उल्लेख उन्होने कई स्थलो पर किए हैं—

तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपाल
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित्त करि सो।[३]

प्रभु की कृपा से तुलसी का भला हुआ है और वे उसी प्रकार निश्चित है, जैसे माता पिता के राज मे बालक, ऐसा भी उन्होने कहा है—

मोको भलो रामनाम सुरतरु सो रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यो बालक माय बबा के॥[४]

इतना ही नही वे राम की कृपा प्राप्त करके किसी और के बैर से भयभीत नही होते, क्योकि भक्त का तो कोई बाल बाका नही कर सकता—

जौपै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै?
होइ न बाँको बार भगत को जो कोउ कोटि उपाय करै॥

× × ×

१ विनय पत्रिका २७३
२ वही १३६
३ वही २६४
४ वही २२५

हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै ?
तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै ॥[1]

तुलसीदास के इन अनुभवो से यह भी स्पष्ट है कि किस प्रकार प्रभु की कृपा भक्त को परितृप्त, शोकरहित और निर्भय बना देती है। अपने ऊपर चरम कृपा का अनुभव करके ही तुलसीदास लिख सके थे कि उनकी विनय पत्रिका प्रभु ने स्वीकार कर ली—

कृपा गरीबनिवाज की, देखत गरीब की साहस बाँह गही है ॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।[2]

आरम मे उठाए हुए प्रश्नो का इस पूरे विवेचन से जो समाधान निकलता है, उसका साराश यही है कि तुलसी के मतानुसार मानव के चरम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति की सिद्धि के लिए भगवत्कृपा अनिवार्य है, केवल उसकी अपनी क्रियाएँ इसके लिए नितान अक्षम हैं। कृपा क्रिया से पूर्णत स्वतन्त्र है, किंतु अपने भले के लिए भक्त को अपनी ओर से अपने नेम का निर्विघ्न पालन करना चाहिए और भगवान् से प्रार्थना करते रहना चाहिए कि वे उसके आचरण की ओर देखकर नहीं, अपने नाम प्रताप गुण स्वभाव की ओर एक शब्द मे अपनी ओर देखकर उस पर कृपा करें। इस सिद्धात से कृपा की पूर्ण स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रहती है और उसमे क्रिया का भी समाहार हो जाता है।

१ विनय पत्रिका १३७
२ वही २७९

विनय पत्रिका मे भक्तिमूला प्रपत्ति

विनय पत्रिका का मुख्य लक्ष्य प्रभु की शरण-प्राप्ति ही है। तुलसी ने बार बार अपनी इस याचना को अनेकानेक भावो, युक्तियो, उदाहरणो आदि से सवलित कर विनय के विविध पदो म व्यक्त किया है। यह अनुवृत्ति अपने निवेदन को स्पष्ट एव प्रभविष्णु बनाने के लिए ही की गयी है। 'कबहुक दीन दयाल के मनक परेगी कान' की भावना से शरण-दान की जो अनवरत प्रार्थना विनय पत्रिका मे की गयी है, उसकी कुछ पक्तियाँ हैं, 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै, ज्या त्यो तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावे।'[1] 'दास तुलसी सरन आयो राखिये आपने'[2] 'अब तजि रोप करहु करुना हरि तुलसिदास सरनागत आयो'[3] 'पाहि पाहि ! राम पाहि ! राम भद्र रामचद्र, सुजस स्रवन सुनि आया हौ सरन'।[4] इन उक्तियो से यह साफ झलकता है कि अपनी ओर से राम को शरण ले लेना ही तुलसी को पर्याप्त नही लगता, उनका आग्रह है कि कृपालु राम अपने सबध का स्मरण कर उनका सुयश श्रवण कर उनको शरण मे आनेवाले तुलसी को रोष त्यागकर करुणापूर्वक अपनी शरण मे रख लें और उसकी सब प्रकार से रक्षा करें। यह भावना अत्यत स्वाभाविक होत हुए भी पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित शरणागति सिद्धात की कतिपय विशिष्टताओ को अतर्निहित किये हुए है। अत विनय पत्रिका की सूक्ष्मताओ को समझने क लिए परम्परा ज्ञान आवश्यक है।

शरणागति की भावना प्राचीन काल से साधको का सबल रही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे ऋषि की विनीत उक्ति है

१ विनय पत्रिका ७६।७ ८
२ वही १६०।६
३ वही २४३।१०
४ वही २४८।१

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्व यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै ।
त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये ॥[1]

अर्थात जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, और जो उसे समस्त वेदो का ज्ञान प्रदान करता है, मैं मुमुक्षु आत्मज्ञान विषयक बुद्धि के प्रकाशक उसी देव की शरण मे जाता हूँ । इस तरह कठोपनिषद् म कहा गया है

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ॥[2]

अर्थात यह परमात्मा न प्रवचन से, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है जिसको यह स्वय स्वीकार कर लेता है, उसी के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, यह परमात्मा उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है । पहले मन्त्र म साधक के द्वारा प्रभु-शरण मे जाने की और दूसरे मन्त्र मे परमात्मा के द्वारा उसे शरण म लेने की घोषणा है । यो तो शरणागति का तत्त्व *वैदिक (शैव, वैष्णव, शाक्त आदि) और अवैदिक (बौद्ध जैन आदि)* दोनो दोनों प्रकार की साधना धाराओ मे विद्यमान है किंतु प्रस्तुत विषय के प्रतिपादनार्थ वैष्णव धारा के अतर्गत ही उसका विकास क्रम सक्षेप मे दिखाना पर्याप्त होगा ।

श्रीराम ने विभीषण की शरणागति के प्रसग मे कहा था

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभय सवभूतेभ्यो ददाम्येतद व्रत मम ॥[3]

अर्थात मेरा यह व्रत है कि एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' यह कहने वाले प्रपन्न (शरणागत) को मैं सब प्राणियो से अभय दे देता हूँ । इसी तरह गीता के अत मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना सवगुह्यतम उपदेश यह दिया था

सवधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।
अह त्वा सवपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥[4]

अथात् सब धर्मों को छोडकर तू केवल मेरी शरण म आ जा, मैं तुझे समस्त पापो से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर । शरणागता को आश्वस्त करने वाले ये

१, श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१८
२ कठोपनिषद १।२।२३
३ वाल्मीकि रामायण ६।१८।३३
४ गीता १८।६६

दोनो मत्र प्रभु की प्रतिज्ञा होने के कारण भावुक भक्तो द्वारा 'चरम मत्र' कहे जाते है। शरणागति की यह परपरागत भावना अहिर्बुध्न्य सहिता, लक्ष्मी सहिता, भरद्वाज सहिता आदि वैष्णव आगमो मे, आलवार भक्तो के पदो म, नाथमुनि, यमुनाचाय आदि के सिद्धान्ता, स्तोत्रा म विकसित होती रही। श्री रामानुजाचाय ने (१०१७-११३७ ई०) इन्ही सबका आधार लेकर सुप्रसिद्ध 'प्रपत्ति माग' का विधिवत् निरूपण किया और उसे भक्तिमाग, ज्ञानमाग, योग माग, कर्ममाग आदि से श्रेष्ठ घोषित किया। रामानुज की शिष्य परपरा मे ही स्वामी रामान द हुए जिन्होंने मध्यकाल मे उत्तर भारत मे भक्ति एव रामावत सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया। तुलसीदास ने वैसे तो 'नाना पुराण निगमा गम का' का अनुशीलन कर अपनी रचनाओ मे उनका समन्वय किया है किंतु यह भी सत्य है कि रामानुज रामानन्द की भक्ति साधना का उन पर गहरा प्रभाव है और विनय पत्रिका म निहित 'शरणागति साधना' बहुत कुछ प्रपत्ति मार्गा नुरूप है।

प्रपत्ति शब्द प्र उपसगपूवक पद धातु मे ति प्रत्यय के योग से बना है। पद् धातु जाना, चलना, पास जाना, पहुँचना, प्राप्त करना, पालन करना आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से भाववाचक सज्ञा के रूप में प्रपत्ति का व्युत्पत्तिगत अथ होगा प्रकृष्ट रूप से किसी के पास जाने, पहुँचने या किसी को प्राप्त करने का भाव। अपने पारिभाषिक अथ मे इसका अथ है प्रकृष्ट रूप से सब प्रकार से भगवान की सन्निधि म—शरण मे आ जाना। नारद पचरा त्रातगत भरद्वाज सहिता मे प्रपत्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है

निश्चितेऽन्यसाध्यस्य परलेष्टस्य साधने।
अयमात्मभरन्यास प्रपत्तिरिति चोच्यते ॥[1]

अर्थात् अन य साध्य इष्ट (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए परमात्मा को ही साधन के रूप मे ग्रहण कर उसके प्रति आत्मभरन्यास—सपूण आत्मसमपण करने को ही प्रपत्ति कहा जाता है। प्रपत्ति और शरणागति को अभिन्न बताते हुए वरवर मुनि ने कहा है, 'प्रपत्तिनाम भगवच्छरणवरणम्'[2] अथात प्रपत्ति का मतलब है भगवान की शरण लेना यानी भगवान को ही अपने एकमात्र उपाय के रूप में स्वीकार करना। इसी बात को श्री भरताचाय ने और स्पष्ट शब्दो म कहा है

१ भरद्वाज सहिता ७
२ श्रीवचनभूषणम्, पृ० ९९

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् ।
तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्ति शरणागति ।।[1]

अर्थात अ य किसी उपाय से अपना अभीष्ट (भगवत्प्राप्ति) सिद्ध न होते देख-कर—विश्वासपूर्वक भगवान से ही अपना उपाय बनने की याचना करना ही प्रपत्ति या शरणागति है । 'शरण शब्द शृ धातु म ल्युट् के योग से बनता है एव 'शृणाति दु खम अनेन' के अनुसार इसका अथ है 'जो दु ख को नष्ट कर दे वह' । साधारण प्रयोग मे रक्षा, आड, ओट, आश्रयस्थल, घर, रक्षक आदि अर्थों मे इस शब्द का प्रयोग होता है किंतु परमार्थत इसका प्रयोग भगवान को अपने आश्रय—अपने रक्षक—अपने एकमात्र उपाय के रूप मे स्वीकार करने की दृष्टि से होता है । जो 'श्रीराम शरण मम' या 'श्रीकृष्ण शरण मम' आदि मत्रो से स्पष्ट है । भागवतो ने प्रपत्ति, शरणागति, न्यास, आत्मसमपण, आत्मनिक्षेप आदि को समाथक माना है ।

जीव जब अपने अपराधो के समूह के कारण अपने को निरुपाय, असहाय, अकिंचन और अगति पाता है, तब अ य सभी साधनो (ज्ञान, भक्ति, योग, कम आदि) का भरोसा छोड कर भगवान से ही प्राथना करता है कि तुम्ही मेरे एकमात्र उपाय बन जाओ—यही शरणागति है

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनोऽगति ।
त्वमेवोपायभूतो म भवेति प्रार्थना मति ।
शरणागतिरित्युक्ता सादेवेऽस्मिन्प्रयुज्यताम ।।[2]

इस शरणागति के सववादिसम्मत छह अग है

आनुकूल्यस्य सकल्प प्रातिकूल्यस्य वजनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वास गोप्तृत्ववरण तथा ।।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षडविधा शरणागति ।[3]

अर्थात अनुकूलता का सकल्प, प्रतिकूलता का निवारण, रक्षा का विश्वास, रक्षक के रूप मे वरण, आत्मसमर्पण और दीनता के योग से बनी होने के कारण शरणागति षडविधा है । कई विद्वानो ने 'षड्विधा शरणागति' का अथ शरणागति के छह प्रकार यह छह भेद किया है, जो ठीक नहीं है । इन छहो तत्त्वो के मेल से शरणागति मे पूणता आती है किंतु यह भी स्पष्ट है कि इसके सवप्रमुख

१ श्री श्रीकान्त शरण-कृत 'प्रपत्ति रहस्य' मे पृ० ६ पर उद्धत
२ अहिर्बुध्न्य सहिता (द्वितीय खड) ३७।३० ३१
३ वही ३७।२८ २६ तथा लक्ष्मी सहिता १७।६० ६१

अतरग तत्त्व हैं रक्षक के रूप म वरण एव आत्मसमपण। शरीर, वचन और मन से शरण लेने के आधार पर शरणागति के कायिकी, वाचिकी और मानसी तथा गुणो के आधार पर तामसी राजसी और सात्त्विकी आदि भेद किये गये हैं। सबसे महत्त्वपूण भेद स्वगत स्वीकार प्रपत्ति और परगत स्वीकार प्रपत्ति का है। अपनी ओर से जीव प्रभु की शरण ले तो उसे 'स्वगत स्वीकार प्रपत्ति' कहते हैं, कि तु कुछ भागवतो की दृष्टि मे प्रभु को पाने का भी 'उपाय' नही है, वास्तविक उपाय है 'परगत स्वीकार प्रपत्ति' अर्थात परमात्मा द्वारा ही जीव को अपनी शरण मे ले लेने की स्वीकृति। इसम जीवकृत अपराध भी किसी भी प्रकार प्रतिबधक नही हो सकते क्योकि प्रभु सवथा स्वतत्र है।[1]

यही भक्ति और प्रपत्ति के मौलिक भेद को भी सक्षेप मे स्पष्ट कर लेना समीचीन जान पडता है। भगवान के प्रति अमृतस्वरूपा परा अनुरक्ति भक्ति है और ससार के समस्त आश्रयो, साधनो का परित्याग कर एकमात्र भगवान को ही अपना उपाय समझ कर उन्हें सवस्व अपण कर उन्ही पर आश्रित रहना प्रपत्ति है। भक्ति मे श्रवण-कीत्तन, आदि साधनो का अवलबन किया जाता है जबकि प्रपत्ति म साध्य स्वरूप भगवान का ही अवलबन रहता है। भक्ति मे तैलधारावत् अविच्छिन्न भगवतस्मृति बनाये रखना भक्त का उत्तरदायित्व है जबकि प्रपत्ति म यह भी भगवान का ही काय है। प्रपत्ति-मार्गी किसी भी साधन का (चाहे वह भक्ति ही क्यो न हो) आश्रय ग्रहण करने वालो को कपि किशोर मानते हैं जो अपनी माता को स्वय पकडे रहते हैं, जबकि अपने को मार्जार किशोर कहते हैं जिन्हे माता स्वय उठाकर जहाँ ले जाना चाहती है, ले जाती है। प्रपन्न को स्वय कुछ नही करना होता, उसकी सारी जिम्मेदारी प्रभु ले लेते हैं। इसी दृष्टि से प्रपत्ति माग को भक्ति माग, ज्ञान माग, योग माग, कम माग आदि से सुगम और श्रेष्ठ कहा जाता है। स्वय भगवान ने गीता म अय मार्गो को 'गुह्याद गुह्यतर' (१८।६३) तथा शरणागति को 'सवगुह्यतम' (१८।६४) कहकर और सबके बाद उसका प्रतिपादन कर उसकी सवश्रेष्ठता सकेतित कर दी है। फिर भी यह ठीक है कि प्रपत्ति के सबसे निकट भक्ति माग ही है क्योंकि दोनो में अनुग्रह और प्रेम प्रवण है दोनो के फल भगवान ही हैं। इसीलिए अज्ञ, ज्ञानाधिक एव भक्ति परवश प्रपत्तिकर्ताओं मे इन तीनो प्रकारो म भक्ति परवश को ही मुख्य कहा गया है।[2]

१ देखिए श्रीवचनभूषणम् का सिद्धोपायनिष्ठ वैभव प्रकरणम।

२ भगवत्प्राप्ति के लिए साधनानुष्ठान के उपाय ज्ञान-रहित जनो को अज्ञ,

प्रपत्ति सबधी शास्त्रीय ज्ञान विनय पत्रिका के सूक्ष्म सकेतो को समझने म सहायक हो सकता है, बशर्ते उसका उपयोग विवेकपूर्वक किया जाये। यह स्मरण रखना चाहिए कि विनय पत्रिका मे अभिव्यक्त तुलसी की शरणागति की प्रार्थना शास्त्र सम्मत अवश्य है किन्तु शास्त्रबद्ध नही। प्रपत्तिशास्त्र के लक्षणो को सामने रखकर उनके उदाहरणो के रूप मे विनय पत्रिका के पद नही लिखे गये है। तुलसी ने साफ कहा है, 'विनय पत्रिका दीन की बापु आपु ही बाँचो। हिये हेरि तुलसी लिखी, सो सुभाय सही करि बहुरि पूछिए पाँचो।'[1] तुलसी ने विनय पत्रिका 'हिये हेरि' हृदय मे देखकर लिखी है, इस उक्ति का अर्थ यही हो सकता है कि पुस्तकीय ज्ञान की अनुगूज के रूप मे नही, अपने हृदय के स्वाभाविक उदगार के रूप मे सच्चाई के साथ लिखी है। इसीलिए उसमे शास्त्र का स्थूल अनुकरण नही है। जब जो भाव मन म उठा है, तब उसके अनुकूल पद की रचना तुलसी ने की है। शास्त्र को सामने रख कर 'षडविधाशरणागति' के क्रम के अनुरूप न तो उ होने पद रचे, न बाद मे ही अपने पदो का तदनुरूप वर्गीकरण किया। अपने जीवन के उत्तरार्ध के दीर्घ कालखड मे मुक्तको की तरह समय समय पर रचित इन पदो को आदि और अत की अभिकल्पना से 'विनय पत्रिका' का रूप देते समय भी तुलसी ने उसके मध्य और मुख्य भाग को किसी विशेष अनुक्रम मे न बाँध कर हृदयोद्‌गार की स्वच्छदता को अक्षुण्ण रहने दिया है। पर यह भी सच है कि इन पदो मे शास्त्रीय तत्त्वो का अतर्भाव सहज ही हो गया है। तुलसी के शास्त्रानुशीलित सस्कार भावावेग के प्रवाह को पुष्ट आधार देते चले हैं। अनुभूति की सघनता मे बहुत बार विनय के एक-एक पद मे अनेकानेक तत्त्वो का समावेश हो गया है अत उनके विश्लेषण सश्लेषण द्वारा ही विनय पत्रिका की प्रपत्ति भावना का परिचय देने का प्रयास किया जायेगा।

शरण्य, शरणागत और शरणागति इन तीनो का आदश रूप विनय पत्रिका मे उभरा है। शरण्य सवपर, सवसमथ होते हुए भी सुलभ और शरणागत

कर्माद्यनुष्ठान करने का ज्ञान एव शक्ति होने पर भी भगवदत्य त परतन्त्रभूत स्वरूप के याथात्म्य दशन के कारण उपायान्तर को स्वरूप विरुद्ध समझकर त्यागने वाले जनो को ज्ञानाधिक एव भगवत्प्रेमाशय से शिथिल हो जाने के कारण किसी भी उपाय का अनुष्ठान करने मे अशक्त जनो को भक्ति परवश कहा जाता है।—श्रीवचनभूषणम्, पृ० १३३ से १४० तक।

१ विनय पत्रिका २७७।५-७

वत्सल हो तभी प्रपन्न का मगल हो सकता है। तुलसी के प्रभु श्रीराम
महिमा जितनी अपार है, सुशीलता उतनी ही अनोखी है। तुलसी के राम ए
ओर तो 'सर्वकृत, सवभृत, सवजित, सवहित, सत्यसकल्प, कल्पातकारी'[1]
दूसरी ओर 'बिनु हेतु करुनाकर, उदार, अपार मायातारन'[2] भी हैं, वे शि
के लिए भी ध्यान मे अगम हैं किन्तु केवट से स्वय जाकर मिलते हैं इसीलि
तुलसी कह उठे हैं, 'ठाकुर अतिहि बडो सील सरल सुठि।'[3] और वे प्रभु
भी नही हैं, अपने हृदय मे ही है, छल छोडकर गुहारने पर उनका स्नेह स
सुलभ है, 'दूरि न सो हितू हेरि हिये ही है, छलहि छाँडि सुमिरे छोह किये
हैं।'[4] शरणागतो के दुःखो को दूर कर उनकी रक्षा के लिए वे सुदृढ
वज्रपिंजर सदृश हैं, प्रनतारति भजन, जनरजन, सरनागत पबि पजर नाऊँ।
उनके शील स्वभाव पर मुग्ध तुलसी की उक्ति है, सुनि सीता पति सील सुभाउ
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ।'[6] इस प्रकार
दृष्टियो से विचार कर लेने के बाद तुलसी का यही निर्णय है 'नाहिन
कोउ सरन लायक दूजो श्री रघुपति सम बिपति निवारन।'[7]

शरणागत तो वही होता है जो अपने कर्तृत्व का, शरण्य के अतिरि
अन्य समस्त साधनो का अभिमान त्याग चुका हो, उनकी निःसारता और अप
असहायता को समझकर कातर, भय विह्वल हो उठा हो। तुलसीदास ने आत
कल्याण के लिए अपने भरसक कोई बात उठा तो नही रखी थी, किंतु र
का आश्रय न लेने के कारण अपने कर्तृत्व एव अन्यो के आनुगत्य के फलस्व
उन्हे जन्म जन्म मे दसो दिशाओ मे दुःख ही दुःख मिला, 'कहा न कियो,
न गयो, सीस काहि न नायो? राम रावरे बिन भए जन, जनमि जनमि ज
दुख दसहूँ दिसि पायो।'[8] अब उनको यह विश्वास हो गया है कि मेरी
बने, बनाए मेरे कोटि कलप लौं, राम! रावरे बनाए बने पल पाउ मे।'[9]

१ विनय पत्रिका ५६।८
२ वही १३६।८।३
३ वही १३५।४।१
४ वही १३५।३।१ २
५ वही १५३।५
६ वही १००।१ २
७ वही २०६।१
८ वही २७६।१-२
९ वही २६१।१ २

केवल अपना कर्तृत्वाभिमान बल्कि ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सभी साधनो का सबल भी वे छोड चुके हैं। वे यह नही कहते कि ये साधन झूठे हैं, पर यह अवश्य कहते हैं, कि इस घोर कलिकाल मे मेरे जैसे अपदाथ से कोई साधन सधता ही नही। 'सुगुन, ज्ञान, बिराग, भगति सुसाधननि की पाति। भजे बिकल बिलोकि कलि अघ अवगुननि की थाति।'[1] अपनी साधहीनता की घोषणा असदिग्ध स्वर मे तुलसी ने बार बार की है, तुलसिदास हरितोषिए सो साधन नाही।[2] यही साधनहीनता तुलसी को शरणोन्मुख करती है, 'ताहि तें आयो सरन सबेरे। ज्ञान-बिराग-भगति साधन कछु सपनेहु नाथ न मेरे।'[3] अपने हीन आचरणो के बावजूद शरण मे आने का साहस तुलसी को श्रीराम के मृदुल शील स्वभाव के कारण ही हो सका है, यह भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है

जो करनी आपनी बिचारौ तौ कि सरन हौ आवौ।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को सो बल मनहि दिखावौ॥[4]

यहाँ यह भी लक्षितव्य है कि अन्य साधनो के साथ ही साथ भक्ति को भी तुलसी अपना अवलबन नही मान पा रहे है। इसका अथ यह नही है कि तुलसीदास भक्त नही हैं, सिफ यही है कि अपने भरोसे भक्ति का निर्वाह कर पाना भी उन्हे सभव नही लगता। प्रपत्ति मे भक्ति ज्ञान आदि का निषेध नही है केवल उनको अवलबन के रूप मे ग्रह करने से उत्पन्न हो सकने वाले अह का निषेध है। 'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा'[5] कहने वाले तुलसी विनय पत्रिका मे कहते हैं, रघुपति, भक्ति करत कठिनाई, कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई।'[6] यहाँ 'करत' शब्द पर जोर है, अपनी ओर से राम की भक्ति करना कठिन है, कहने मे सुगम है किंतु उसकी करनी' अपार है, अत उसके विचलित-खडित हो जाने का भय है। इसीलिए तुलसी प्रपत्ति ग्रहण कर प्रसाद के रूप मे भगवान से भक्ति पाना चाहते हैं, भक्ति करने का दावा नही करते। 'तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो'[7] 'जोग, जप, ज्ञान, विज्ञान तें अधिक अति, अमल दृढ भगति दै परम

१ विनय पत्रिका २२१।३ ४
२ वही १००।१०
३ वही १८७।१-२
४ वही १४२।१६-२०
५ मानस ७।४६।१
६ विनय पत्रिका १६७।१-२
७ वही १७२।८

सुख भरहुगे'[1] आदि वचनो म यह स्पष्ट है कि रामकृपा से वे अपना परम काम्य 'हेतु रहित अनुराग रामपद' प्राप्त करना चाहते है। यह वृत्ति शरणा गति सिद्धान्त के अनुकूल ही है। इस सदभ मे वरवर मुनि का यह स्पष्टीकरण मननीय है, 'सिद्धोपायेन तेन कृतकृपिफलमित्यथ।' 'अज्ञान निवत्ति पूवक भक्ति रूपापन्न ज्ञान प्रसादि तवान', 'महद्विवादजनक काम समुद्रतुल्यतया वद्धय मेघ सदशविग्रहोऽस्मत्कृष्ण इत्येवभूत प्रवृत्तिहेतोभक्तेरुत्पादको वद्धवश्च स एव हि। तस्मादभक्तिपारवश्यनिब धना प्रवृत्तिरपायफलमित्युच्यते।'[2] अर्थात सिद्धो पायभूत सर्वेश्वर कत्तृक कृपि का यह फल है। 'अज्ञाननिवत्तिपूवक भक्ति रूपा पन्न ज्ञान का प्रसाद दिया, 'महद्विवादजनक काम को समुद्रतुल्य बढाने वाले मेघ सदश विग्रह हमारे कृष्ण इस प्रकार की प्रवत्ति हेतु भक्ति का उत्पादक और वद्धक भी वही है। इसलिए भक्तिपारवश्यहेतुक इस प्रवत्ति को उपाय फल कहते है। श्री रामानुजाचाय ने भी अपने सुप्रसिद्ध 'शरणागतिगद्यम' मे शरणागति ग्रहण करने के अनतर यह याचना की है, 'परभक्ति परज्ञान परम भक्त्यैकस्वभाव मा कुरुष्व।[3] अर्थात् परामक्ति परज्ञान और परम भक्ति ही जिसका एकमात्र स्वभाव हो, ऐसा मुझे बनाइए। तुलसीदास ने ज्ञान नही माँगा है, दढ निष्काम पराभक्ति की ही याचना की है। इससे यही झलकता है कि तुलसी की प्रपत्ति भक्तिमूला थी, पारिभाषिक शब्दावली मे कहा जाये तो तुलसी भक्तिपरवश प्रसन्न थे। शरण्य और शरणागत के रूप मे राम की और अपनी जोडी तुलसी को अभूतपूव लगती है। इसीलिए उन्होने 'तू दयालु दीन हौं' (वि० प० ७८) 'तुम सम दीनबधु न दीन कोउ मो सम' (वि० प० २४२) जैसे अनेक पदो म प्रभु की महिमा एव अपनी दीन हीन स्थिति का एक साथ बहुत मनोज्ञ वणन किया है।

जीव क्या सहज ही शरण लेता है? अपने कत्त त्व का अभिमान क्या अना याम ही छूटता है? जब अपना जोर नहीं चलता, जब गजेन्द्र की तरह पानी सिर से ऊपर जाने लगता है तभी कोई विरला महाभाग अपनी उस सारी छट पटाहट-भरी आर्ति का भगवान को निवेदन कर शरण लेने के लिए उद्यत होता है। अधिकाश तो तब भी नही चेतते और अपने हाथ पाँव पटकते पटकते ससार-सागर मे डूब ही जाते हैं। तुलसी ने अपनी शरण पूव विकलता को बहुत

१ विनय पत्रिका २११।६

२ श्रीवचनभूषणम पृ० २०४

३ कल्याण—सन्तवाणी अक, पृ० ७४३

ही मार्मिक शब्दो मे व्यक्त किया है। ससार की विषम स्थिति और अपनी आश्रयहीनता को देखकर व्याकुल हो वे कह उठे हैं

अति अनीति कुरीति भइ भुँई तरनि हूँ तें ताति।
जाउँ कहँ, बलि जाउँ, कहूँ न ठाउँ मति अकुलाति।[1]

प्रभु को छोडकर मेरे लिए कही ठौर नही है, यह बोध अपने कटु अनुभवो से ही उन्हे हुआ था। दीन-हीन को और कोई नही अपनाता यह वे अच्छी तरह समझ चुके थे, 'कहाँ जाउँ कासो कहौं, को सुनै दीन की। त्रिभुवन तुही गति सब अगहीन की।'[2] जब से जीव नाम धारण किया तब से रात दिन नाचते-नाचते परेशान हो जाने के बाद, निस्सबल और परिश्रात हो जाने के बाद तुलसी ने प्रभु से यह कातर प्रार्थना की थी

थके नयन, पद, पानि, सुमति-बल, सग सकल बिछुर्‌यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन भव भय बिकल डर्‌यो।
जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि सो मोहि सब बिसर्‌यो।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन पर्‌यो।[3]

सिर्फ अपनी व्याकुलता का ही नही, अपने अपराधो का भी निवेदन तुलसी ने किया है, क्योकि निश्छल भाव से अपने दोषो को स्वीकारते हुए प्रभु की शरण मे आना चाहिए, 'परिहरि छल सरन गये तुलसिहूँ से तरत।'[4] तुलसीदास को जो बात सबसे अधिक कष्ट देती रही, वह यही थी कि दुनिया तो उन्हे साधु, भक्त समझती है जबकि उनके हृदय मे अब भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का ही वास है, अपनी कथनी और करनी के इस अन्तर से, 'रहनि आन बिधि कहिय आन' से पीडित होकर उन्होने ईमानदारी से अपनी इस स्थिति को प्रभु के सामने रख दिया है। उनकी कुछ सस्वीकृतियाँ हैं 'काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि, बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि, देत सिख, सिखयो न मानत मूढता असि मोरि।'[5] बिरचि हरि-भगति को बेष बर टाटिका, कपट दल हरित पल्लवनि छावौ, नाम लगि लाइ, लासा ललित बचन कहि ब्याध ज्यो बिषय बिहगनि बझावौ, कुटिल सतकोटि

१ विनय पत्रिका २२१।५-६
२ वही १७६।१-२
३ वही ८१।७ १०
४ वही १३४।१४
५ वही १५८।४

मेरे रोम पर वारियहि, साधुगनतो मे पहिलेहि गनावौं, परम बबर, खब गब पबत चढ्यो, अज्ञ सवज्ञ जनमनि जनावौं',[1] 'कोउ भल कहहु, देउ कछु कोऊ असि बासना न उर तें जाई'[2] आदि आदि। यह ठीक है कि अपराध-स्वीकृति की उक्तियो मे वैयक्तिकता के साथ-साथ सामान्य जीव मात्र का प्रतिनिधित्व भी है अत इनको बिलकुल अभिधाय मे लेना और तुलसीदास को कामी, क्रोधी, लोभी, पाखडी मान लेना न होगा किंतु यह भी ठीक है कि श्रीराम के समक्ष अपने को रख कर भक्त के अपने स्वीकृत आदश की तुलना मे अपने मन के विकारो को देखने पर तुलसी अपनी अपूणताओ के कारण अत्यधिक दैन्य का अनुभव करते थे और इसीलिए पूरी निष्ठा के साथ कहते थे, 'माधव, मो समान जग माहीं, सब विधि हीन, मलीन, दीन अति लीन विषय कोउ नाहीं।'[3] न तो यह छनछद्म भरी उक्ति है, न दीनता के प्रदशन का कोरा परिपाटी पालन ही है। यह उस निष्ठावान् भक्त का भावसत्य है जो जगत के अन्य जीवो को क्षमा सुदर नेत्रो से देख कर अपने से श्रेष्ठ और अपने अतर को सत्यानुसधानी दृष्टि से देखकर अपने शुभ प्रयासो के बावजूद उसे 'मोहजनित मल' से ग्रस्त पाकर अपने को सब से निकृष्ट घोषित करता है। जो हो, सच्चाई के साथ अपने दोषो की विवृति प्रभु के समक्ष कर देने पर तुलसी कुछ-कुछ आश्वस्त हो पाते हैं 'सब भाति बिगरी है एक सुबनाउ सो तुलसी सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो'[4] और प्रभु से यह आग्रह कर पाते हैं कि 'तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।'[5]

प्रभु की अनुकूलता का सकल्प, और प्रतिकूलता का वजन (जो वस्तुत एक ही सिक्के की दो पीठें है) शरणागति की भूमिका मात्र है। इसमे सदेह नही कि यह भूमिका उपयोगी है किंतु सब समय अनिवाय है, ऐसा नही लगता। गजेन्द्र, जयन्त, कालियनाग आदि शरण मे आने के पहले न भक्त थे, न उन्हें अनुकूलता का सकल्प और प्रतिकूलता का वजन करने का समय ही मिला था फिर भी प्रभु ने उनको शरण मे लिया था। जो हो, तुलसी की विनय पत्रिका मे इन दोनो तत्वो का भी पर्याप्त समादर है।

प्रभु की अनुकूलता के सकल्प का अथ है अपनी समस्त इन्द्रियो को, सभी

१ विनय पत्रिका २०८।३-६
२ वही ११६।४
३ वही ११४।१
४ वही १८२।१३ २४
५ वही २४५।७

वृत्तियों को राममय कर देने का सकल्प करना। तुलसीदास अपने मन को इसका उपदेश देते हुए कहते है, 'स्रवन कथा, मुखनाम, हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु। नयननि निरखि कृपा समुद्र हरि अगजगरूप भूप सीता बरु।'[1] इसी पद मे उन्होंने 'सम, सतोप बिचार बिमल अति सत्सगति ए चारि दृढ करि धरु' भी कहा है ताकि मनोवृत्तियाँ, पवित्र रहे। इसी तरह प्रतिकूलता का वर्जन करते हुए वे इन्द्रियो को रामविमुख होने से रोकना चाहते हैं, 'स्रवननि और कथा नहि सुनिहौं, रसना और न गैहौं। रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं।'[2] इसी क्रम मे वे समस्त रामविमुखो को (चाहे अत्यत प्रिय ही क्यो न रहे हो) त्यागने का भी सदेश देते हैं, 'जाके प्रिय न राम बैदेही। सो छाँडिए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।'[3] किंतु समग्र विनय पत्रिका के अनुशीलन से मुझे ऐसा लगता है कि इन दोनो तत्त्वों का निर्वाह भी वे अपने बलबूते पर कर पाने की स्थिति मे स्वय को नही पाते क्योकि उन्हे लगता है कि रात दिन अपने मन को अनेक प्रकार की अच्छी-अच्छी शिक्षाएँ देते रहने पर भी प्रभु की अनुकूलता को ग्रहण करने और प्रतिकूलता को छोडने की बातें समझाते रहने पर भी वह मूढ अपना स्वभाव नही त्यागता। हार कर वे यही कहते हैं कि यह मन 'बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै।'[4]

प्रभु रक्षा करने मे पूर्ण समर्थ हैं और वे अपने करुणाप्रेरित स्वभाव के कारण दीन हीन शरणागतो की रक्षा अवश्य करेंगे, इस पर तुलसी को अडिग विश्वास है। उनकी सहज घोषणा है, "जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै। होइ न बाँको बार भगत को जो कोइ कोटि उपाय करै।"[5] उनका दावा है कि मोद और मगल से रिक्त हो गयी पृथ्वी को अपनी करुणा से सींचकर आनदित करने वाले और कलि के अनुगत दुजनो को नष्ट कर सुद्दतसेन को जिताने वाले प्रभु केवल तुलसी की ही नही, समस्त पीडितो की रक्षा करते हैं। शरणागति जैसी वैयक्तिक साधना मे भी तुलसी जैसे सत लोक-कल्याण की चेतना को छोड नही सकते। इसीलिये वे कहते हैं कि प्रभु उखडो

१ विनय पत्रिका २०५।५-६
२ वही १०४।५-६
३ वही १७४।१-२
४ वही ८९।८
५ वही १३७।१-२

को जमाने वाले, उजडो को बसाने वाले, गयी हुई चीजो को लौटाने वाले, आर्त्तों की आर्त्ति दूर कर उन्हे अभय देने वाले हैं—

उथपे-थपन, उजारि-बसावन, गई बहोरि, बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत-आरतिहर अभय-बाँह केहि न दई है।[1]

शरणागति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है प्रभु को अपने एकमात्र गोप्ता रक्षक के रूप मे वरना। विनय पत्रिका म यह भावना सबसे अधिक प्रतिफलित हुई है। तुलसी ने बार-बार यह कहा है कि 'मेरे रावरियै गति है रघुपति बलि जाउँ, निलज, नीच, निरधन, निरगुन कह जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ।'[2] मनसा वाचा, कर्मणा एकमात्र प्रभु की शरण ग्रहण करते हुए तुलसी कहते हैं, 'नाहिनै नाथ अवलम्ब मोहिं आन की, करम, मन, बचन पन सत्य करुनानिधे। एक गति राम भवदीय पदत्रान की।'[3] यह भी उल्लेख्य है कि तुलसी ने नाम और नामी को अभिन्न माना है, बल्कि भक्ति के आवेग म यहाँ तक कह दिया है कि 'प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो। ताको भलो कठिन कलिकाल हूँ आदि, मध्य परिनामो।'[4] राम का नाम तुलसी को राम से भी अधिक प्रिय है क्योकि वह सवदा उन्हे सुलभ है और उनकी 'प्रीति, प्रतीति' के अनुसार राम के सगुण और निगुण दोनो रूपो से बडा है। अत वे यह अकुठ चित्त से कहते है 'रामजपु रामजपु, रामजपु बावरे, घोर भवनीर निधि नाम निज नाव रे।'[5] नाम का यह अवलब वस्तुत नामी का ही अवलब है, इसमें दो मत नही हो सकते।

प्रभु को अपना रक्षक अपना एकमात्र सबल स्वीकार कर तुलसी अपना सब कुछ प्रभु के चरणो मे अर्पित कर देते है। नातो नेह नाथ सो करि सब नातो नेह बहैहौं। यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥[6] सारा उत्तरदायित्व उसी का है जो स्वामी है, सेवक ने तो उनसे नाता जोडकर और सबो से नाता तोड लिया सब कुछ उन्हे सौप दिया। अब मैं जैसा हू— अच्छा हू तो, बुरा हू तो आपका हूँ—'जैसो हौं तैसो राम रावरो जन जनि

१ विनय पत्रिका १३८।२३-२४
२ वही १५३।१-२
३ वही २०८।१-२
४ वही २२८।१-२
५ वही ६६।१ २
६ वही १०४।७ ८

परिहरिए।'[1] 'रावरो जन' मे 'तवास्मीति' की स्पष्ट ध्वनि है। एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' कहने वाले को अभय देने की अपनी प्रतिज्ञा का पालन प्रभु करेंगे ही, तुलसी को इसका पूरा विश्वास है।

तुलसी अपने को आरभ से ही दीन-हीन मानते रहे अत आत्मसमर्पण के अभिमान का तो प्रश्न ही नही उठता। कार्पण्य दैन्य तुलसी की साधना के मूल तत्त्वो मे हैं। शरण मे लेने की प्रार्थना अपनी साधनहीनता से उत्पन्न दीनता के कारण ही तुलसी ने की थी और शरण ग्रहण करने के बाद भी उन्होंने अपनी दीनता नही त्यागी। शरणागति के अनन्तर भी उनकी अपने बारे मे मान्यता यही थी कि,

'मदमति, कुटिल, खल-तिलक तुलसी सरिस भो न तिहुँलोक तिहुँकाल कोऊ।
नाम की कानि पहचानि जन आपनो ग्रसित कलिब्याल राख्यो सरन सोऊ।।'[2]

वे इस बात को सोच भी नही सकते कि प्रभु ने उन्हे उनके आत्मसमर्पण, या भक्ति भाव के कारण अपनाया है, उनकी दृढ धारणा यही है कि मेरे जैसे स्वामीद्रोही को प्रभु ने सिर्फ अपनी सेवकहितता के कारण अपना लिया, प्रभु ने अपनी भलाई के चलते ही मेरा भला कर दिया है

'मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हौं तो साँई द्रोही, मैं सेवक हितु साँई।।'[3]

कहने का तात्पर्य यह कि तुलसीदास ने दैन्य को अपने स्वभाव का सहज अग बनाकर अहकार को निर्मूल कर दिया था।

तुलसीदास अपनी ओर से शरण लेकर पूर्ण आश्वस्त नहीं हो पाते। अपने मन मे उठती रहने वाली दुर्वासनाओं के कारण उन्हे लगता है कि 'मैं जानी हरिपदरति नाही, सपनेहु नहिं बिराग मन माही।'[4] उनका सीधा तर्क यह है कि राम चरण मे अनुरक्त जन समस्त भोगो को रोग समझ कर त्याग देते है किंतु मुझे तो काम भुजग ने डस रखा है तभी तो विषय रूपी नीम मुझे कडवा नही लगता। इससे उनके मन मे असमजस और शोक बढता ही जाता है। इसी मन स्थिति मे वे सोचते है कि प्रभु ने यदि उन्हें अपना लिया होता तो उनके मन मे विषय वासना कैसे जाग सकती थी। वे प्रभु से कहते है, 'तुम

१ विनय पत्रिका २७१।१-२
२ वही १०६।११ १२
३ वही ७२।१-२
४ वही १२७।१ २

अपनायो तब जानिहौ जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सो नेह छाँडि छल करिहै।'[1] किंतु जब ऐसा नही होता, जब उनका मन त्रिविध ज्वर से जलता हुआ बौराया फिरता है, तो वे हाँक लगाते हैं, 'सुनहु राम रघुबीर गुसाइँ, मन अनीति रत मेरो। चरन सरोज बिसारि तिहारे निसिदिन फिरत अनेरो।'[2] वे आशकाग्रस्त हो उठते हैं, कही प्रभु ने उनका परित्याग तो नहीं कर दिया। पीडा भरे स्वर मे उन्होंने कहा है, 'तुलसी प्रभु को परिहर्यो सरनागत सो हौं।'[3] किंतु उनकी श्रद्धा अडिग है, भले राम उन्हे छोड दें, वे राम को नही छोड सकते, 'जो तुम त्यागो राम हौं तो नहि त्यागो। परिहरि पाय काहि अनुरागो।'[4] भला राम के चरणो को छोडकर वे और किसकी भक्ति कर सकते हैं। नही, वे राम का आश्रय कदापि नहीं त्यागेंगे किंतु केवल अपनी ओर से ही शरण लेकर चुप नही बैठेंगे। श्रीराम को भी उन्हे अपनाना होगा—पर वे अपनी ओर से प्रार्थना करने के सिवाय और कर ही क्या सकते हैं। ठीक है, वे तब तक विनय करते ही रहेंगे जब तक प्रभु उन्हे नही अपना लेते।

शास्त्रीय शब्दावली मे कहा जाय तो तुलसी 'स्वगत स्वीकार प्रपत्ति' को यथेष्ट न समझ कर 'परगत स्वीकार प्रपत्ति' पर अर्थात् श्रीराम द्वारा अपना लिये जाने पर बल दे रहे हैं। अपनी ओर से राम का होना और राम के द्वारा अपनाया जाना—इन दोनो मे बहुत अन्तर है। लोक दृष्टि मे कोई भले ही पापी या नीच हो किंतु उसे प्रभु ने अपना लिया तो वह सर्वगुण सपन्नो से भी बढकर है। 'जाको हरि दृढ करि अग करयो, सोइ सुसील पुनीत बेदबिद बिद्या गुननि भरयो।'[5] सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि राम तुम रीझे'[6] आदि उद्गारो से स्पष्ट है कि तुलसी की दृष्टि मे राम के द्वारा अगीकृत होना ही सबसे बडी उपलब्धि है। प्रभु अपनी ओर, अपनी विरुदावली की ओर, तुलसी की दीनता की ओर देखकर ही तुलसी को अगीकार करें, यही विनती उन्होने बार बार की है। 'तू गरीब को निवाज हौ गरीब तेरो। बारक कहिये

१ विनय पत्रिका २६८।१-२
२ वही १४३।१-२
३ वही १५०।१-२
४ वही २३८।१-२
५ वही २३६।१
६ वही २४०।१

कृपालु तुलसिदास मेरो ।'[1] 'कहे ही बनैगी, कै कहाए बलि जाऊँ राम। तुलसी तू मेरो हारि हिये न हहरु'[2], 'खीझि रीझि बिहसि, अनख क्यो हूँ एक बार तुलसी तू मेरो बलि, कहियत किन'[3] जैसी अनेकानेक पक्तिया उद्धत की जा सकती है, जिनमे तुलसी ने यह चाहा है कि कृपापूर्वक राम उन्हे आश्वस्त करते हुए यह कहे कि 'तू मत डर, मैने तुझे अपना लिया है।'

जैसे जैसे इस आश्वासन की प्राप्ति मे देर होती है, वैसे वैसे तुलसी की आर्त्ति बढती जाती है। एक तो प्रभु के दशनो की उनकी प्यास इतनी बढ जाती है कि वे छटपटा कर कह उठते हैं, 'कृपा सिंधु सुजान रघुबर प्रनत आरति-हरन, दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन।'[4] दूसरे, उन्ह अपनी बढती हुई उम्र के कारण मृत्यु की निकटता का बोध होता है अत वे कातर स्वर मे प्रभु से निवेदन करते हैं, न सही, कृपा से न सही, जिस किसी भाव से आप देखना चाहे उसी भाव से देखकर अब शीघ्र ही मुझे अपना लें, 'जो चितवनि सोधी लगे चितइए सबेरे, तुलसिदास अपनाइए कीजे न ढील अब जीवन अवधि अति नेरे।'[5] तीसरे, उन्ह यह भी लगता है कि चित्रकूट मे प्रभु की कृपा से कलि की कुचाल का रहस्य उन्हे ज्ञात हो गया है अत अब कलिकाल उन्ह पीस डालने मे कोई कोर कसर नही उठा रखेगा। कलि से आतक्ति होकर अपनी रक्षा के लिए भी तुलसी राम के द्वार पर इस निणय के साथ धरना देकर बैठ गये हैं कि जब तक प्रभु उन्ह नही अपनाते तब तक वे उठेंगे ही नही

पन करि हौं हठि आजु तें राम द्वार परयो हौं
तू मेरो, यह बिन कहे उठिहौ न जनम भरि,
प्रभु की सौं करि निबर्‌यो हौं।[6]

प्रभु केवल मेरे आग्रह पर मुझे अपना लेंगे, तुलसी को इसका भरोसा नही होता। अत वे महाराज श्री रामचन्द्र के दरबार मे अपनी अर्जी भेजते समय उनके परिकरो से भी प्राथना करते हैं कि वे सब 'निज निज अवसर' पर मलीन तुलसी की सुधि कर उसकी बिगडी बात सुधारने की कपा करें। अपनी 'विनय

१ विनय पत्रिका ७८।११ १२
२ वही २५०।१८
३ वही २५३।५
४ वही २१८।६ १०
५ वही २७३।५-६
६ वही २६७।१-२

पत्रिका' की स्वीकति के लिये लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदि की 'सस्तुति' का जो रूपक तुलसी ने बाँधा है, उसमे एक बडा शास्त्रीय सत्य निहित है। भागवता की मायता है कि प्रपत्ति मे 'पुरुषकारत्व' की आवश्यकता है। सामान्यत पुरुषकार का अथ है मानव प्रयत्न, पराक्रम, उद्यम आदि, किंतु प्रपत्ति म अपना उद्यम काम नही आता। प्रपत्ति की स्वीकृति तो प्रभु-कृपा पर निभर है। प्रभु की कृपा कब, किस पर, कसे होगी इस सबध मे कुछ नही कहा जा सकता। फिर भी प्रपन्न का विश्वास है कि भगवत्कृपा के उद्रेक म सत, आचाय भगवत परिकर और सर्वोपरि भगवती सीता समथ है। अत प्रपत्ति मे उहें ही 'पुरुषकार' माना जाता है। भगवती ता 'पुरुषकारस्वरूपा' ही कही जाती हैं। विनय पत्रिका के आरभ मे श्रीराम के अगभूत देव देवियो तथा तीनो भाइयो की वदना करने के पश्चात भगवती सीता से दो पदो मे तुलसीदास ने अनुकूल अवसर पर श्रीराम को अपनी सुधि दिलाने की प्राथना की है।[1] विनय पत्रिका के अतिम पद मे 'मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है' के द्वारा लक्ष्मण जी (जो भक्तो के द्वारा जीवो के आचाय माने जाते हैं) के एव अ य भाइयो तथा सभासदो के पुरुषकारत्व का ही स्पष्ट उल्लेख है किंतु 'बिहँसि राम कह्यो सत्य है 'सुधि मै हूँ लही है'[2] के द्वारा तुलसीदास ने सकेत कर दिया है कि भगवती सीता का पुरुषकारत्व उहें सुलभ था। सब के समथन को देखकर श्रीराम तुलसी की विनय पत्रिका पर सही कर तुलसी को अपना लेते हैं। परगतस्वीकार प्रपत्ति का लक्ष्य सिद्ध होन के साथ ही विनय पत्रिका पूण हो जाती है।

१ विनय पत्रिका पद स० ४१, ४२

२ वही २७६।५

तुलसीदास की तेजस्विता

तुलसीदास की दीनता ही विख्यात है, तेजस्विता नही। किंतु जिस प्रकार राजा जनक ने भोग मे योग को छिपा रखा था[1] उसी प्रकार तुलसी ने अपनी तेजस्विता को दीनता के आवरण मे इस तरह लपेट रखा है कि 'सहसा लख न सकहिं नर नारी'। यो देखा जाये तो उनकी दीनता मे भी अपूर्व तेजस्विता निहित है। तुलसी केवल श्रीराम के समक्ष दीन है और किसी के आगे नही, यद्यपि विनम्र वे सब के प्रति हैं। उनके आचरण मे उनका यह विश्वास पूरी तरह उतर गया था कि, 'स्वारथ, परमारथ, सकल, सुलभ एक ही ओर। द्वार दूसरे दीनता उचित न तुलसी तोर।'[2] कवितावली के अनेक छदो म उन्होने अपनी इस मान्यता को जरा बाकपन के साथ व्यक्त किया है, 'जानकी जीवन को जन ह्वै, जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहिं'[3] 'जग मे गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नर की'[4] आदि आदि।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि श्रीराम के सामन भी दीन होने का उनका आदश 'चातक' का है। एक ओर यदि वे बताते ह कि तीनो लोको और तीनो कालो मे चातक ही यशस्वी है क्योकि उसकी 'दीनता' कभी, किसी दूसरे नाथ ने नही सुनी,[5] तो दूसरी ओर यह भी कहते है कि जो न याचना करता है, न सग्रह, न सिर झुका कर लेता है, ऐसे स्वाभिमानी चातक को मेघ के बिना और कौन दे सकता है।[6] मान और प्रेम दोनो का निर्वाह कैसे हो

१ 'जोग भोग महँ राखेउ गोई।'—मानस १।१७।२

२ दोहावली ५४

३ कवितावली ७।२६।४

४ वही ७।२७।४

५ 'तीनिलोक, तिहुँकाल जस चातक ही के माथ, तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ'—दोहावली २८८

६ वही २९०

सकता है, यह चातक ही सिखा सकता है, क्योंकि स्वाति जल के अतिरिक्त और कुछ न ग्रहण करने वाला चातक वक्र स्वाति बूद की भी उपेक्षा कर मान रक्षण के अपने नियम का पालन करता है। इस सदर्भ मे सचमुच बेजोड है तुलसी का यह दोहा

तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम।
बक्र बूद लखि स्वाति हू निदरि निबाहत नेम ॥[१]

इसी तरह निस्सदेह कहा जा सकता है कि दीनता और तेजस्विता का युगपत निर्वाह करना तुलसी को ही फबा है।

तुलसी की तेजस्विता पर विचार करने के पहले तजस्विता के सामान्य स्वरूप को समझ लेना लाभदायक होगा। तेजस्विता का अथ है तेजस्वी होने का भाव और तेजस्वी वह होता है जिसमे तेज हो। तेजस् शब्द तिज् धातु मे असुन प्रत्यय जोडने से बनता है। तिज् धातु के प्रमुख अथ हैं सहन करना, साहस के साथ भुगतना, पैना करना, उत्तेजित करना आदि हिंदी शब्द सागर मे तेज' के अट्ठाईस अथ दिये गये हैं। इस सदभ मे उपयोगी सिद्ध होने वाले कुछ अथ हैं, दीप्ति, कांति, पराक्रम, ताप, प्रचडता, प्रताप, प्राणभय की भी स्थिति मे अपमान आदि न सहने की प्रकृति, दूसरो को अभिभूत करने की शक्ति। तेज को पच महाभूतो मे तृतीय माना गया है और उसके दो प्रधान गुण बताये गये हैं ताप और प्रकाश। छान्दोग्योपनिषद के अनुसार जो तेज को ब्रह्मरूप मे उपासना करता है वह तेजस्वी होकर तेज-सपन्न प्रकाशमान लोको को प्राप्त करता है। (६।११।२) गीता के सोलहवें अध्याय मे वर्णित दैवी सपदा के अतगत आये तेज ' शब्द की व्याख्या करते हुए शकराचार्य ने लिखा है, 'प्रागल्भ्य न त्वग्गता दीप्ति '[२] अर्थात् यहाँ तेज का अथ त्वचागत दीप्ति न होकर प्रागल्भ्य (साहस, स्वाभिमान, वीरत्व आदि) है। साहित्य दपण के अनुसार तेज का लक्षण यह है

अधिक्षेपापमानादे प्रयुक्त परेण यत।
प्राणात्ययेऽप्यसहन तत्तेज समुदाहृतम् ॥[३]

अर्थात प्राणान्त होने की स्थिति म भी अन्यो के द्वारा किये गये आक्षेप और अपमान आदि को न सहन करना ही तेज है। वाचस्पत्यम् सस्कृत अभिधान मे

१ दोहावली २८६
२ श्रीमद्भगवद्गीता के १६।३ श्लोक पर शाकरभाष्य
३ साहित्य दपण ३।५४

'तेजस' शब्द का प्रयोग दीप्ति, प्रभाव, पराक्रम के अर्थ मे विहित बताया गया है।

तुलसी साहित्य मे तेजस्विता शब्द सभवत नही आया है किंतु तेज, तेजपुंज, तेजवत, तेजनिधान, तेजसी जैसे शब्दो का व्यवहार कई अर्थों मे कई बार हुआ है। तुलसीदास ने 'तेज' का प्रयोग काति, दीप्ति, आभा'[1], ताप[2], प्रकाश[3], प्रभाव, पराक्रम[4] आदि प्रचलित अर्थों मे ही मुख्यत किया है। केवल नन्दिग्राम मे भरत की साधना के प्रसग मे आयी अर्धाली 'देह दिनहिं दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई'[5] मे उसका अर्थ मेद या चर्बी है।

इन अर्थों को दृष्टिगत रखते हुए भी हिंदी शब्द सागर मे 'तेजस्वी' की दो अथकोटियाँ निर्धारित की गयी है १ कातिमान्। तेजयुक्त। जिसमे तेज हो। २ प्रताप प्रतापवाला। प्रभावशाली। मानक हिंदी कोश म दूसरी अथकोटि की अपर्याप्त व्याख्या करते हुए लिखा गया है, 'जिसके बल, बुद्धि, वैभव आदि का दूसरो पर यथेष्ट प्रभाव पडता हो।' पहली अथकोटि मे यदि शारीरिक (मुख्यत मुखमडलीय) दीप्ति सकेतित है तो दूसरी मे समस्त व्यक्तित्व एव कत्त त्व की प्रभविष्णुता। पहली अथकोटि भी तुलसीदास के लिए प्रयोज्य है किंतु यहाँ हमारा अभिप्राय दूसरी अथकोटि से ही है अत तेज और तेजस्वी के प्रयोगगत विविध अर्थों के आधार पर तेजस्विता के सपृक्तार्थ का निरूपण कर लेना सगत है। सक्षेप मे व्यक्ति की उस शक्ति को तेजस्विता कहते है जिससे अपनी मान्यता के औचित्य पर अथवा अपनी क्षमता पर गहरे विश्वास के कारण वह प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी दूसरो के द्वारा किये गये आक्षेपो, अपमानो का प्रत्युत्तर देता हुआ या उनकी उपेक्षा करता हुआ साहसपूवक अपने

१ मदिर महँ सब राजहिं रानी, सोभा, सील, तेज की खानी (मानस १।१९०।७) कनक बरन तन तेज बिराजा (मानस ४।३०।७), जिनि बिनु तेज न रूप गोसाईं (मानस ७।९०।६)

२ तेज कृसानु रोष महिषेसा (मानस १।४।५), जरे पख अति तेज अपारा (मानस ४।२८।४)

३ रबि सम तेज सो बरनि न जाई (मानस ७।१२।२)

४ रूप तेज बल नीति निवासा (मानस १।१३०।३), तेज, प्रताप, सील बल बाना (मानस, १।१५३।३), ते द्वौ बधु तेज बलसीवा (४।७।२८)

५ मानस २।३२५।१

सिद्धात या निणय पर दढ रहता है और अपने बल, बुद्धि, वैभव, काय आदि के द्वारा दूसरो को विशेषत प्रतिपक्षियो को अभिभूत कर देता है। दूसरे शब्दो मे आत्मविश्वास, आत्मगौरव, धैर्य, ऐश्वय, प्रताप, पराक्रम, प्रभाव आदि गुणो की समष्टि है तेजस्विता।

तेजस्विता सयत भी हो सकती है और उग्र भी। तुलसीदास के द्वारा चित्रित श्रीराम की तेजस्विता सयत है और लक्ष्मण की उग्र। अपमानित एव आतकित करने के परशुराम के प्रयासो से अप्रभावित रहते हुए श्रीराम द्वारा कथित ये पक्तिया सयत तेजस्विता का उत्कृष्ट उदाहरण हैं

जौ हम निदरहिं विप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥
देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलकु तेहिं पावँर आना॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रससी। कालहु डरहिं न रन रघुबसी॥
बिप्र बस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥[१]

मर्यादा बोध के कारण श्रीराम प्रतिपक्षी को अपमानित नही करते जबकि लक्ष्मण श्रीराम के या अपने गौरव पर तनिक भी आच आने पर कठोर प्रतिवाद करते हैं। जनक के 'बीरबिहीन मही मैं जानी' कहने पर अथवा परशुराम के आस्फालन पर लक्ष्मण की उक्तियाँ उग्र तेजस्विता की सूचक है।[२] इसी तरह रावण की राज्यसभा मे हनुमान की तेजस्विता सयत है और अगद की उग्र। प्रतिपक्षी को अभिभूत दोनो करती हैं किंतु पहली स श्रद्धा उपजती है तो दूसरी से भीति। अधिक प्रत्यक्ष होने के कारण कई बार दूसरी को ही लोग तेजस्विता मान बैठते हैं। जनक के दूतो ने दशरथ के सामने श्रीराम-लक्ष्मण का वणन करते हुए लक्ष्मण को ही तेजनिधान कहा था

राजन रामु अतुल बल जैसे। तेजनिधान लखनु पुनि तैसे।
कपहि भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरि किसोर के ताकें॥[३]

लक्ष्मण की नजर पडते ही राजाओ का काँप उठना उन दूतो को लक्ष्मण को

१ मानस १।२८३ से २८४।५ तक।

२ देखिए मानस १।२५३। (पूरा कडवक) तथा १।२७१ से १।२८० म लक्ष्मण की उक्तियाँ।

३ मानस १।२९३।३ ४

तेजस्विता का अखडनीय प्रमाण लगा था। किंतु उग्रता ही तेजस्विता का चरम प्रमाण नही है। जिन परशुराम के द्वारा स्वाभाविक रूप से देख लिये जाने मात्र से ये राजागण समक्ष बैठते थे कि 'अब मरे' वे ही परशुराम श्रीराम की सयत तेजस्विता से पराभूत हो गये थे।

तुलसीदास तेजस्विता को दैवी भी मानते हैं और आसुरी भी। उन्होने 'राम तेज, बल, बुधि, बिपुलाई, मेष सहस सत सकहिं न गाई'[1] भी लिखा है और कुभकर्ण की मृत्यु पर यह भी लिखा है कि 'रोवहिं नारि हृदय हति पानी। तासु तेज, बल बिपुल बखानी'[2] 'कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई'[3] की मान्यता के अनुसार जो तेजस्विता 'सबहित' के (या व्यापक लोकहित के) अनुकूल होती है उसे दैवी और जो प्रतिकूल होती है, उसे आसुरी कहा जा सकता है। गीता के 'तेजस्तेजस्विना महम्'[4] वाक्य के अनुरूप तुलसीदास यह भी मानते है कि तेज चाहे किसी मे भी क्यो न हो, अततोगत्वा प्रभु का ही होता है। इसीलिए कुभकण और रावण की मृत्यु के बाद तुलसी ने दिखाया है कि उनका तेज प्रभु मे समा गया।[5] व्यक्ति जब तेज को अपना मान बैठता है तब उसमे तेजस्विता के साथ साथ अहकार का भी उदय होता है जो कालातर मे उसके पतन का भी कारण हो सकता है।

तुलसीदास की तेजस्विता का उत्स है प्रभु से निरतर जुडे रहने का भाव जिसके कारण ही उनमे आत्मविश्वास, आत्मगौरव, साहस, धैर्य आदि का सचार होता है। तुलसी राम की शक्ति से ही शक्तिमान हैं अत सहज भाव से कहत हैं, 'तुलसिदास रघुबार बाहुबल सदा अभय काहू न डरै'[6] उनके विरोधियो ने जब नाना प्रकार के अभियोग लगाकर उन्हे लाछित और प्रपीडित करना चाहा तब भी व मस्ती के साथ कहते रहे, 'कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे'।[7] अपने व्यक्तिगत विरोधियो से तो

१ मानस ८।५६।१
२ वही ६।७२।५
३ वही १।१४।६
४ श्रीमदभगवदगीता १०।३६
५ मानस ६।७१।८ तथा ६।१०३।६
६ विनय पत्रिका १३७।१२
७ कवितावली ७।८८।४

तुलसीदास विचलित नही हुए थे किंतु कलिकाल से अर्थात तामसी प्रवत्तियो के आतरिक एव बाह्य द्वद्वो से[1] वे बहुत परेशान रहे। उससे भी वे राम की शक्ति के सहारे ही जूझते और जीतते रहे। प्रचड कलिकाल के साथ मिलकर तुलसी के दुष्ट मन ने जब उन्हे भवर मे चक्कर काटते रहने वाले भौंतुवा कीडे के समान चचल बना दिया तब भी वे आश्वस्त थे कि वे (श्रीराम के) बडे ठिकानेठौर के हैं अत उनका अनिष्ट नही हो सकता

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहि कियो भौंतुवा भौर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित यहि बल बडे ठेकाने ठौर को हौं॥[2]

प्रभु के बल से बली होने के दो शुभ परिणाम स्पष्ट हैं। एक तो प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति या शक्तिशाली से शक्तिशाली प्रतिपक्षी के समक्ष भी तुलसी हिमालय के सदृश अडिग रह सके, दूसरे इसके चलते उनके मन मे अहकार नही जागा। अभिमान या गुमान तो बल का ही होता है। बल अपना होता तो अहकार होता, जब बल राम का है तो अभिमान या गुमान भी राम का ही हो सकता है। तुलसीदास ने इस अभिमान को न केवल स्वीकार किया है बल्कि इसका पोषण भी करना चाहा है। 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे।'[3] इस अर्धाली को यदि सुतीक्ष्णजी की उक्ति मानकर तुलसी के व्यक्तिगत भाव की प्रकाशिका न भी माना जाय तो भी कवितावली की ये पक्तिया उनके इस भाव की निश्चित सूचिका है

रावरो कहावौ, गुन गावौ राम रावरोई,
रोटी द्वै हौं पावौं राम रावरी ही कानि हो।
जानत जहान, मन मेरे हू गुमान बडो
मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं।[4]

राम के सेवक होने का अभिमान या गुमान जिस तेजस्विता को जन्म देता है वह दैवी होती है, सर्वहितकारिणी होती है, वैयक्तिक स्वार्थसाधिका नही।

इसी के साथ तुलसी ने तेजस्विता की प्राप्ति के लिए तीन और पहलुओ पर बल दिया है। वे हैं तप, निर्लोभिता और नैतिकता। तुलसी का कथन है,

१ तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा॥—मानस ७।१०४।५
२ विनय पत्रिका २२६।५ ६
३ मानस ३।११।२१
४ कवितावली ७।६३।१ ४

'बिनु तप तेज कि कर विस्तारा'[1] अर्थात क्या बिना तप के तेज का विस्तार हो सकता है, स्पष्टत उनका मत है कि नही हो सकता। किंतु तप तो कोई भी दृढव्रत व्यक्ति कर सकता है। आखिर रावण, कुभकण ने भी तप किया ही था और उसी के कारण उन्हे प्रचुर तेजस्विता प्राप्त हुई थी। अत तपोलब्ध तेजस्विता मागलिक ही होगी ऐसा नही कहा जा सकता। तप के फल के रूप मे व्यक्ति क्या चाहता है, किससे चाहता है, इस पर भी बहुत कुछ निभर करता है। उग्र तप के बाद रावण, कमकण ने अपने स्वार्थ के लिए ऐसी याचना की जो सर्वहित के विपरीत थी, अत परिणाम मगलमय नही हुआ। इसी तरह प्रतापभानु ऊपर से तो दिखाता था 'हृदय न कछु फल अनुसधाना'[2] और भीतर से चाहता था 'जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ। एकछत्र रिपु हीन महि राज कलप सत होउ।'[3] और यह याचना भी उसने कपटी मुनि से की, फलत उसका अहित ही हुआ। करीब-करीब यही स्थिति विभीषण की भी थी। शरणागति के समय उनके मन मे राज्य के प्रति कुछ लोभ था, यद्यपि वे उसे प्रकट करना नही चाहते थे। प्रभु के द्वारा लकेश के रूप मे सबोधित होने पर विभीषण को स्वीकार करना पडा, 'उर कछु प्रथम वासना रही'[4] किंतु यह गुप्त मनोकामना लेकर वे प्रभु के निकट गये थे, अत उनका मगल ही हुआ। प्रभु से की गयी याचना यदि अपने 'परमहित' के प्रति कूल ~~होगी~~ तो प्रभु उसे पूर्ण नही करेंगे किंतु 'ताते नास न होइ दास कर।' इस सदभ मे मानस मे वर्णित नारद मोह प्रसग बहुत सटीक है। अत तुलसीदास का सिद्धात है कि चेष्टा तो प्रभु से निष्काम प्रेम की ही करनी चाहिए किंतु यदि मन म कामना जगे ही तो उसकी पूर्ति के लिए प्रभु पर ही निभर रहना चाहिए और उनके निणय को स्वीकार कर लेना चाहिए। अपने भले के लिए जो सामा य लोगो की खुशामद करते रहत हैं, तुलसी ने उन्हें शू य का सहारा लेनेवाला शठ कहा है।[5] अपने लिए तुलसीदास का यही सिद्धात था, 'यथा-लाभ सतोष सदा काहू सो कछु न चहौंगो।'[6] उनकी दृष्टि मे भौतिक

१ मानस ७।६०।५
२ वही १।१५६।१
३ वही १।१६४
४ वही ५।४९।७
५ दोहावली ४६१
६ विनय पत्रिका १७२।३

ऐश्वर्य कौडी बराबर था। अपनी इसी निर्लोभिता के कारण व तेजस्वितापूर्वक कह सके, 'जाच को नरेस, देस देस को कलेस करै देहै तो प्रसन्न ह्वै बडी बडाई बौडिये।'[१] राजा-रजवाडे, सेठ साहूकार जो दे सकते थे तुलसी के लिए उसकी कुछ कीमत ही नही थी अत ऐसे स्वामी यदि मुफ्त मे भी मिलें तो भी वे उनके लिए व्यर्थ थे, 'व्योम रसातल भूमि भरे नृप कूर कुसाहिब सेंतिहुँ खारे।'[२]

तुलसीदास की मान्यता थी कि 'राग रिस' को जीत कर 'नीति पथ' पर चलना ही उचित है। कोई कितना भी तेजस्वी व्यक्ति क्यो न हो जैसे ही वह अनीति के पथ पर पाव बढाता है, उसका तेज नष्ट हो जाता है। यति का वेश बना कर सीता हरण के लिए जब रावण चला तो उसकी मन स्थिति का चित्रण करते हुए तुलसी ने लिखा

सून बीच दसकधर देखा। आवा निकट जती के बेखा॥
जा कें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाइ। इत उत चितइ चला भडिहाइ॥[3]

जब रावण जसे तेजस्वी की मनोदशा अनीति करते समय श्वानतुल्य हो जा सकती है तो औरो की तो बात ही क्या। इसलिए गोस्वामी जी ने इसके बाद टिप्पणी जडी, 'इमि कुपथ पग देत खगेसा, रह न तेज तन बुधि बल लसा।'[४]

तुलसीदास का लक्ष्य राम गुण गान था, अपना गुण गान नही। अपने बारे मे उन्होने बहुत कम कहा और जो कुछ कहा भी, उसमे अपने दैन्य पर ही अधिक जोर दिया। अत उनकी तेजस्विता की अभिव्यक्ति विरल प्रसगो मे ही हो पायी है। 'अतिसघरषन जो कर कोई, अनल प्रकट चदन त होई'[५] के सिद्धान्तानुसार जब उन्हें लगता था कि मोह या निहित स्वार्थ के कारण श्रीराम के रूप के या लोककल्याण के मार्ग के सबध मे भ्राति फैलाने की कुचेष्टा हो रही है अथवा अहकारी लोग बडबोलापन कर रहे हैं या जाति पाँति का सवाल उठाकर हठाग्रही लोग सत्य का दभ से दबाना चाह रहे हैं अथवा परद्वेषी, कपटी, दुष्ट जन समाज पर हावी हो रहे हैं तब उस निर्भीक, नि स्पृह सत का

१ कवितावली ७।२५।५-६
२ वही ७।१२।२
३ मानस ३।२८।७ ८
४ वही ३।२८।१०
५ वही ७।१११।१६

तेज जागता था। अन्याय के प्रतिविधान के लिए अपनी 'तेजोमयी वाक्' का समय प्रयोग कर 'तेजस्विनावधीतमस्तु !'[१] (हमारी अधीत विद्या तेजस्वी हो!) की आप प्रार्थना को उन्होंने चरितार्थ कर दिया। इन्हीं या इन जैसे प्रसगो पर मानस मे भी अपने पात्रो की तेजस्वी प्रतिक्रिया का चित्रण उन्होंने किया है।

तुलसीदास अपने समय की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियो पर क्षुब्ध थे। मानस के उत्तर काड मे उन्होंने कलिकाल का जो भयावह चित्रण किया है, वह पूववर्ती ग्रथो की अनुगूज मात्र नही है, उसमे उनके अपने अनुभवो का पुट भी है। जब समाज के पथप्रदशक ब्राह्मण आचार विचार भूलकर वेद तक को बेचने लगें प्रशासक-राजागण प्रजा का रक्षण करने के स्थान पर भक्षण करने लगें, तो और सारी व्यवस्था तो विश्रृखल हो ही जायेगी। तुलसीदास ने बिना किसी लाग लपेट के उन सबको फटकारा है जो समाज को खोखला बना कर व्यक्तिगत स्वाथ साध रह थे। धार्मिक क्षेत्र मे व्याप्त अनाचार दुराचार पर अपनी व्यग्य वक्रवाणी से करारा प्रहार करते हुए उन्होंने जहा यह सब लिखा कि कलियुग मे वही पडित है जो गाल बजाना जाने, वही सन्त है जो आरभ से ही झूठ और दम्भ मे रत हो, वही ज्ञानी विरागी है जो आचारहीन और वेद माग त्यागी हो, आदि आदि, वहीं यह भी लिखा कि 'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार सठ वृपली स्वामी।'[२] फलत ऐसे धम नेताओ का तुलसी पर क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था, जिनके लिए महत्ता का आधार एकमात्र जाति ही थी। उन्होंने तिलमिला कर तुलसीदास की जाति पाति को लेकर काफी शोरगुल मचाया उन पर तरह तरह के आक्षेप भी किये। तुलसीदास ने समाज व्यवस्था के रूप मे वर्णाश्रम का समथन किया था किंतु भक्ति के क्षेत्र मे वे जाति पाँति को महत्त्व नही देते थे। वैष्णव विनम्रता के साथ उन्होंने पहले तो यही कहा कि 'अपनी रुचि के अनुसार यदि कोई मुझे धूत कहे या अवधूत, राजपूत कहे या जुलाहा, तो कहा करे। मुझे किसी की जाति नहीं बिगाडनी है, किसी की बेटी से अपना बेटा नही ब्याहना है। राम का गुलाम हूँ, माँग कर खा लूगा, मस्जिद मे सो लूगा, मुझे न किसी से कुछ लेना है, न किसी को कुछ देना।'[३] इस पर भी जब लोग चुप नही

१ तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१

२ मानस ७।१००।८

३ कवितावली ७।१०६।, विनय पत्रिका ७६।१३ १६ भी दशनीय

हुए तब उन्होंने फटकार कर कह ही दिया

> मेरे जाति-पाँति, न चहौं काहू की जाति पाँति,
> मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
> लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब
> भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।
> अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग
> साह ही को गोत, गोत होत है गुलाम को।
> साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा
> का काहू के द्वार परौ जो हौ सो हौ राम को।[1]

इस पूरे छंद का तेवर देखने लायक है। खास कर इस उक्ति मे तो उनकी तेजस्विता मूर्त हो उठी है कि लोग बहुत ही अज्ञानी है, इस उपाख्यान (कहावत) तक को नही समझते कि स्वामी का गोत्र ही सेवक का गोत्र होता है, मैं अच्छा होऊँ या बुरा, जो हूँ राम का हूँ, किसी के द्वार पर तो नही पड़ा हू।

तुलसीदास निर्गुण निराकार का निषेध नही करते थे। उनका मत था कि जो प्रभु के उस रूप की साधना करना चाहे, खुशी से करें किंतु इसके लिए यह आवश्यक तो नही है कि वे सगुण साकार का विरोध भी करें, वह भी उसके तत्त्व ज्ञान को बिना समझे बूझे। जगजाहिर बात है, भक्ति साधना अपने भाव के अनुसार होती है। किसी के भाव को नष्ट करना उसका अकल्याण ही करना है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तुलसीदास के युग मे निराकार की उपासना शासन द्वारा समर्थित भी थी और स्वदेशी विदेशी धर्म प्रचारकों द्वारा आक्रामक रूप से प्रचारित भी। उस समय सगुण साकार का पक्ष-समर्थन करना वैचारिक और व्यावहारिक दोनो क्षेत्रों म साहस का काम था। तुलसीदास न निर्भीकतापूर्वक यही किया। सगुण निगुण मे तात्त्विक अंतर नही है, इसकी स्थापना के साथ ही साथ व उन उद्धत निराकारवादियों को प्रखर उत्तर देने मे प्रवृत्त हुए जो अज्ञान, अहंकार या निन्दित स्वार्थवश सगुण साकार का उग्र खंडन किया करते थे। मानस के आरंभ मे 'उमा शंभु संवाद' मे ऐसे लोगों की उन्होंने शिवजी के द्वारा कड़ी भर्त्सना करवायी है।[2] उनका दृढ़ विश्वास था कि ऐसे लोग सगुण निर्गुण विवेक स रहित और 'महामोहमद' से ग्रस्त हैं अत उनकी बात मानने योग्य नही है। ऐसे ही वितंडावादियों को डाँटते हुए

१ कवितावली ७।१०७
२ वही १६५।१-२

उन्होंने कहा होगा

> हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
> तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जपु नीच ॥[1]

तुलसी का अभिप्राय था कि केवल अहंकारपूर्वक अलख अलख चिल्लाने से कुछ हासिल नहीं हो सकता। पहले समझना चाहिए कि 'हम' कौन हैं, 'हमारा' कौन है तथा 'हम' और 'हमारे' के बीच कौन है, यह सब समझ में आने इसके लिए विनम्रतापूर्वक रामनाम जपना चाहिए। फिर अपने भाव के अनुसार निर्गुण या सगुण की उपासना करने के लिए हर व्यक्ति स्वतन्त्र है।

तुलसीदास को वे पंडितम्मन्य नहीं सुहाते थे जो मान्य ग्रंथों के मर्मार्थ की उपेक्षा कर, शब्दार्थ को लेकर ही झगडते रहते थे। क्या करना, क्या पढना उचित है, वेदों शास्त्रों के अध्ययन का फल क्या है, इन सबका विचार किये बिना और राम नाम को भूलकर जो केवल वाद विवाद के द्वारा क्लेश की ही सृष्टि किया करते हैं तुलसी के मतानुसार वे पंडित चारों वेदों, छहों दर्शनों, नवों व्याकरणों और अठारहों पुराणों के पाठ को कुपाठ की तरह व्यर्थ ही फाडते रहते हैं। तुलसी की स्पष्ट उक्ति है

> कीबे कहा, पढिबे को कहा फल ? बूझि, न बेद को भेद बिचारैं।
> स्वारथ को परमारथ को कलि-कामद राम को नाम बिसारैं ॥
> बादबिवाद बिषाद बढाइ कै छाती पराई औ आपनी जारैं।
> चारिहु को, छहु को, नव को, दस आठ को पाठ कुपाठ ज्यों फारैं ॥[2]

इसी तरह जो व्यक्ति राजहंस के बालकों को दूर ठेलकर उल्लुओं का पालन-पोषण करते हो, अच्छे पवित्र धान को एकत्र कर जला देते हो और फिर ऊसर मे दाने बटोरते फिरते हो, मूसल बनाने के लिए कल्पवृक्ष को काटते हो अर्थात् तुच्छ स्वार्थ के लिए अपनी कल्याणमयी परंपरा को त्याग देते हो और फिर कष्ट पाते हो, ऐसे आचार विचार-हीन व्यक्ति मले अपने मान के गुमान में फूले फिरें तुलसी उन्हें कुछ न देख-समझ पानेवाला धमधूसर मूर्ख मानते हैं

> राजमराल के बालक पेलिकै, पालत, लालत, खूसर को।
> सुचि सुंदर सालि सकेलि सुवारि कै, बीज बटोरत ऊसर को ॥

१ दोहावली १६

२ कवितावली ७।१०४

गुन, ज्ञान गुमान भभेरि बडी, कलपद्रुम काटत मूसर को।
कलिकाल बिचार अचार हरो नहिं सूझै कछु धमधूसर को ॥[1]

ऐसे लोगो की न तुलसी के समय कमी थी, न अब कमी है, जो बडो की पगडी उछाल कर ही बड बन जाना चाहते हैं। अपने हीन आचरणो की ओर देखे बिना श्रेष्ठजनो की निंदा करना ही जिनका एकमात्र करतव है, उन पर व्यग्य करते हुए अपने एक चुटीले कवित्त के अत मे तुलसी ने लिखा है कि कलि के कलुष ने उनके मन को इतना मलिन कर दिया है कि हाथ मे मच्छर की पसली मात्र होने पर वे समुद्र पाटने का दावा करते रहते हैं, 'कलि को कलुष मन मलिन किये महत, मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियत है।'[2]

पाखड के द्वारा अपना बडप्पन साबित करने की कुचेष्टा करने वालों को दी गयी फटकार के पीछे तुलसीदास की यह मान्यता थी कि सामाजिक श्रद्धा का आधार 'आचरण' होना चाहिए वेष नही। यदि कोई सिंह का स्वाग बना कर कुत्ते की करतूत करे और फिर भी कीर्ति, विजय, विभूति पाना चाहे तो तुलसीदास मौन नही रह सकते। उस समय मौन रहना, उसके षडयत्र मे शामिल होने के समान है। तुलसीदास ने ऐसे लोगो को खुले शब्दो में धिक्कारा है

सारदूल को स्वाग करि, कूकर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति बिजय बिभूति ॥[3]

इसी तरह दूसरो की कीर्ति को मिटा कर जो स्वय कीर्तिमान बनना चाहते हैं तुलसी के अनुसार उनके मुह पर ऐसी कालिख लगेगी कि वे धोते धोते मर जायेंगे भी तो वह नही मिटेगी,

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोइ।
तिनके मुह मसि लागि है मिटिहि न मरिहैं धोइ ॥[4]

ऐसे बहुतेरे तेजस्वी मिल जायेंगे जो सामान्य जनो की गलतियो की भर्त्सना तो उग्र स्वर मे करते हैं किंतु शक्तिशालियो के कुकृत्यो को देख कर भी स्वार्थ या भय के कारण अनदेखा कर देते हैं। तुलसीदास ऐसों में नही थे।

उन्होने अन्यायी राजाओ तक के विरोध मे अपनी निर्भय वाणी का प्रयोग

१ कवितावली ७।१०३
२ वही ७।८६।७ ८
३ दोहावली ४१२
४ वही ३८६

करते हुए कहा है कि जो राज्य करते हुए अकारण ही कुचाल चलते हैं, दुराचार करते हैं, वे दुष्ट राजा रावण और दुर्योधन की तरह नष्ट हो जायेंगे

राज करत बिनु काज ही, करैं कुचालि समाज।
तुलसी ते दसकध ज्यो जइहै सहित समाज।
राज करत बिनु काज ही ठटहि जे कूर कुठाट
तुलसी ते कुरुराज ज्यो जइहैं बारह बाट।[1]

ऐसा भी नही है कि तुलसीदास को अपनी इस तेजस्विता का मूल्य न चुकाना पडा हो। दुष्टो ने उन्हे भरपूर डराया, धमकाया, उत्पीडित भी किया किंतु तुलसी अडिग रहे। शठो ने जब 'तुलसी' को कुचल कर 'सेंहुड' लगाना चाहा था[2] तब भी प्रभु के भरोसे वे अतर के सत्य को वाणी देते रहे। अपने बल के स्रोत पर उन्हे प्रगाढ विश्वास था, तभी वे कह सके थे

तुलसी रघुबर सेवकहि, खल डाटत मन माखि
बाजराज के बालकहि लवा दिखावत आखि।[3]

अर्थात ये दुष्ट मन में रोष कर श्रीराम के सेवको को डाँटते हैं। ये नही जानते कि स्वय लवा (तुच्छ पक्षी) होते हुए ये सवसमर्थ बाजराज (प्रभु) के बालको को आख दिखा रहे हैं। इसी प्रभु निर्भरता के कारण उनकी तेजस्विता कभी अहकार के रूप मे विकृत नही हो पायी। अपनी सपूर्ण उपलब्धियो के बीच भी उन्हे यह सदा स्मरण रहा कि 'छार ते सँवारि कै पहार हूँ ते भारी कियो, गारो भयो पच मे पुनीत पच्छ पाइ कै[4]—अर्थात प्रभु ने ही कृपा कर मुझे धूल से सवार कर पहाड से भी अधिक भारी बना दिया, उन्ही के पवित्र समर्थन के कारण पचो मे मेरा गौरव हुआ। इस बोध के कारण उनकी तेजस्विता सयत भी रही और लोकमगल विधायिनी भी।

तुलसीदास ने श्रीराम तक पहुचने के लिए हनुमान जी को अपने अवलम्ब (उपाय) के रूप म ग्रहण किया था।[5] स्वभावत तुलसीदास की तेजस्विता पर 'हनुमत वृत्ति' की गहरी छाप है। सीता जी के सदेह निवारणार्थ 'कनक भूधराकार सरीरा, समर भयकर अति बलबीरा' रूप प्रकट करने के बाद

१ दोहावली ४१६, ४१७
२ तुलसी दलि रूध्यो चहैं, सठ साखि सिहोरे।।—विनय पत्रिका ८।८
३ दोहावली १४४
४ कवितावली ७।६१।१-२
५ साहेब कहूँ न राम से, तो से न उसीले।—विनय पत्रिका ३२।२

हनुमान जी ने सहज विनय के साथ कहा था, 'हे माता, मैं साधारण वानर हूँ, मुझमें विशाल बल-बुद्धि नहीं है, किंतु प्रभु के प्रताप से अत्यंत तुच्छ सर्प भी गरुड को खा सकता है।

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप से गरुडहि खाई परम लघु ब्याल।[1]

सीताजी के मन को संतोष देने वाली हनुमानजी की इस वाणी को तुलसी ने 'भगति, प्रताप, तेज, बल सानी' कहा है। कोटि कोटि भक्तों को संतोष देने वाली तुलसी की वाणी के लिए भी यही सत्य है। सुनयना जी को समझाते हुए चतुर सखी ने कहा था, 'तेजवंत लघु गनिअ न रानी।'[2] भले ही अबुल फजल ने लघु समझ कर 'आइने अकबरी' में तुलसी का उल्लेख न किया हो, इतिहास ने प्रमाणित कर दिया है कि वे लघु नहीं थे, सच्चे तेजवंत थे, सूर्य की तरह उनके तेजस्वी कर्तृत्व के लिए कहा जा सकता है, 'उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।'[3]

१ मानस ५।१६
२ वही १।२५६।६
३ वही १।२५६।८

तुलसीदास का स्वान्त सुख

श्री रामचरितमानस की रचना के प्रयोजन का निर्देश करते हुए तुलसीदास ने लिखा है,

'स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ।'[1]

अर्थात अपने अन्त सुख के लिए तुलसीदास श्री रघुनाथ की कथा का भाषा मे अतिसुन्दर विस्तृत निबन्धन करने जा रहा है। इसमें आये हुए वाक् प्रयोग स्वान्त सुखाय का उपयोग आधुनिक काल के स्वच्छन्दतावादी कवियो द्वारा समाज से निरपेक्ष रहकर अपनी वैयक्तिक तृप्ति के लिये लिखी गई कविताओ के समर्थन मे किया जाता रहा है। यह फिकरा इन कवियो द्वारा इतना अधिक व्यवहृत किया गया कि काव्य के प्रयोजन का निर्णय करने वाले वैचारिक ग्रन्थो मे भी इसकी चर्चा की जाने लगी। प० रामदहिन मिश्र ने 'काव्य दर्पण' नामक अपने सम्मान्य शास्त्रीय ग्रन्थ मे काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए लिखा— 'डी० एच० लारेंस की भी एसी ही एक उक्ति है, 'कला केवल मेरे लिये है' (art for my sake)। तुलसीदास के शब्दो मे 'स्वान्त सुखाय' इसे कह सकते हैं।[2] श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने आधुनिक कवियो द्वारा अपनी रुचि की तृप्ति के लिये कविता लिखने की प्रणाली का पुरानी परम्परा से समर्थन करते हुए लिखा था, 'तब भी ऐसे कवि हुए हैं, जो यह मानते थे कि कविता चाहे सोद्देश्य ही हो किन्तु रचना उसकी स्वान्त सुखाय ही की जाती है। ऐसे कवि गोस्वामी तुलसीदास थे जिनके यहाँ विचारो का बहिष्कार नही है। यद्यपि गान वे अपने ही अन्त सुख के लिये करते है।'[3] श्री सुमित्रानन्दन पत ने तो कला का प्रयोजन शीर्षक अपने निबन्ध का उपशीर्षक ही दिया, 'स्वान्त सुखाय या बहुजन

१ मानस १।म० श्लोक ७।३ ४
२ काव्य दर्पण भूमिका, पृष्ठ ३०
३ शुद्ध कविता की खोज, पृष्ठ ६

हिताय'।[1] तुलसी द्वारा प्रयुक्त 'स्वान्त सुखाय' को 'कला केवल मेरे लिये है' के साथ युक्त करना या 'बहुजन हिताय' क मुकाबले मे उसे रखना तुलसीदास के मन्तव्य को विकृत करना है। प० रामदहिन मिश्र और पत जी तुलसीदास की कविता म निहित सामाजिक मगल की दृष्टि को स्वीकार करते हुए भी यदि स्वात सुखाय का उल्लेख समाज निरपक्ष वैयक्तिक काव्य रचना प्रवृत्ति के द्योतन के लिए करते है तो वे लोग व्यक्तिवादी कवियो द्वारा अनक पक्ष म स्वात सुखाय के व्यापक प्रयोग के दबाव के कारण ही ऐसा करते हैं। दिनकर जी काव्य की सोद्देश्यता को स्वीकार करने के बावजूद अपने ही अन्त सुख के लिए का य रचना का समथन करते हुए से ज्ञात होते हैं। प्रश्न यह है कि आज क कवियो के अ त सुख को क्या तुलसीदास के अ त सुख के साथ जोडा जा सकता है। आज क कवियो के स्वात की व्याख्या करते हुए श्री सुमित्रानन्दन पत ने लिखा है, 'स्वान्त का अथ है मन।' 'स्वात मानस मन' जैसा कि अमरकोष कहता है। अतएव स्वान्त से हमारा अभिप्राय है उन विचारो, भावो, धारणाओ तथा आस्थाओ स, जिनसे हमारा अ तजगत अथवा हमारी भीतरी परिस्थितियो का ससार अथवा हमारा अ तव्यक्तित्व बना हुआ है।[2]

पन्त जी के इस निरूपण म मूल असगति तो यह है कि अमरकोष मे मन का पर्याय 'स्वात बताया गया है, स्वान्त नही। अमरकोष की पक्ति है, 'चित्त तु चेतो हृदय स्वात हृ मानस मन।'[3] अत स्वा त का अथ अमरकोष के आधार पर मन नही किया जा सकता। मेरी सम्मति मे 'स्वान्त सुखाय' का अथ है—अपने अ त सुख के लिए। फिर भी यह ठीक है कि कुछ मा य टीका कारो ने अपने अ त करण के सुख क लिए यह अथ भी किया है।[4] यदि अन्त-करण के अ तगत प त जी की व्याख्या को समाहित किया जाये तो भी तुलसी-दास के अ त करण और आज के सामा य व्यक्तिवादी कवि के अ त करण का अ तर ध्यान मे रखना होगा। तुलसीदास काव्य की उत्कृष्टता का मानदण्ड निरूपित करत हुए कहते हैं—कि कीर्ति और ऐश्वय के सदृश ही वही कविता श्रेष्ठ है जो गगा के समान सबका मगल करने वाली होती है। 'कीरति, भनिति,

१ शिल्प और दशन, पृष्ठ १६०
२ वही पृष्ठ १६१-६२
३ अमरकोष १।४।३१
४ देखिए प० विजयान द जी त्रिपाठी की मानस पर विजय टीका एव गीता प्रेस की टीका

भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।'[1] इसी सन्दर्भ में उन्होंने यह भी कहा है कि विद्वज्जन यदि किसी काव्य का समादर नहीं करते हैं तो इसकी रचना करने वाले कवियों का श्रम व्यर्थ ही है।[2] इसी तरह उनका यह भी कथन है कि विद्वानों का मत है कि कविता भले कवि के हृदय से उपजती हो किन्तु उसकी शोभा तो अन्यत्र ही अर्थात् काव्य रसिकों के मध्य ही होती है। 'तसेहिं सुकबि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं।'[3] अपनी रामकथा को 'मंगल करनि कलिमल हरनि'[4] घोषित करने वाले तुलसीदास की उक्ति से समाज निरपेक्ष व्यक्तिवादी काव्य रचना का समर्थन करना अनर्थ करना है। अपने अन्तःकरण के सुख के लिये तुलसीदास ने मानस रचा, अगर यह अर्थ लिया जाए तो भी यह स्मरण रखना चाहिए कि तुलसी सन्त थे और सन्त के हृदय का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है,

'सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता॥'[5]

जिस आधुनिक कवि का हृदय अपने परिताप से नहीं, दूसरों के परिताप से द्रवित होता हो, अपने सुख से नहीं, दूसरों के सुख से सुखी होता है। वही तुलसी द्वारा निर्दिष्ट स्वान्त सुखाय का उपयोग अपनी काव्य रचना के लिये करने का अधिकारी माना जा सकता है।

वस्तुतः तुलसी के स्वान्त सुख का अर्थ अत्यन्त गम्भीर है। यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने काव्य के आरम्भ में 'स्वान्त सुखाय' कहने वाला कवि काव्य का समापन करते हुए 'स्वान्तस्तम शान्तये'[6] भी कहता है। इसका अभिप्राय यही है कि तुलसी के अनुसार अन्तः के तम के दूरीकरण से ही अन्तः सुख की प्राप्ति सम्भव है। अतः तुलसी के स्वान्त सुख का ठीक ठीक अर्थ समझने के लिये हमें तुलसी की दृष्टि में सुख, 'अन्तस्तम' और 'अन्त सुख' का अभिप्राय क्या था, इसे समझना होगा।

तुलसी यह मानते हैं कि सभी जीवों को सुखमय जीवन प्रिय है। तभी

१ मानस १।१४ का।६
२ वही १।१४ का।८
३ वही १।११।३
४ वही १।१०का।छंद १
५ वही ७।१२५का।७-८
६ वही ७।१३०ख।छंद ३

उन्होने कहा है, 'सुख जीवन सब कोउ चहत,'[1] तथा 'राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को। सुख जीवन ज्यो जीव को मनि ज्या फनि को, हित ज्यो धन लोभलीन को।'[2] किन्तु वे यह भी मानते हैं कि सामान्य जीव जिसे सुख मानकर पाने के लिये लालायित रहते हैं वह सुख न होकर घोर दुःख का हेतु होता है। साधारण व्यक्तियो की मान्यता है कि जो हम अच्छा लगता है, जो हम इच्छित है, वही सुख है और इसके प्रतिकूल जो कुछ भी है, दुख है।

महाभारत मे इसीलिए कहा गया 'यदिष्ट तत्सुख प्राहु द्वेष्य दुःख मिहेष्यते'[3] इसी से मिलती जुलती बात 'न्याय सूत्र' मे कही गई है, 'अनुकूल वेदनीयंसुखम् प्रतिकूल वेदनीय दुखम'[4] अधिकतर लोगो के लिये लौकिक प्रीतिकर वस्तुओ, व्यक्तियो के सयोग से उपलब्ध होने वाला सुख ही इष्ट सुख या अनुकूल वेदनीय सुख है। तुलसी ऐसे सुखो को विषय सुख की सज्ञा देकर इन्हे परम दुखद घोषित करते हैं। उन्होने कहा है कि जीव जिस योनि मे जहाँ भी (पृथ्वी, पाताल, आकाश मे) जन्म ग्रहण करता है वहाँ वह विषय सुख की कामना करता है किन्तु नियत मात्रा मे ही उसे प्राप्त कर पाता है। तुलसी के अनुसार विषय सुख को प्राप्त कर अपने को सुखी मानना मोहग्रस्त होकर फटे हुए आकाश को सीने के समान ही अर्थहीन है।[5] इसीलिए उन्होंने साफ साफ कह दिया है,'जदपि विषय सग सहे दुसह दुख विषय जाल अरुझायो, तदपि न तजत मूढ ममताबस जानत हू नहिं जायो।'[6] इसका अर्थ यह है कि तुलसीदास शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध आदि विषयो के श्रोत्र, त्वक् नेत्र, रसना, नासिका आदि ज्ञानेन्द्रियो से होने वाले सयोग के द्वारा मिले हुए सुख को दुःख ही मानते हैं। यहाँ वे स्पष्टत पातजल योगदर्शन एव गीता का अनुसरण कर रहे हैं। पातजल योगदर्शन मे कहा गया है, 'परिणामतापसस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्व विवेकिन ॥'[7] अर्थात भोगकाल मे स्थूल दृष्टि से

१ दोहावली १७०
२ विनय पत्रिका २६८।१ २
३ महाभारत शाति पर्व २६५।२७
४ लोकमान्य तिलक कृत गीता रहस्य, पृ० ८६ (१९७३ का सस्करण) पर उद्धृत
५ विनय पत्रिका १३२
६ वही ८२।३-४
७ पातजल योगदर्शन २।१५

सुखप्रद प्रतीत होने वाले विषय सुख भी परिणाम, ताप, सस्कार और तीनो गुणो की वृतियो मे परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुषो के लिये दु ख रूप ही हैं। इसी तरह गीता मे विषय और इद्रिय के सयोग से अमृतोपम प्रतीत होने वाले राजस सुखो को परिणाम मे विष तुल्य बताया गया है।[1] गीता मे वर्णित तामस और राजस सुखो को ही नही अभ्यासजन्य सात्विक सुखो को भी तुलसीदास मायाजन्य मानकर मृगजल के समान असत्य ही मानते है। इसीलिए उन्होने ऐसे सुखो से सुखी होने वाले जीवो की भर्त्सना करते हुए कहा है, 'मृग-भ्रम बारि सत्य जिय जानी तहँ तू मगन भयो सुख मानी।'[2] भेद-बुद्धि के कारण मनुष्य सुख पाने की सहज क्रिया को छोडकर बिपरीत क्रिया करते हैं और दु ख को ही सुख समझकर सुखी होने की भ्राति से ग्रस्त रहते हैं।[3] उनका निष्कर्ष है कि 'तुलसिदास मैं मोर गए बिनु जिय सुख कबहुँ न पावैं'[4] माया जन्य बाह्य क्षणिक और दु खरूप सुखो के स्थान पर बुद्धि, मन, चित्त, अहकार का परित्याग कर वे बिमल विचार के द्वारा उपलब्ध परम पद के निज सहज उदार सुख को प्राप्त करना चाहते है।

> 'चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन, चित्त अहकार।
> बिमल विचार परमपद निज सुख सहज उदार॥'[5]

जो विद्वान अ त सुख का अर्थ अन्त करण का सुख करते है, उन्हे इस तथ्य पर विचार करना चाहिए कि तुलसीदास मन, बुद्धि, चित्त, अहकार अर्थात् अन्त करण का परित्याग कर निज सुख—स्वान्त सुख चाहते है।

तुलसी के अनुसार यह सहज सुख राम की भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है। उन्होने डके की चोट पर कहा है,

> 'गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।'[6]

यह सत्य हृदयगम हो जाने पर कि यथा सच्चा सुख भक्ति से, राम का होकर जीने से प्राप्त हो सकता है, तुलसी अपने मन को तदनुकूल होने की शिक्षा देते हैं,

१ श्रीमदभगवद्गीता १८।३८
२ विनय पत्रिका १३६।७।२
३ मानस ६।१११।१८
४ विनय पत्रिका १२०।१०
५ वही २०३।६-१०
६ मानस ७।८९ क

'उपजी उर प्रतीति, सपनेहुँ सुख प्रभुपद बिमुख न पैहौ।
मन समेत या तन के बासिन इहै सिखावन दैहौ॥'[1]

समस्त इन्द्रियों के साथ मन को श्रीरामो मुख करने का यह सकल्प और प्रयास साधन भक्ति के अ तर्गत आता है। आचार्यों ने श्रीमद्भागवत के कथन 'भक्त्या सजातया भक्त्या'[२] के आधार पर भक्ति को साधन रूपा भक्ति और साध्य या फलरूपा भक्ति इन दो रूपो मे विभक्त किया है। भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति यदि करण से की जाए तो उससे साधन भक्ति का सकेत प्राप्त होता है। 'भज्यते = सेव्यते, भगवदाकारम त करण क्रियतेऽनया[३] अर्थात जिसके द्वारा अ त करण को भगवदाकार किया जाता है, उसे साधन भक्ति कहते हैं। साधन भक्ति करते समय भी सुख का अनुभव होने लगता है किन्तु साधक के ऊपर बीच बीच मे काम, क्रोध, लोभ आदि का आक्रमण भी होता रहता है और उससे त्रुटियाँ भी होती रहती हैं। तुलसी के अनुसार इस स्थिति मे राम नाम जप का अवलम्बन ग्रहण करने पर सुख और पुण्य की वद्धि होती है तथा पाप और अमगल का ह्रास होता है।

रुचिर रसना तू राम राम क्यो न रटत।
सुमिरत सुख सुकृत बढत, अघ अमगल घटत॥[४]

नामजप मुख्यत वाणी का साधन है। तुलसीदास न इसे और आग बढाकर अपनी समस्त वाणी को भाषा को, भाषिक रचना को राम को समर्पित करने की प्रेरणा दी है। उन्होने कहा है अपने अक्षरो, शब्दो और अर्थों को रामप्रेम की चाशनी मे पगाकर उनसे सु दर कोमल मोदक बना कर यदि तू श्रीरा को अर्पित करेगा, उनके गुण गाकर उन्हें रिझाएगा तो उनसे मुह मागा वरदान पा सकेगा। तभी तेरे हृदय की बडी भारी जलन दूर होगी तू सुख की शैय्या पर सो सकेगा और श्रीराम की कृपा से तेरे हृदय म भक्ति योग का उदय होगा।[५] वाणी के साथ ही वे निश्छल रूप से कर्म और मन को भी प्रभु को समर्पित कर उनका भक्त बनने का सकल्प करते हैं। क्योकि उसके बिना करोडो उपाय करने पर भी स्वप्न मे भी सुख पाना सभव नही है।

१ विनय पत्रिका १०४।३-४
२ श्रीमद्भागवत ११।३।३१
३ श्रीमदभगवद्भक्ति रसायन (अनु० श्री जनादन पाण्डेय), पृष्ठ १८
४ विनय पत्रिका १२६।१-२
५ वही २२४।५ ८

'करम बचन मन छाडि छलु जब लगि जनु न तुम्हार ।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नही किए कोटि उपचार ।।'[1]

यही साधन भक्ति प्रभु कृपा से क्रमश साध्य या फलरूपा भक्ति मे रूपा-तरित हो जाती है । भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति भाव से करने पर फलरूपा भक्ति का सकेत प्राप्त होता है, 'भजनमन्त करणस्य भगवदाकारतारूप भक्तिरिति'[2] अर्थात अन्त करण का भगवदाकार हो जाना ही फलरूपा भक्ति है । यह भी ध्यातव्य है कि अन्त करण के पूर्णत भगवदाकार हो जाने पर उसमे दु ख का सभव नही होता इसीलिए भक्त मानते हैं कि फलरूपा भक्ति द्वारा दु ख से अनछुए सुख की प्राप्ति होती है जो वस्तुत परम पुरुषार्थ ही है । अतएव श्री मधुसूदन सरस्वती ने फलरूपा भक्ति को 'निरुपमसुखसविद्रूपमस्पृष्टदु ख'[3] अर्थात निरुपम सुख की दु ख से अछूती सवित या चेतना कहा है । यह निरुपम सुखानुभूति किसी बाह्य विषय पर निर्भर नही करती है । तुलसीदास जब अत सुख की बात कहते हैं तब वे बाह्यस्पर्श से प्राप्त होने वाले अत करण के साधारण सुखो का सकेत नही करते हैं । वे गीता के अनुसार यह बताना चाहते हैं कि बाह्य विषयो के स्पर्श से प्राप्त होने वाले सुखो मे जिसका अन्त करण आसक्त नही है, उसे वह सुख प्राप्त होता है जो अपने भीतर है और ऐसा ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ही अक्षय सुख प्राप्त करता है —

'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।'[4]

वस्तुत तुलसी ने अन्त सुख शब्द भी गीता से लिया है । इसी प्रसग मे गीता मे कहा गया है—

'योऽन्त सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।'[5]

जो पुरुष अन्त सुख वाला है अर्थात जिसे अन्तरात्मा मे ही सुख प्राप्त होता है, जो अन्तरात्मा मे ही रमण करता है जिसकी ज्योति उसकी अन्तरात्मा ही है वह योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्म मे ही निर्वाण प्राप्त करता है । इसका अर्थ यही है

१ मानस २।१०७
२ श्रीमद्भगवद्भक्ति रसायन, पृ० १८
३ वही १।१
४ श्रीमद्भगवद्गीता ५।२१
५ वही ५।२४

कि गीता के अनुसार बाहर की वस्तुओ के प्रति अनासक्त हो जाने पर ही अपने भीतर का सुख प्राप्त हो सकता है । यह आन्तरिक सुख ही सच्चा सुख है और इसकी प्राप्ति मे सबसे बडी बाधा बाह्यवस्तुओ या व्यक्तियो का आकर्षण है । यह आकर्षण भ्रम अज्ञान या मोह के कारण ही होता है । इस ही गीता और रामचरितमानस दोनो म अ धकार या तमरूप कहा गया है । गीता का कथन है कि 'अज्ञानेनावत ज्ञान तन मुह्यन्ति जन्तव'[1] अर्थात जीवो का विवेक अज्ञान से ढँका रहता है । इसी के अगले श्लोक मे गीता कहती है कि 'ज्ञान सूय के समान है' जिसके प्रकाश से अज्ञान क तम से ढकी हुई वस्तुएँ प्रकाशित हो उठती हैं । तुलसीदास इसी परम्परा के अनुसार मानस की रचना का प्रयोजन बतात है 'निज सदेह मोह भ्रम हरनी । करऊँ कथा भव सरिता तरनी'[2] यह सदेह, मोह भ्रम ही जीव का अन्तस्तम है । इसीलिए तुलसीदास ने 'महामोह तम पुज' 'दलन मोहतम सो सप्रकासू'[3] जैसी उक्तिया बार बार कही हैं । तुलसी दास ने मोहान्धकार के दूरीकरण को भी मानस रचना का एक विशेष प्रयोजन घोषित किया है । 'विनय पत्रिका' म भी उन्होने कहा है कि 'जब तक मन मे विषय सुखो को पाने की आशा का अन्धकार है, जब तक हृदय मे भगवत प्रबोध का प्रकाश नही हो जाता तब तक जीव को स्वप्न मे भी वास्तविक सुख नहीं मिल सकता ।'

'जब लगि नहि निज हृदि प्रकाश, अरु विषय आस मन माही ।
तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाही ।।'[4]

मानस की रचना का प्रयोजन सदेह मोह, भ्रम रूपी स्वान्तस्तम की शान्ति के साथ साथ अपने हृदय म 'प्रबोध' का प्रकाश करना भी है इसे भी तुलसीदास ने स्पष्टत कहा है,

'भाषाबद्ध करबि मैं सोई । मोरे मन प्रबोध जेंहि होई ।।'[5]

विधायक और निषेधक दोनो प्रयोजनो को मिलाकर ही प्रयोजन की पूर्णता होती है । इस दृष्टि से मोह भ्रम रूपी अधकार का निवारण और प्रबोध के द्वारा स्वान्त सुख की प्राप्ति तुलसी का लक्ष्य है । यह प्रबोध या ज्ञान इसी

१ श्रीमदभगवदगीता ५।१५
२ मानस १।३१।८
३ वही १।१।६
४ विनय पत्रिका १२३।८ १०
५ मानस १।३१।२

तत्त्व का है कि हमारे इष्टदेव श्रीराम हमारी अन्तरात्मा ही हैं। 'स्कन्द पुराण' मे कहा गया है,

'रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते।'[1]

अर्थात् जो चर अचर समस्त भूतो मे अन्तरात्मा के रूप मे रमण करता है, वही राम है। तुलसी के अनुसार यह राम सुखधाम है।[2] सुख पुज है[3] आनन्द सिंधु सुख राखि है[4] बाहर से मिलने वाला सुख तो पराधीन है इसीलिए नश्वर है, दु खरूप है। श्रीराम रूपी अन्तरात्मा से सततयुक्त रहकर अनुभव किया जाने वाला सुख आत्मवश सुख है और इसीलिए सच्चा एव स्थायी है। मनुस्मृति का कथन 'सर्वं परवश दु खं सर्वमात्मवश सुखम्'[5] अपने चरम रूप मे इसी सच्चे सुख का द्योतक है। स्वामी अखडानन्द जी सरस्वती ने गीता के अन्त सुख को समझाते हुए कहा है, अन्त का अर्थ है आत्मा, प्रत्यगात्मा, अन्तरात्मा। अपना आत्मा ही सुख है, अपना आत्मा ही आराम है, अपना आत्मा ही प्रकाश है।[6] तुलसी जैसे रामभक्तो को अपना अन्तरात्मा ही श्रीराम के रूप मे अनुभूत होता रहता है। इसीलिए तुलसी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि परमहितैषी राम हमसे दूर नही हैं, भलीभाँति देख, वह हमारे हृदय मे ही है, 'दूरि नसो हितू हेरि हिए ही है'[7] उसी राम से अन्त करण का निरतर सस्पर्श ही तुलसी का स्वान्त सुख है, यही फलरूपा भक्ति है जो स्वतन्त्र होने के कारण समस्त सुखो की खान है। तुलसी के शब्दो मे 'भक्ति सुतत्र सकल सुख खानी' है।[8] जीव की विडम्बना यह है कि आनन्द के सिन्धु मे निवास करते हुए भी अज्ञान के कारण वह 'विषय सुख' के मृग जल का पान करने का प्रयास करते हुए प्यासा ही मर जाता है।[9] इस अज्ञान की निवृत्ति के साथ ही यह

१ स्कन्द पुराण ब्रह्मखड चातुर्मास महात्म २४।४६
२ मानस १।१९७।६
३ वही १।१८६।१५
४ वही १।१९७।५
५ मनुस्मृति ४।१६०
६ गीता दर्शन (भाग २) पृष्ठ १८६
७ विनय पत्रिका १३५।३।१
८ मानस ७।४५।५
९ विनय पत्रिका १३६।छ० स० २

प्रबोध होता है कि अन्तरात्मास्वरूप श्रीराम से मिलने वाला सुख ही सच्चा सुख है। वही सारी सृष्टि को मेरे लिए सुखमय बना सकता है। ऐसा अन्त सुख प्राप्त करने वाले भक्त को फिर किसी भी प्रकार का दुख स्पश ही नहीं कर पाता। वह अपने भीतर से सुख निकाल निकाल कर दुख सतप्त जगत के प्राणियों को बाँटता रहता है और उनको भी सुखमय बनाता रहता है। तुलसीदास इसी स्वान्त सुख की, दिव्य फलरूपा अविरल भक्ति की प्राप्ति के लिए रामचरित मानस की रचना कर गये है। उन्हे ऐसा सुख मिला था, इसका सकेत वे 'पायो परम विश्राम'[1] कहकर दे गए हैं। उन्होने पूण विश्वास के साथ यह भी घोषित किया है कि जो इस कथा को स्नेह पूवक समझकर, सचेत होकर कहेंगे या सुनेंगे, पढ़ेंगे, वे भी 'कलिमल रूपी अज्ञान' से रहित होकर मगलमय हो जाएँगे और श्रीराम के चरणो की भक्ति प्राप्त कर अत सुख के अधिकारी हो जाएँगे,

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहि सुनहहि समुझि सचेता।
होइहहि राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमगल भागी॥[2]

१ मानस ७।१३०।छ० ३।४
२ वही १।१२।१०-११

तुलसीदास की दृष्टि मे विप्र और सन्त

तुलसीदास की दृष्टि मे विप्र और सन्त का सापेक्ष महत्त्व क्या और क्यो था इन प्रश्नो पर समग्र दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। कतिपय आधुनिक आलोचको ने तुलसीदास पर आरोप लगाया है कि वे ब्राह्मणशाही, जातिपाँति, छुआछूत आदि के प्रबल समर्थक हैं अत प्रतिक्रियावादी और प्रगतिविरोधी हैं। काश, वे तुलसीदास की समकालीन परिस्थितियो का सम्यक विश्लेषण एव तुलसी की मानसिकता का निष्पक्ष विचार कर पाते। उस स्थिति मे वे भी तुलसीदास की उदार उत्तरदायित्वपूर्ण भूमिका को स्पष्टत समझ सकते।

यह स्मरण रखना चाहिए कि तुलसी के समय भारतीय परम्परा और समाज पर वैचारिक एव व्यावहारिक दोनो स्तरो पर प्रचड आक्रमण हो रहे थे। आक्रान्ताधर्म क रूप मे इस्लाम राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग कर भारतीय धर्मों को उच्छिन्न करने की सामथ्य भर चेष्टा कर रहा था। इस ऐतिहासिक तथ्य को प्राय लोगो ने भुला ही दिया है कि भारतभूमि से बौद्ध धर्म का लोप शकराचाय या कुमारिल भट्ट के शास्त्रार्थों द्वारा नही, क्रूर और धर्मान्ध इस्लामी आक्रमण के कारण हुआ है। बौद्ध समाज के नेता चीवरधारी भिक्षु जिन मठो, सघारामो म सघबद्ध रूप से निवास करते थे, वे राजा रजवाडो, या सेठ साहूकारा के दान पर निभर थे। आक्रमणकारी तुर्कों ने न केवल भारतीय राजाओ को निश्चिह्न किया, न कवल नालन्दा, विक्रमशिला जैसे बौद्ध विश्वविद्यालयो एव अनेकानेक मठा, सघारामा को ध्वस्त किया बल्कि उनम रहनेवाले भिक्षुओ की बडी सख्या मे वध भी किया। निराश्रित बचे खुचे भिक्षु नेपाल, ब्रह्मदेश या सिंहल की ओर भाग निकले। बौद्ध समाज के नेता ये चीवरधारी भिक्षु ही थे। उनके नेतृत्व के अभाव म बौद्ध धम भारत से करीब करीब लुप्त ही हो गया। कुछ बौद्ध जातियो ने इस्लाम स्वीकार कर लिया और कुछ बौद्ध जातिया हिन्दू समाज मे समाहित हो गइ।

हिन्दू धम और समाज का नेतृत्व मुख्यत ब्राह्मणो के द्वारा और गौणत सन्तो सन्यासिया क द्वारा किया जा रहा था। ब्राह्मण गृहस्थ होते थे और

अपने घरो मे अलग अलग रहते थे, मठा एव सघारामो मे सघबद्ध रूप से नही। फलत उनका पूण रूप से उच्छेद करना सभव नही था। ब्राह्मणा की जीविका उनके प्रति जनसाधारण की श्रद्धा के कारण ही चलती थी। अध्ययन, अध्यापन ज्योतिष, कर्मकाण्ड, वैद्यक आदि के माध्यम से ब्राह्मण हिन्दू समाज के सभी स्तरो की सेवा करते रहत थे। यह ठीक है कि हिन्दू समाज विधान मे जन्मना जाति व्यवस्था के कारण कई क्रूर विकृतियाँ आ गई थी और यह भी कि इन विकृतियो के लिये मुख्यत ब्राह्मण ही जिम्मेदार थे। इसीलिए कबीर जसे सहृदय विचारको ने 'पण्डित बाद बदते झूठा'[1] जैसी उक्तिया द्वारा अपना आतरिक क्षोभ प्रकट किया था। कि तु हि दू धम पर आक्रमण करने वाले सभी लोगो के मन म सहृदयता ही नही थी। कट्टर मुल्ला मौलवी तो राजशक्ति के सहारे उसे नेस्तनाबूद करने का सपना देखते थे। इस विषम जीवनमरण के सग्राम के समय तुलसीदास को अपने कतव्य का निणय करना था। वे देख रह थे कि भारतीय समाज हताश और पराभूत ह। उन्ह लगा होगा कि उनका ऐतिहासिक कतव्य है, परम्परा के जीवन उत्स से जुडकर अपने और अपने समाज के लिए जीवनी शक्ति सचय करना, खोया हुआ आत्मविश्वास पाना, शुष्क, क्रूर हुए बिना तपोमय जीवन जीकर भारतीय समाज को रामराज्य स्थापित करने के महान स्वप्न को सत्य बनाने की प्रेरणा दे जाना। वे परकीय राजसत्ता से विमुख रहकर भक्ति साधना के आधार पर लोक चेतना को जगाने का काम कर रहे थे। उन्हें लगा होगा कि राजसत्ता की उपेक्षा ही नही उसका क्रूर कोप सहकर भी जा ब्राह्मण वग वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण तत्र, सस्कृत साहित्य आदि भारतीय सस्कृति के आधारभूत विचारो एव भावो के कोशो की रक्षा करने मे अपने जीवन का उत्सग कर रहा है, उसकी कुछ त्रुटियो के बावजूद उसके प्रति सामाजिक श्रद्धा बनाये रखना सामयिक ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक है। इसी के साथ साथ उन्हें यह भी अखरा होगा कि जन्मना जाति व्यवस्था की हृदयहीनता के कारण बहुत से सच्चरित्र, सम्मान्य, महामानव केवल अब्राह्मण होने के कारण उपेक्षित हो रहे हैं। तुलसीदास को न तो वैदुष्य परम्परा के धारक ब्राह्मणवण का दम्भपूर्ण या दुरभिसधिपूण अपमान ही उचित प्रतीत होता था, न जन्मना जाति पाँति के नागपाश से जकडे शूद्रवण की शोचनीय स्थिति ही स्वीकार्य थी। जिस प्रकार व ब्राह्मणत्व के प्रति श्रद्धानत थे उसी प्रकार ब्राह्मणेतर वर्णों की अभ्युनति भी उन्ह काम्य थी।

१ कबीर ग्रथावली स० डा० श्यामसुन्दरदास पदावली ४०।१

अत उन्होने एक ओर विप्रत्व की दूसरी ओर सन्तत्व की धारणाओ का प्रतिपादन अपने युग को दृष्टिगत रखकर ही किया था। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तुलसीदास की भक्ति चेतना भगवत्ता की उपलब्धि पतित से पतित व्यक्ति के लिए भी सभव मानती थी, अत उनकी दृष्टि अतीत या वतमान तक सीमित न रहकर भविष्य क प्रति आस्थावान थी। वे भारतीय सस्कृति की समग्रता के प्रति समर्पित थे, किसी एक वर्ण, सप्रदाय या पथ के प्रति नही। इसीलिय उन्होंने अपना कोई पथ या सम्प्रदाय नही चलाया। उन्होंने समग्र भारतीय जीवन का आदर्शोन्मुख करने का प्रयास किया, उसके विषय को पचाकर न केवल अमृत का सधान किया बल्कि उसका मुक्तहस्त वितरण भी किया। वे ऐसा कर सके क्योकि अपनी परम्परा से उनका रिश्ता सजनात्मक था, अध अनुकरणात्मक नही। परम्परा के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी उन्होंने उसको 'मति अनुरूप' ग्रहण किया था—'मति अनुरूप राम गुन गावउँ'[1] 'समुझि परी कछु मति अनुसारा'[2] 'करइ मनोहर मति अनुहारी'[3] जैसी उक्तियो से यह स्पष्ट है। इन उक्तियो मे विनय तो है ही अपने 'बुधि-विवेक' अनुकूल दष्टि का सकेत भी है। उन्होने परम्परा का पुननवीकरण उसे भलीभाति पहचानकर सग्रह-त्याग के आधार पर किया था उनका प्रसिद्ध सूत्र है 'सग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'[4] परम्परा से जुडने और उसे आगे बढाने का अथ है उसके गौरवमय पक्ष को पहचान कर स्वीकारना, समकालीन जीवन के लिये अनुपयोगी पक्ष को त्यागना, चुनौतियो के अनुरूप प्रत्युत्तर देने के लिए न केवल उसका पुन विन्यास करना बल्कि उसमे आवश्यक नया जोडना भी। तुलसी की यह दृष्टि विप्रत्व और सन्तत्व के निरूपण क क्षेत्र मे भी क्रियान्वित हुई है।

अपनी परम्परा क प्रति श्रद्धा के कारण ही वे सामान्यत वणाश्रम व्यवस्था का समथन करते हैं। इसीलिये वे कहते हैं,

> बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
> चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग।।[5]

१ मानस १।१२।८
२ वही १।३१।१
३ वही १।३६।२
४ वही १।६।२
५ वही ७।२०

अपने समकालीन जीवन मे वर्णाश्रम का ह्रास देखकर उन्होंने कई बार य॰ प्रकट करते हुए—

'बरन धरम गयो, आश्रम निवास तज्यो'[1]

बन विभाग न आश्रम धम, दुनी दुख दोष दरिद्र दली है'[2]

जैसी उक्तियाँ कही हैं। सामाजिक अव्यवस्था को सुधारने म राजशक्ति म कोई सहयोग नही मिलेगा इसका उन्हें निश्चय हो चुका था। बडी पीडा क साथ उन्होंने लिखा है कि 'सामदाम भेद आदि नीतियो का त्याग कर यवन महामहीपाल केवल कराल दण्ड के सहारे शासन कर रहे हैं'[3] और कठिन भय कर गोले की तरह जनशक्ति को तहस नहस कर रहे हैं।[4] फलत अपने समाज की अस्मिता बचाए रखने के लिये उन्होंने समाज नेता ब्राह्मण वग के प्रति सामाजिक श्रद्धा को यथासभव बनाये रखन का फैसला किया होगा।

तुलसीदास ने विप्र का प्रधान कार्य मोह जनित सशय दूर करना बताया है।[5] यह विद्या और तप के बल से ही सभव हो सकता है इसीलिए तुलसी एक तरफ 'विप्र विबेकी वेद बिद'[6] कहते है तो दूसरी ओर 'तपबल बिप्र सदा बरियारा'[7] बताते हैं। विद्या और तपस्या से उत्पन्न विवेक ही किसी व्यक्ति या वग को अज्ञान का निराकरण करने की क्षमता देता है। तपस्वी और विद्वान ब्राह्मण अगर परितुष्ट रह तो वे समाज का मगल करते रहेंगे। यदि किसी कारणवश वे रुष्ट हो जाएँ तो उनके रोष से निश्चय ही समाज का अमगल होगा यही सोचकर तुलसीदास ने लिखा है—'मगल मूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू'[8] भगवान की भक्ति करने के लिए भी भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम आदि की महिमा का ज्ञान आवश्यक है। परम्परा से चले आते हुए इस माहात्म्य ज्ञान का बोध सम्यक रूप से विद्वान ब्राह्मणो के माध्यम से ही हो सकता था। अत लक्ष्मण को भक्तियोग का उपदेश करत

१ कवितावली ७।८४।१
२ वही ७।८५।३
३ दोहावली ५५६
४ वही ५१५
५ मानस १।२।३
६ वही २।१४४
७ वही १।१६५।३
८ वही २।१२६।४

हुए तुलसीदास ने श्रीराम से कहलवाया है, 'प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीति' अर्थात् भक्तियोग प्राप्त करने के लिए उसकी परम्परा का ज्ञान प्रदान कर सकने वाले ब्राह्मणो के चरणो मे प्रेम आवश्यक है।[१] तुलसीदास यह भी मानते थे कि विद्वान और तपस्वी ब्राह्मणो की सेवा करने म यदि सकट का सामना करना पड़े तो उससे भी विचलित नही होना चाहिए। वाल्मीकि जी ने जिन चौदह प्रकार के भक्तो का वणन किया है उनम उन्होने उनकी भी गिनती कराई है जो, 'बिप्र धेनु हित सकट सहही'[२]। ब्राह्मण प्राय अभाव ग्रस्त रहते थे। ज्ञान और मान को ही अपना धन मानन के कारण वे अज्ञानी सत्ताधारियो के द्वारा अपमान की आशका मात्र पर क्रुद्ध, क्षुब्ध हो जा सकते थे। उनके कोप का भयानक परिणाम हो सकता था। अत उन्हे सतुष्ट रखने के लिए सम्मान के साथ साथ उनकी जीविका का विधान करना तुलसीदास की दृष्टि मे आवश्यक था। इसलिए उन्होने ब्राह्मणो के पूजन या सम्मान की बात कही है 'पुण्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा'[३] ब्राह्मणो की एक बडी दुर्बलता उत्तम भोजन के प्रति उनकी रुचि रही है। अत कपटी मुनि प्रतापभानु को इसी उपाय के माध्यम से ब्राह्मणो को अपने वशीभूत करने का परामर्श देता है[४] भोजन के साथ साथ जीविका निर्वाह के लिए ब्राह्मण को यथोचित दक्षिणा भी मिलती रहे इस ओर भी तुलसीदास सावधान हैं। अत स्थान स्थान पर उन्होने मानस मे, 'बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई'[५] 'दिए दान बहु बिप्र हँकारी'[६] 'बिप्र जेवाइँ देहिं बहु दाना'[७] जैसी उक्तियाँ कही है। प्रभु को सतुष्ट करने का सुगम माग भी उन्होने विप्रो की सेवा के रूप मे निर्धारित कियाहै, 'हरितोपन ब्रत द्विज सेवकाई'[८] औरो की बात जाने दीजिए तुलसीदास ने स्वय श्रीराम को ब्रह्मण्य अथवा ब्राह्मणनिष्ठ बताया है[९] इन

१ मानस ३।१६।३
२ वही २।१३१।१
३ वही ७।४५।७
४ वही १।१६६-१६६
५ वही १।२०३।३
६ वही २।८।४
७ वही २।१२६।७
८ वही ७।१०६।११
६ वही १।२०६।४

सबसे तुलसी का अभिप्राय यही है कि तपस्वी और विद्वान विप्रवर्ग सन्तुष्ट होकर समाज के मंगल कार्यों मे प्रवृत्त रहे।

शक्तिशालियो के अन्यायो का प्रतिवाद करते हुए तेजस्वी ब्राह्मण क्रुद्ध होकर शाप भी दिया करते थे। तुलसी के अनुसार प्रभु के द्वारपाल जय, विजय, इन्द्र, कबन्ध आदि विप्र शाप से दुर्गति को प्राप्त हुए थे। किन्तु कभी कभी विप्र बिना विचारे भी शाप दे देते थे जो तुलसी को भी अनुचित लगता था। निरपराध प्रतापभानु को शाप देने पर तुलसी ने आकाशवाणी से कहलाया कि—

विप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा'[1]
यही प्रतापभानु राक्षस बनकर ब्राह्मणो से क्रूर बदला लेता है। उसके आदेश पर उसके अनुचर, जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं'[2]। निष्कर्ष यही है कि तुलसी ब्राह्मणो के अविवेकपूर्ण कार्य का समर्थन नहीं करते हैं। वे ब्राह्मणो को दया और कृपा की मूर्ति के रूप मे देखना चाहते हैं। इसीलिए उन्होने स्थान स्थान पर कहा है—

'चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी'[3] 'द्विज दयाल अति नीति निकेता'[4]।
अपने कर्तव्य से विच्युत ब्राह्मण की कठोर भर्त्सना करने मे भी तुलसी को सकोच नही था, उन्होंने स्पष्ट कहा है—'सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना'[5] कलियुगी ब्राह्मण की निन्दा करते समय वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे थे। उन्होने 'द्विज श्रुति बेचक'[6] 'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी,'[7] 'द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी'[8] जैसी कठोर उक्तियो के द्वारा अपने धर्म का पालन न करने वाले ब्राह्मणों के प्रति अपना क्षोभ प्रकट किया है। इसका अर्थ यही है कि कुछ गुणो, कुछ आदर्शों के कारण ही तुलसी की दृष्टि मे ब्राह्मण पूज्य थे। सामाजिक श्रद्धा की अनुकूलता से ब्राह्मणो मे वे

१ मानस १।१७४।५
२ वही १।१८३।६
३ वही १।२८२।४
४ वही ७।१०५।५
५ वही २।१७२।३
६ वही ७।९८।२
७ वही ७।१००।८
८ वही ७।१०१।७

गुण विकसित हो सकें, होते रहे तुलसीदास का यही काम्य था। आज स्वाधीन भारतवर्ष मे हम अपने विवेक के अनुसार सामाजिक पुनर्विन्यास करने म पूर्ण स्वतत्र हैं। यह कतई आवश्यक नही है कि आज भी हम जन्मनाजाति व्यवस्था का समर्थन कर ब्राह्मणो को विशेषाधिकार दें किन्तु तुलसीदास के कर्तृत्व पर निर्णय देने के पूर्व उनके समय की परिस्थितियो को ध्यान रखना ही न्यायोचित है।

यह भी ध्यातव्य है कि तुलसीदास ने सत के माध्यम से जाति पाँति निरपेक्ष सज्जनो की महिमा को प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने सतो को सब गुणो की खान कह कर उनके चरित्र की तुलना कपास से करते हुए उन्हे विषय रसहीन, विशद गुणमय स्वय दुख सहकर दूसरे के दोषो को प्रकट न करते हुए दूर करने की चेष्टा करने वाला बताया है। सत समाज उनकी दृष्टि मे आनद और मगल से युक्त चलते फिरते तीर्थराज प्रयाग के सदश है जिसमे राम भक्ति की गगा, ब्रह्म विचार की सरस्वती और विधि निषेधमय कलिमल हारिणी कर्म कथा की यमुना का सगम है। मनुष्यो को सदबुद्धि, कीर्ति, सद्गति और विभूति की ही नही विवेक की प्राप्ति भी तुलसी के अनुसार सत्सग से ही होती रही है। सत्सग से शठ भी सुधर जाते है क्योकि समदर्शी एव सरल हृदय वाले सत हित और अनहित मे भेद किये बिना सारे जगत का कल्याण करते रहते हैं।[1]

तुलसी के अनुसार सन्तत्व का निर्णय भक्तिपूर्वक आचरण से होता है जाति या देश से नही। उन्होंने स्पष्ट लिखा है,

'जदपि साधु सबही बिधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना।
यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि म जरै।[2]

सब प्रकार से हीन साधु का अर्थ है जाति, विद्या, धन, पद, रूप आदि से रहित सन्त। तुलसी की दृष्टि मे ऐसे सत भी कुलीनो से (जिनम ब्राह्मण भी शामिल हैं) श्रेष्ठ हैं क्योकि वे मान अपमान से ऊपर उठकर रात दिन प्रभु के नाम का जप करते रहते है। यह भी स्पष्ट है कि तुलसी के लिए सत, भक्त, साधु, सज्जन आदि समानार्थक शब्द है। समकालीन हिन्दी आलोचना मे भ्रमवश निर्गुणिया भक्तो को सत एव सगुण उपासको को भक्त कहने की परिपाटी चल पडी है। तुलसी की दृष्टि मे ऐसा भेद करना असगत है। उनके अनुसार सतराज का लक्षण है,

१ मानस १।२-३
२. वैराग्य सदीपनी ४१

'मै तै' मेटयो मोहतम, ऊगो आतम भानु।
सतराज सा जानिए, तुलसी या सहिदानु।[१]

अर्थात् सगुण उपासक हो या निर्गुण उपासक आत्मज्ञान रूपी सूम के उदय होने के कारण जिसका मैं तू मेरा तेरा का अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया हो वही तुलसी की दृष्टि मे सत है। तुलसी ने सतो, भक्तो की महिमा अपने ग्र थो म बार-बार गाई है। श्रीराम, वाल्मीकि आदि उनके प्रधान चरित्रो ने ही नही प्रयोजन के अनुकूल मानस के आरभ, मध्य और अत मे तुलसी ने स्वय भी सतो के गुणो का विशद एव बार बार निरूपण किया है। तुलसी के श्रीराम के अनुसार सत काम क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छहो विकारो को जीत लेने वाले, निष्पाप, निष्काम, स्थिर बुद्धि, सर्वत्यागी, बाहर भीतर से पवित्र, सुख-धाम, असीम ज्ञानवान, इच्छारहित, मितभोगी, सत्यनिष्ठ, कवि, विद्वान, योगी, मानप्रद, अभिमान रहित, धैर्यवान, धम गति मे परम प्रवीण, गुणागार, ससार के दु खो स रहित नि सशय दृढ, गेह से भी अधिक प्रभु के चरण कमलो के प्रेमी होते है। वे अपने गुण सुनकर सकुचित तथा दूसरो के गुण सुनकर विशेष रूप स हर्षित होते हैं। वे सम शीतल नीतिपरायण, सरल स्वभाव युक्त एव सबके प्रेमी होते हैं। वे जप, तप, व्रत, दम, सयम नियम म रत रहते हैं, गुरु गोविंद तथा ब्राह्मणो के चरणों मे प्रेम रखते हैं। श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, दया, प्रसन्नता, प्रभु चरणो मे निष्कपट प्रेम, वैराग्य, विवेक, विनय, विज्ञान और वेद पुराण क यथार्थ ज्ञान से वे युक्त होते ह। वे कभी दभ अभिमान नही करते और भूलकर भी कुमाग पर पैर नही रखते। वे सदा प्रभु की लीला को गाते सुनते हैं और बिना किसी हेतु के दूसरो का हित करते रहत हैं।[२]

सन्तो की सामाजिक भूमिका के निरूपण म भी तुलसीदास सावधान है। तुलसीदास के अनुसार सत सब क प्रिय, सबके हितकारी, दु ख सुख म सम और सत्यनिष्ठ होते हैं। परनारियो को माता के समान और पर धन को विष के समान मानते है। व दूसरा की सम्पत्ति देखकर हर्षित और विपत्ति देखकर दु खी होते हैं। वे सबो के अवगुण छोडकर गुण ग्रहण करते हैं। विप्र धेनु हित सकट सहते हैं, नीति निपुण होते हैं। वे गुण राम के और दोप अपने मानते हैं, जाति पाँति, धन, धम, बडाई, प्रिय परिवार और सुखद गह भी प्रभु के लिए त्यागने मे उन्हे सकोच नहीं होता है।[३] वे अपने कोमल चित्त के कारण दीनो

१ वैराग्य सदीपनी ३३
२ मानस ३।४५ ४६
३ वही २।१३० १३१

पर सदा दया करते हैं उनका नवनीत से अधिक कोमल हृदय दूसरो के परिताप से द्रवित होता है, अपने ऊपर पडे दुख कष्ट के ताप से नही।[1] स्पष्टत ऐसे सज्जन पुरुष ही समाज का धारण और मगल करने मे समर्थ हो सकते हैं इसीलिये तुलसीदास ने कहा है कि सत से मिलना ही इस ससार का सबसे बडा सुख है, 'सन्त मिलन सम सुख जग नाही'[2] तुलसीदास सत समागम को ही जीवन का सबसे बडा लाभ भी मानते है, 'गिरिजा सत समागम सम न लाभ कछु आन'[3] इसीलिए उनकी मान्यता है कि जिन्होने सतो का दर्शन नही किया उनकी आँखें मोर पख की आखो के समान निरर्थक हैं, 'नयनन्हि सत दरस नहिं देखा। लोचन मोर पख कर लेखा।'[4]

तुलसीदास के अनुसार भक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति सत्सग के माध्यम से ही हो सकती है। इसीलिए उन्होने कहा है, 'प्रथम भगति सतन्ह कर सगा'[5] उनकी यह दृढ मान्यता थी कि राम की भक्ति और सतो की सगति भवत्रास को नष्ट करने मे सर्वथा समर्थ है 'रघुपति भगति सत सगति बिनु को भव त्रास नसावै'[6]। वे यह भी मानते थे कि राम कृपा से ही विशुद्ध सतो की प्राप्ति सभव है,

> 'सत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही।
> चितवहिं राम कृपा करि जेही।'[7]

वे सतद्रोह को अक्षम्य अपराध मानते थे। उन्होने कहा है कि सतद्रोहियो को स्वप्न मे भी सुख नही मिल सकता है, कल्पवृक्ष के नीचे भी उन्हे विषफल की ही प्राप्ति होगी, 'सपनेहु सुख न सत द्रोही कहँ, सुरतरु सोउ बिष फरनि फरै'।[8]

यह भी सही है कि तुलसीदास ने बडी पीडा से यह अनुभव किया था कि कलियुग मे वेद पुराणो को न मानने वाले, आरभ से ही झूठ को लक्ष्य बनाने

१ मानस ७।३८।३ एव ७।१२५।७ ८
२ वही ७।१३१।१३
३ वही ७।१२५ (ख)
४ वही १।११३।३
५ वही ३।३५।८
६ विनय पत्रिका १२१।१०
७ मानस ७।६६।७
८ विनय पत्रिका १३७।१०

वाले दम्भी व्यक्ति भी सत के नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं।[1] तुलसी की दृष्टि मे ऐसे लोगो को सत कहना सतत्व का अपमान करना है।

तुलसी द्वारा निरूपित विप्र महिमा और सत महिमा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर कुछ बडे दिलचस्प परिणाम निकलते है। तुलसी ने विप्रो को पृथ्वी का देवता कहा है, 'बदउँ प्रथम महीसुर चरना'[2] किन्तु सत को तो भगवान के सदृश बल्कि भगवान से बढकर बताया है। वे 'जानसु सत अनत समाना'[3] या 'सत भगवत अतर निरतर नही, किमपि मतिमलिन यह दास तुलसी'[4] कहकर ही सन्तुष्ट नही हुए। स्वय श्रीराम से उन्होने यह भी कहलाया कि मेरी सातवी भक्ति यही है कि जगत भर को समभाव से मुझमे ओतप्रोत देखना और सतो को मुझसे भी अधिक करके मानना, 'सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोतेँ सत अधिक करि लेखा'[5] यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मानस का आरभ करते समय तुलसीदास ने ब्राह्मणो की वन्दना सिर्फ एक पक्ति म और सतो की वन्दना २८ पक्तिया मे की है।

कबन्ध को फटकारते समय श्रीराम द्वारा कथित, 'सापत ताडत परुष कहता। बिप्र पूज्य अस गावहि सता'[6] की उक्ति के आधार पर कइयो ने तुलसीदास को ब्राह्मणो का अनुचित पक्षपाती ठहराया है। इस सम्बन्ध मे निष्पक्ष विचार का प्रयोजन है। यह स्पष्ट है कि इस प्रसग के द्वारा श्रीराम एक क्रोधी किन्तु सुयोग्य ब्राह्मण ऋषि दुर्वासा का अपमान करने वाले अभिशप्त गन्धर्व को यह समझाना चाहते हैं कि यदि कोई सात्विक ब्राह्मण किसी कारणवश सामयिक रूप से क्रुद्ध हो जाए तो भी उसकी मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए। इससे अधिक खीच तान कर इस उक्ति का तुलसीदास के आधारभूत सिद्धात के रूप मे घोषित करना तुलसी की दृष्टि से अपनी अनभिज्ञता प्रमाणित करना है। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रबन्धकार की दृष्टि प्रबन्ध काव्य की किसी विच्छिन्न उक्ति से स्पष्ट नही होती, उसमें की गयी चरित्र सृष्टि से स्पष्ट होती है। रामचरित मानस म विप्र धम का परित्याग करने वाले परशु

१ मानस ७।६८।४, ७।१०१
२ वही १।२।३
३ वही ७।१०६।१२
४ विनय पत्रिका ५७।१८
५ मानस ३।३६।३
६ वही ३।३४।१

राम को उपहासास्पद और रावण को वध्य चित्रित किया गया है। क्या इस तथ्य को उपर्युक्त उक्ति खारिज कर सकती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कबन्ध का उद्धार करने के तुरन्त बाद तुलसीदास श्रीराम को सतशिरोमणि शबरी जी के आश्रम मे ले जाते है और श्रीराम से ही निरूपित करवाते हैं कि,

'जाति पाँति कुल धर्म बडाई। धन बल परिजन गुन चतुराई ॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा ॥'[1]

मेरी दृढ मान्यता है कि इन दोनो प्रसगो की क्रमिक अवतारणा अत्यत तात्पर्य पूर्ण है। तुलसीदास एक ही साथ ब्राह्मण द्रोहियो के दम्भ और जन्मना जाति प्रथा के अन्याय का निराकरण करने के लिए ही इन दोनो प्रसगो को साथ-साथ उपस्थित करते है। तुलसी की दृष्टि तथाकथित नीची जातियो को अधम अस्पृश्य बनाये रखने की नही थी इसीलिए वे एक ओर शबरी को श्रीराम से योगिवृन्द दुर्लभ गति प्रदान कराते हैं तो दूसरी ओर निषादराज से कहलाते हैं,

'कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहर सब भाँती।
राम कीन्ह आपन जबही ते। भयउँ भुवन भूषन तबही तें ॥'[2]

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो विप्रश्रेष्ठ वशिष्ठ शृङ्गबेरपुर मे निषादराज का स्पर्श करने से कतरा जाते है वे ही चित्रकूट मे 'रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा'[3] के अनुरूप निषादराज को आग्रहपूर्वक आलिंगनबद्ध कर लेते हैं।

यह भी लक्षणीय है कि तुलसीदास ने परशुराम एव रावण सदृश ब्राह्मणो के अनुरूप किसी सन्त को तिरस्करणीय अथवा दण्डनीय नही बताया है। न तो उन्होंने किसी सन्त के हृदय परिवर्तन का ही चित्रण किया है। उनके अनुसार सन्तत्व तो आचरण पर निर्भर करता है जाति पर नही। अत जो व्यक्ति आचरण की तुला पर खरा नही उतरता था उसे वे सन्त ही नही मानते थे। सन्तो का वेष धारण करने वाले दुष्टो को वे अवश्य दण्डनीय मानते थे जैसा उनकी उक्ति, 'उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू'[4] से स्पष्ट है।

१ मानस ३।३६।५ ६
२ वही २।१९६।१-२
३ वही २।२४३।६
४ वही १।७।६

यह भी स्मरणीय है कि तुलसीदास ने दिखाया है कि सत के लिए विप्र के शरीर और चाण्डाल पक्षी कौवे के शरीर म कोई अन्तर नही है। लोमश ऋषि के शाप से जब भुशुडि ब्राह्मण से कौवे बन गए तो भी उन्हे न भय हुआ और न ही उनमे दीनता आई। जिस शरीर मे उन्हे राम भक्ति प्राप्त हुई वही उन्हे प्रिय लगा और इच्छा मृत्यु का सामर्थ्य होते हुए भी वे उसी शरीर मे बने रहे क्योकि बिना शरीर के भजन नही किया जा सकता।[1] स्पष्ट है कि सत की दृष्टि म महत्व भक्ति का है शरीर का नही। इसी चाण्डाल काक भुशुडि से रामकथा सुनने के लिए स्वयं शिव एव अनेको ब्राह्मण ऋषि मुनि हस का रूप धारण कर श्रद्धापूर्वक उनके आश्रम म आया करते थे। भगवान के वाहन गरुड को भी शिव जी ने मोह नाश के लिए इसी चाण्डाल काक भुशुडि के पास भेजा था। साफ है कि तुलसीदास का मस्तिष्क अनेकानेक सगत कारणो से विप्र के महत्व को बनाये रखने के पक्ष मे था किन्तु उनका हृदय सत की महिमा पर बलिहारी था और सच कहा जाये तो तुलसी के निरूपण से यही प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि मे विप्र और स त म स त ही श्रेष्ठ है।

एक बात पर और भी विचार किया जाना चाहिए। आखिर तुलसी साहित्य के अनुशीलन का फल क्या है? कोई भी निष्पक्ष विचारक यही कहेगा कि तुलसीदास पूरे समाज मे स तत्व की भावना को उभारना चाहते थे। सन्त जिन गुणो का आधान दूसरो मे करना चाहता है अपने को उनसे रहित बता कर स्वय अपने जीवन म उनके विकास की प्रार्थना प्रभु से करता है। स त आजकल क राजनीतिक नेताओ की तरह दूसरो को ही अच्छा बनने का उपदेश नही दिया करते क्योंकि वे जानते हैं कि इसका कोई परिणाम नही निकलेगा। बिना स्वय अच्छे हुए कोई दूसरा अच्छे होने का उनका उपदेश नही सुनेगा। तुलसीदास स्वय सन्त थे लेकिन यह भी चाहते थे कि समाज के अधिकाधिक लोग सन्त बनें। इसीलिए उन्होने अपना मनोरथ व्यक्त कराते हुए कहा, 'कबहुक हौ यहि रहनि रहौगो। श्री रघुनाथ कृपाल, कृपा तें सन्त सुभाव गहौगो'[2] इस पद का मथिताथ यही है कि समाज सन्त स्वभाव को वरेण्य माने। रामकथा को सुनने पढने के अधिकारी तुलसीदास की दृष्टि मे वे ही थे जो द्विज सेवक होने के साथ साथ सत्सग भी किया करते थे',

१ मानस ७।९६।४-५
२ विनय पत्रिका १७२।१-२

रामकथा के तेइ अधिकारी । जिन्ह के सत सगति अति प्यारी ।
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई । द्विज सेवक अधिकारी तेई ॥'[1]

तुलसी की रामकथा का अध्ययन मनन कर कोई अब्राह्मण विप्र नही हो सकता था क्योकि विप्र तो तुलसी के समय जन्मना होते थे । किन्तु उनकी कथा का विश्वासपूवक सम्यक् अनुशीलन कर कोई भी (चाहे वह ब्राह्मण हो या अब्राह्मण) हरि भक्ति प्राप्त कर सकता है, ऐसा उनका दावा था,

'मुनि दुलभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास ।
जे यह कथा निरतर सुनहिं मानि बिस्वास ॥'[2]

तुलसी ने यह कथा सन्तो से सुनकर ही सुनाई थी 'सत ह सन जस किछु सुनेउ तुम्हहि सुनायउ सोइ'[3] यह नि सकोच जोडा जा सकता है कि उन्होने यह कथा मुख्यत सतो को और सत बनना चाहने वालो को ही दष्टि मे रखकर लिखी थी । यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि रामचरितमानस का ही नही, समस्त तुलसी साहित्य का लक्ष्य हरिभक्तिमय स तत्व का विकास करना ही है । इस पर भी यदि कोई तुलसी को ब्राह्मणशाही का प्रचारक कहे तो उसका क्या इलाज है ?

१ मानस ७।१२८।६ ७
२ वही ७।१२६
३ वही ७।६२ (क)

चित्रकूट मे तुलसीदास की साधना और उपलब्धि

तुलसीदास को चित्रकूट अत्यन्त प्रिय था। इतना अधिक कि यह प्रियता भक्ति मे परिवर्तित हो गयी थी। अपनी सभी प्रमुख कृतियो रामचरितमानस, विनय पत्रिका, गीतावली, कवितावली, दोहावली आदि मे तुलसी ने बार-बार भिन्न भिन्न मन स्थितियो, ऋतुओ और भूमिकाओ मे चित्रकूट के न केवल शोभन चित्र अकित किये हैं[1] बल्कि यह भी प्रतिपादित किया है कि निष्ठापूर्वक चित्रकूट मे रहकर राम नाम का जप करने वालो को वहाँ सीता और लक्ष्मण के साथ सब दिन बसने वाले प्रभु उनका अभिमत प्रदान करते हैं।[2] तुलसी दास के मतानुसार यह अभिमत और कुछ न होकर राम के प्रति सच्चा स्नेह ही होना चाहिए और उसी की प्राप्ति के लिए भक्तिपूर्वक चित्रकूट का दीर्घकाल तक सेवन किया जाना चाहिए, 'तुलसी जौ राम सो सनेह साँचो चाहिए तौ सेइए सनेह सो बिचित्र चित्रकूट सो।'[3]

कुछ विद्वान कह सकते हैं कि तुलसी न अयोध्या और काशी के प्रति भी असाधारण भक्ति निवेदित की है। इसमे कोई सन्देह नही कि अपने इष्ट देव की जन्मभूमि अयोध्या और अपने 'माय बाप गुरु सकर भवानिए'[4] की नगरी काशी भी उन्हें बहुत प्रिय थी और उन्होन उनकी प्रशस्ति मे अनेकानेक छन्द लिखे हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास उन पवित्र नगरो को भी कलिकाल के उपद्रवो के फलस्वरूप पूर्णत निरापद नही मानते थे। काकभुशुडि

१ चित्रकूट अति विचित्र, सुदरबन महि पवित्र, पावनि पय सरित सकल मल निकदिनी। गीतावली ४३।१, देखत चित्रकूट बन मन अति होत हुलास— वही ४७।१ सब दिन चित्रकूट नीको लागत। बरषा ऋतु प्रवेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत। वही ५०।१-२ आदि आदि।

२ दोहावली ४

३ कवितावली ७।१४१।७ ८

४ वही ७।१६८।८

के प्रथम जन्म के चरित्र का वणन करते समय रामचरितमानस मे उन्होने विस्तार से अयोध्या मे होने वाले कलि के अनाचारो अत्याचारो का चित्रण किया है।[1] इससे सगत अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास के अपने समय मे भी अयोध्या की स्थिति बहुत कुछ वैसी ही रही होगी। इसी प्रकार कवितावली और दोहावली मे अपने समय म कलि के द्वारा की गयी काशी की कदथना दुदशा के भी मार्मिक चित्र उन्होने अकित किये है। बडी पीडा के साथ उन्होने लिखा है, 'बिस्वनाथपुर फिरी आन कलिकाल की'[2] 'कासी की कदयना कराल कलिकाल की'[3] आदि आदि' इनकी तुलना म चित्रकूट उन्हें साधना के लिए बहुत निरापद लगता था क्योंकि उनकी मान्यता थी कि चित्रकूट है, 'रस एक, रहित गुन करमकाल, सियराम लखन पालक कृपाल'[4] अर्थात कृपालु सीता, राम, लक्ष्मण द्वारा प्रतिपालित होते रहने के कारण चित्रकूट सत्त्व, रज, तम आदि गुणो, सचित, प्रारब्ध क्रियमाण आदि कर्मों और सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि आदि युगो के कालो से अप्रभावित, सदा एकरस सदा रामजी की भक्ति के अनुकूल रहता है। इसीलिए उन्होने डके की चोट पर घोषणा की कि यदि राम के चरणों मे प्रेम चाहिए तो निर्बाध, निश्छल नियम पूर्वक चित्रकूट का सेवन करो, 'तुलसी जो राम पद चहिय प्रेम, सइय गिरि करि निरुपाधि नेम।'[5]

क्या ये सब सुनी सुनायी बातें हैं जिन्हे परम्परा से प्राप्त होने के कारण तुलसीदास न श्रद्धावश दुहरा दिया है? नही, यह तुलसी का अपना अनुभव है। जब जब उन्ह ससार रूपी सप डसता था (भले व उस समय अयोध्या या काशी मे ही क्या न हो) और उन पर भी काम, क्रोध, लोभ आदि का विष चढने लगता था तब तब वे नेवले की तरह भागकर सर्प विष उतारने वाली जडी को सूँघ कर सचेत होकर पुन सप से लडने की शक्ति पाने के लिए चित्रकूट चले आया करते थे। अदभुत है यह दोहा,

भव भुवग तुलसी नकुल, डसत ज्ञान हरि लेत।
चित्रकूट इक औषधी, चितवत होइ सचेत॥[6]

१ देखिये मानस ७।९६ से ७।१०४ तक
२ कवितावली ७।१६६ २
३ वही ७।१८२।८
४ विनय पत्रिका २३।८
५ वही २३।६
६ दोहावली १८०

मानस और कवितावली दोनो मे उ होने चित्रकूट को 'अचल अहेरी' के रूप म चित्रित कर बताया है कि श्रीराम की आज्ञा से वह अज्ञानरूपी ससार वन के पाप समूह रूपी मोटे ताजे जगली पशुओ का वध कर साधु, गाय, विप्रो के भय का निवारण करता रहता है।[1] अत उसके आश्रय मे रहने वाले साधको पर कलिकाल का जोर नही चलता। जिस तरह भरत जी को चित्रकूट मे प्रवेश करते समय लगा था कि इस प्रदेश के राजा श्रीराम चरणाश्रित विवेक है, उसका मत्री है वैराग्य, यम नियम उसके याद्धा है, कामदगिरि उसकी राजधानी है, शान्ति और सुमति उसकी पवित्र रानियाँ है और वह मोहरूपी राज्य को उसकी सेना के साथ जीतकर निष्कटक राज्य कर रहा है,[2] उसी तरह तुलसीदास का अनुभव है कि चित्रकूट समस्त चि ताओ, शोको से मुक्तिदाता, कलिमलहारी और कल्याणकारी है।[3] वास्तव मे अयाध्या, काशी आदि अन्य तीर्थो की तुलना मे चित्रकूट म अब भी कृत्रिमता बहुत कम है। तुलसीदास के समय तो चित्रकूट भी राम क समय से करीब करीब अपरिवर्तित, अपने स्वाभाविक रूप मे ही रहा होगा। भला कामदगिरि म, म दाकिनी की धारा मे, चारो तरफ के सुहावन वन म और चित्रकूट की पावन रज म उस समय तक क्या परिवतन हुआ होगा! (अब तो फिर भी बस्ती बढती जा रही है और चित्रकूट का स्वाभाविक रूप लुप्त होता जा रहा है। उचित तो यही है कि चित्रकूट की स्वाभाविकता की पूणत रक्षा की जाय) अत तुलसीदास चित्रकूट को यदि अपना अभयारण्य मानत रह हो तो आश्चय की क्या बात है।

इसीलिए तुलसीदास अपन मन को समझाते रहते थे, 'अब चित चेति चित्रकूटहि चलु/कोपित कलि, लोपित मगलमग, बिलसत बढत मोह माया मलु'[4] लगता है तुलसीदास का मन भी नगरो की सुविधाओ को छोड कर वन पवत के एका त म आने से कभी कभी कतराता था या हो सकता है कि उ होने जन साधारण की भावना को अपने ऊपर आरोपित कर ऐसा कहा हो। फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि वे अपने चित्त को सचेत करते रहते थे कि यदि तुम चित्रकूट नही गये तो क्रुद्ध कलि जैसे औरो के लिए मगल के मार्गों को अवरुद्ध कर उनके जीवनो मे मोह, माया, पाप आदि की वद्धि कर रहा है वसे ही कुफल

१ मानस २।१३३।४ तथा कवितावली ७।१४२
२ वही २।२३५
३ विनय पत्रिका २३।१
४ वही २४।१-२

तुम्हे भी भोगने पड़ेंगे। अपने इष्टदेव श्रीराम के चरण चिह्नो से अंकित पावन भूमि और उनके विहार स्थल सुन्दर वनो के दर्शनो का पुण्य तो चित्रकूट मे ही मिलेगा और फिर कामदगिरि के शिखर के दर्शन मात्र से जन्म मरण के दुःख से और कपट, पाखंड, दंभ आदि दुर्नीतियों से सदा के लिए छुटकारा हो जायेगा। अत ओ मेरे चित्त, चल, चित्रकूट चल। इस पद की एक पंक्ति बहुत ही विलक्षण है 'न करु बिलंब, बिचारु चारुमति, बरष पाछिले सम अगिलो पलु।'[1] अर्थात अब देर मत कर ओ सुन्दर बुद्धि वाले चित्त विचार कर कि जीवन के समस्त बीते हुए वर्षों के समान बल्कि उनकी समष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है आने वाला एक पल। मुझे नही मालूम कि दूसरे किस विचारक ने आने वाले एक एक पल को इतना महिमामंडित किया है। इसी पद की अंतिम पंक्ति मे तुलसीदास ने कहा है कि वैसे तो चित्रकूट सबो के लिए मगल मय है किन्तु तुलसी तुझे तो विशेष रूप से समझना चाहिए कि तुझे तो एक मात्र चित्रकूट का ही विश्वास, प्रेम और बल है, 'तुलसी तोहि बिसेषि बूझिये एक प्रतीति, प्रीति एकै बलु।'[2]

प्रश्न उठता है कि तुलसी अयोध्या, काशी, प्रयाग आदि से भी अपने लिए चित्रकूट को अधिक महत्त्वपूर्ण क्यो मानते है? इसका सीधा उत्तर यही है कि चित्रकूट मे ही तुलसीदास को अपने जीवन के विशिष्ट अनुभव हुए थे। सन्त अपने दिव्य अनुभवो को प्रकट नही करते फिर भी तुलसीदास ने भावावेग मे चित्रकूट मे हुए अपने दो अनुभवो की चर्चा विनय पत्रिका मे की है। तुलसीदास ने साफ साफ लिखा है कि अगणित गिरिकाननो, तीर्थों मे फिरने के बाद भी मैं बिना आग के ही जलता रहा, चित्रकूट आने पर मुझे कलि की सब कुचालें दीख पड़ी और अब मैं अपनी ओर से (या विषमभया से) डर गया हूँ कि जिस प्रकार चोर पहचान लिये जाने पर खबरदार हो जाता है, उसी प्रकार कलिकाल अब मेरे ऊपर अतिशय क्रुद्ध होकर मुझे नष्ट कर देने पर आमादा हो गया है। हे नाथ, मैं सिर झुका कर हाथ जोड़ कर आपसे यह निवेदन कर निवृत्त हो गया, अब आप जो चाहे करें।[3] इसमे आये—'चित्रकूट गये लखि कलि की कुचाल सब' वक्तव्य से यह पता चलता है कि चित्रकूट मे तुलसीदास को कलिकाल की समस्त कुचालो का बोध हुआ था और यह निश्चय ही एक बड़ी

१ विनय पत्रिका २४।७
२ वही २४।१२
३ वही प० स० २६६

उपलब्धि है। कलि की असत्य कुचालो को छोड कर यदि साधनो के सम्बन्ध में उसकी कुचालो पर ही विचार किया जाए तो कुछ अटपटी बातें सामने आती है। जो लोग ससार म ही आसक्त हैं उन्हे तो कलि काम, क्रोध, लोभ आदि स ठगता है ही किन्तु जो लोग राम से जुडना चाहते हैं उनको भी कलि प्राय छल लेता है। ६६ ६ प्रतिशत लोग भगवान की पूजा अर्चना करने के बाद उनसे माँगते है धन, सम्पत्ति, पुत्र कलत्र, स्वास्थ्य, अधिकार आदि ही।

क्या यह भी कलि का छल नही है ? राम को साधन बनाकर सांसारिक वस्तुओ, स्थितियो को साध्य बनाना वास्तव म क्या साधना कहलाने के योग्य बात है ? वैसे औरो से माँगने की तुलना मे राम से माँगना तुलसी की दृष्टि मे अच्छा है अत अन्यो के लिए तुलसी एक सीमा तक इसे सह लेते हैं। उनका आदर्श तो यही है, 'जग जाँचिये कोउ न' किन्तु यदि बिना याचना किये काम ही न चलता हो तो 'जाँचिये जो, जिय जाँचिय जानकी जानहि रे/जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहि रे।'[१] राम से की गयी याचना का एक विचित्र सुफल यह भी है कि सारे ससार को जबरदस्ती जलाते रहने वाली याचकता उनसे स्वय जल जाती है। अपने लिए तुलसी का निर्णय है, 'तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ'।[१६] राम जी से प्रेम करने का यदि कोई फल होता हो तो वह जल जाये, मुझे राम की भक्ति करने के बदले कुछ नही चाहिए। यह भी ठीक है कि राम स जुडना चाहने वाले सभी लोग उनसे भौतिक वस्तुएँ नही पाना चाहते है कुछ लोग उन्ही का पाना चाहते है, किन्तु ऐसो मे से भी अधिकाश यह मान बैठते हैं कि वे अपने साधन मे, भक्ति, ज्ञान, योग या कर्म से राम को पा सकते हैं। क्या यह भी कलि का छल ही नही है ? क्या सीमित शक्ति सम्पन्न व्यक्ति अपन सीमित साधनो से असीम राम को पा सकते हैं ? यदि नही तो फिर राम को कैसे पाया जा सकता है ?

मुझे लगता है कि चित्रकूट म ही तुलसी को इस प्रश्न का सटीक उत्तर मिला था। उन्होने लिखा है 'तुलसी तो को कृपालु जो कियो कोसल पाल चित्रकूट को चरित्र चेतु चित्त करि सो'[२] अर्थात् कृपाल कोशलाधीश श्रीराम ने चित्रकूट मे तेरे लिए या तेरे साथ जो चरित्र किया, उसे स्मरण कर और चित्त मे धारण कर। सामान्यत टीकाकारो ने इस प्रसग म प्रचलित किंवदन्ती दुहरायी है, 'चित्रकूट के घाट पर भइ सन्तन की भीर। तुलसिदास चदन घिसें

१ कवितावली ७।२८।१-२
२ विनय पत्रिका २६४।१०

तिलक देत रघुबीर ।' इस श्रद्धाप्रसूत उक्ति को स्वीकारने में आज के बहुत से बुद्धिजीवियों को सकोच हो सकता है । मेरी धारणा है कि तुलसीदास यहाँ प्रभु की ऐसी सूक्ष्म कृपा का सकेत कर रहे हैं जिसे सचेत होकर चित्त मे धारण किये रखना चाहिए । ऐसी कृपा सत्य के साक्षात्कार के रूप म ही हो सकती है । तुलसीदास को यह उपलब्धि भी चित्रकूट म ही हुई होगी कि अपने समस्त साधनो का भरोसा छोडकर अनन्य भाव से निस्साधन होकर, दीन होकर, राम के द्वार पर जाने पर राम ही साधन बन जाते ह राम की प्राप्ति के । तुलसी दास की उत्तरकालीन साधना इसी तत्व पर आचार्यों के मतानुसार शरणागति तत्व पर ही अवलम्बित हैं । इसी तत्व को वे आजीवन स्मरण रखना सचेत रूप से स्मरण रखना और चित्त मे धारण किये रखना चाहते थे । तभी उन्होंने कहा था,

करमठ कठमलिया कहै, ज्ञानी ज्ञान विहीन ।
तुलसी त्रिपथ बिहाय गो, राम दुआरे दीन ।।[1]

कममार्गी कहते रहे कि तुलसीदास केवल काठ की माला फेरता रहता है, कठमलिया है, ज्ञानी मुझे अज्ञानी घोषित कर दें, भक्त होने की तो पात्रता ही मुझम नही है अत तीनो मार्गों का (अर्थात समस्त साधनो का) परित्याग कर निस्साधन होकर केवल राम के द्वार पर (अर्थात् अ य सबो का आश्रय छोड कर) अनन्य होकर दीन भाव से आ बैठा हूँ । अब राम जी की जो इच्छा । यह नही कि तुलसीदास ने इसके पहले शरणागति तत्व का अध्ययन या श्रवण नही किया होगा, जरूर किया होगा । किन्तु उसे अनुभूत सत्य के रूप मे उन्होंने प्रभु की कृपा से चित्रकूट मे ही कलिमल से मुक्त, शुद्ध हृदय होकर उपलब्ध किया होगा । इसके समथन मे तुलसीदास के ही द्वारा निर्दिष्ट चित्रकूट मे करणीय साधना का उल्लेख किया जा सकता है ।

तुलसीदास का अनुभव सिद्ध आश्वासन है,

राम नाम-जप जग करत नित, मज्जन पय, पावत पीवन जलु ।
करिहैं राम भावती मन की, सुख साधन अनयास महाफलु ।।[2]

अर्थात चित्रकूट म जाकर नित्य राम नाम जप रूपी यज्ञ तथा म दाकिनी जी म स्नान और उनका जलपान करते रहने के सुखपूण साधन से ही राम जी तेरी मनोकामना पूर्ण करेंगे और महान फल प्रदान करेंगे । यहा यह समझ

१ दोहावली ८६
२ विनय पत्रिका २४।६-१०

रखना चाहिए कि तुलसी के मतानुसार राम नाम का अवलम्ब ग्रहण करना राम का अवलम्ब ग्रहण करता है, है क्योकि नाम और नामी म अभेद होता है।[1] तुलसीदास तो नाम निष्ठा के कारण मानस म खुले खजाने घोषित ही नहीं सिद्ध कर चुके हैं कि राम जी का नाम उनके निर्गुण और सगुण दोनो रूपो से बडा है। इस भावना को वे अपने मन की प्रतीति, प्रीति, रुचि[2] बताते हैं। वास्तव म सिद्धान्त के स्तर पर भले नाम और नामी म अभेद हो, व्यवहार के स्तर पर तो साधको के लिए राम नाम का अवलम्ब ही सुलभ है अत वही उनके लिए बडा है। गुण, कर्म और काल से निरपेक्ष एकरस रहने वाले राम के धाम चित्रकूट म राम नाम को (अर्थात वस्तुत राम को ही) साधन बनाने पर जो फल मिलता है वह सासारिक वस्तुओ स्थितियो को प्राप्त करने के सदृश तुच्छ न होकर राम प्राप्ति सदृश महाफल ही होता है, यही इसका निष्कर्ष है।

फिर भी कुछ विद्वान कह सकते हैं कि चित्रकूट की महिमा को अतिरजित रूप मे अभिव्यक्त करने वाली इस उक्ति को अथवाद मानना चाहिए, तुलसी की साधना का प्रमाण नही। उनकी इस आपत्ति को निरस्त करने के लिए दोहावली का इसी भाव का दोहा उदधृत किया जा सकता है,

> चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत।
> राम नाम जप जापकहि, तुलसी अभिमत देत ॥[3]

इस दोहे मे भी तुलसी इस बात पर बल देते हैं कि चित्रकूट म सीता और लक्ष्मण के साथ श्रीराम सदा सर्वदा बसते हैं और वहाँ रहकर राम नाम जप करने वालो का मनोरथ पूर्ण करते है। अवश्य ही यह मनोरथ स्वार्थपरक भी हो सकता है और परमार्थपरक भी। यह तो जापक की मन स्थिति पर निर्भर है। तुलसी अपने लिए राम से प्रेम या सीधे शब्दो म राम की प्राप्ति को ही योग्य अभिमत मानते हैं, इसमे कोई दो मत नही हो सकता।

इसके अलावा एक पुष्ट प्रमाण और है। तुलसी ने मानस मे शरभग और सुतीक्ष्ण जी की साधना का सहृदय अकन किया है। स्मरण रहे शरभग और सुतीक्ष्ण तुलसी के कल्पित चरित्र नहीं है, वे वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्म रामायण के माध्यम से उन्हे मिले है। फिर भी तुलसी ने उनकी साधना का रूप वैसा ही अकित नही किया है जैसा वाल्मीकीय या अध्यात्म रामायण म

१ 'समुझत सरिस नाम अरु नामी' मानस १।२१।१
२ वही १।२३।३
३ दोहावली ४

चित्रित है । उन्होंने उसे एक बडी सीमा तक बदल दिया है । निश्चय ही यह परिवतन तुलसी की मान्यता को उजागर करने वाला माना जाना चाहिए अन्यथा परिवतन का कोई तुक ही नही रह जाता । अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं इन तीनो महान् ग्रन्थो मे चित्रित शरभग और सुतीक्ष्ण की साधना को साथ साथ उपस्थित करना आवश्यक समझता हूँ ।

वाल्मीकीय रामायण के पचम सग म उल्लेख है कि जब विराध का वध कर श्रीराम, सीता और लक्ष्मण के साथ शरभग ऋषि के आश्रम के निकट पहुँचे तो उन्हाने देखा कि दिव्य रथ पर आरूढ और देव गन्धव आदि से परिवेष्ठित देवराज इन्द्र से शरभग जी वार्तालाप कर रहे हैं । श्रीराम को अपनी ओर आते देखकर इन्द्र शरभग जी से विदा माग कर श्रीराम से बिना मिले शीघ्रतापूवक स्वग सिधारे । श्रीराम, सीता और लक्ष्मण ने अग्निहोत्र मे बैठे शरभग जी के चरणस्पश किये तो उन्होने बताया कि देवराज इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक ले जाने के लिए आये थे किन्तु आपके सदृश प्रिय अतिथि से बिना मिले मैं ब्रह्मलोक नही जाना चाहता था अत रुक गया । अब ब्रह्मलोक और स्वर्ग के साधन रूपी मेरे तप के फल को आप ग्रहण करें । श्रीराम के यह कहने पर कि उन लोको को तो मैं स्वय प्राप्त कर लूगा आप तो हम लोगा के निवास योग्य उचित स्थान बताने की कृपा करें । शरभग जी ने उन्हे मन्दाकिनी के किनारे-किनारे आगे बढते हुए सुतीक्ष्ण जी के आश्रम तक उनसे मिलने के लिए कहा, क्योकि वे ही उन लोगो के योग्य स्थान का निर्देश करने मे समथ है । श्रीराम से दो घडी रुकने का निवेदन कर शरभग ने चिता मे प्रवेश कर शरीर त्याग दिया । तदनन्तर वे अग्नितुल्य कातिमान कुमार का रूप धारण कर अग्निहोत्रिया, ऋषियो, महात्माओ, देवताओ के लोको का अतिक्रमण कर ब्रह्मलोक को चले गये ।[1]

महर्षि वाल्मीकि के अनुसार राक्षसो के अत्याचारो से सत्रस्त ऋषियो मुनियो को आश्वस्त कर जब उन लोगो के साथ श्रीराम, सीता और लक्ष्मण सुतीक्ष्ण जी के आश्रम पहुँचे तो उन्होने जटाजूटधारी तपोवृद्ध सुतीक्ष्ण जी को तपस्या मे लीन पाया । श्रीराम ने अपना परिचय देकर जब उनका ध्यान आकृष्ट किया तो उन्होने श्रीराम को गले से लगा कर कहा मैं आपकी प्रतीक्षा कर रहा था । आप सीता और लक्ष्मण के साथ मेरे तपोबल से जीते हुए लोको म विहार कीजिये । श्रीराम ने उनसे भी यही कहा कि उन लोको को मैं स्वय प्राप्त कर लूगा आप तो इस समय वन म हम लोगो के रहने योग्य स्थान का निर्देश करें ।

1 वाल्मीकीय रामायण अरण्यकाड, पचम सग

सुतीक्ष्ण जी ने प्रेमपूर्वक आतिथ्य कर उन्हे उस रात अपने आश्रम मे रोक रखा फिर दडक वनवासी पुण्यशील ऋषियो के आश्रमो के निरीक्षणार्थ प्रेषित कर पुन अपने आश्रम म आने को कहा। दस वर्षों तक विविध ऋषियो के आश्रमो म परिभ्रमण कर जब श्रीराम, सीता, लक्ष्मण पुन सुतीक्ष्ण जी के आश्रम म आये, तब उनके पूछने पर सुतीक्ष्ण जी ने उन्हे अगस्त्य जी के आश्रम का मार्ग बतला दिया।[1]

इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण म शरभग और सुतीक्ष्ण मूलत तपोबल से दिव्य लोको को जीतने वाले महान् महर्षि के रूप मे चित्रित हैं जो श्रीराम, सीता, लक्ष्मण के प्रति अनुरागयुक्त है।

अध्यात्म रामायण मे लक्ष्मण और सीता के साथ श्रीराम जब शरभग जी के आश्रम मे जाते है तो वे उठ खडे होते हैं, भली भाँति उनकी पूजा कर आसन पर बैठा कर उनका आतिथ्य सत्कार करते हैं। तदन तर वे श्रीराम स कहते है मैं बहुत काल से आपके दर्शनो की आकाक्षा से तपस्या कर रहा था। मुझे तपस्या के द्वारा जो बहुपुण्य प्राप्त हुआ है उस सबको आपको समर्पित कर मैं मुक्ति प्राप्त करूँगा। इस प्रकार श्रीराम को अपना महान् पुण्य फल अर्पित कर सीता सहित राम को प्रणाम कर श्रीराम, सीता, लक्ष्मण का ध्यान करते हुए, उनकी स्तुति करते हुए चितारूढ होकर अग्नि प्रज्वलित कर शरभग जी ने अपने को भस्म कर दिया। तदनन्तर वे दिव्य देह धारण कर साक्षात् ब्रह्मलोक को चले गये। अपनी स्तुति मे उ होंने अवश्य ही यह कहा कि मैं अन य भाव से जिनका नित्य स्मरण करता था वे कृपालु श्रीराम स्वय मेरे यहाँ पधारे। वे मुझे देख रहे हैं और मैं निष्पाप होकर ब्रह्मलोक जा रहा हूँ। मेरे हृदय मे मेघ मे लक्षित विद्युल्लता के सदृश श्रीराम और सीता विराजमान रहे।[2]

राक्षसो के आतक से ग्रस्त ऋषियो को अभय देकर जब श्रीराम सुतीक्ष्ण के आश्रम मे पधारे तो भक्तिवश उत्कठित लोचन वाले सुतीक्ष्ण जी उन्हे लेने स्वय आगे आये, उनका पूजन कर उनकी स्तुति करने लगे। भक्ति और ज्ञान से परिपूर्ण स्तुति के अ त म उन्होंने प्रार्थना की कि जो ज्ञानी जन आपके देश कालादि उपाधियो से रहित चिदघनस्वरूप का जानते है, वे भले वैसा जानें, मेरे हृदय म तो सदा आपका यही प्रत्यक्ष सगुण रूप विराजमान रहे। श्रीराम ने उनकी सराहना करते हुए कहा कि मुझे ज्ञात है कि मेरे अतिरिक्त तुम्हारा

१ वाल्मीकीय रामायण अरण्यकाड सप्तम एव एकादश सर्ग
२ अध्यात्म रामायण, अरण्यकाड २।१ १२

और कोई साधना नही है, जो नित्य निरपेक्ष और अनन्य भाव से मेरे मन्त्र का जप करते हुए मेरी ही शरण मे रहते है, मैं उन्हे नित्य प्रति दर्शन देता हूँ। तुम जीवितावस्था म ही सर्वथा मुक्त हो गये हो और शरीर छटने पर निस्सदेह मेरा सायुज्य पद प्राप्त करोगे। अब मुझे अगस्त्यजी से मिलना है। इस पर सुतीक्ष्ण जी स्वय उनके साथ अपने गुरु अगस्त्य जी के आश्रम मे चलने के लिए तैयार हो गये।[1]

इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण की तुलना मे अध्यात्म रामायण मे भक्ति भाव अधिक सान्द्ररूप मे विद्यमान है, किन्तु यहाँ भी तपस्या और योग पर शरभग जी का पर्याप्त बल है, वे रामजी के समक्ष चिता मे शरीर को दग्ध कर ब्रह्मलोक ही जाते है। सुतीक्ष्ण जी की स्तुति मे भक्ति के साथ ज्ञान का गहरा पुट है फिर भी उनकी अन्तिम प्रार्थना मे प्रभु के सगुण रूप के प्रति उनका प्रेमपूर्ण पक्षपात अवश्य ही स्पष्ट होता है। उनकी साधना मे अनन्यता और प्रभु को ही साधन मानने का भाव है, इसका स्पष्टीकरण भी श्रीराम करते है। सुतीक्ष्ण अपनी स्तुति मे इसे सीधे सीधे प्रकट नही करते।

इन दोनो उपजीव्य ग्रन्थो की तुलना म रामचरितमानस मे शरभग और सुतीक्ष्ण के प्रसगो मे पूरा बल निस्साधनता और अनन्यता पर ही दिया गया है। शरभग जी की उक्ति है,

चितवत पथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुडानी छाती॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। की ही कृपा जानि जन दीना॥
सो कछु देव न मोहि निहोरा। निजपन राखेउ जनमन चोरा॥[2]

वाल्मीकीय रामायण के महातपस्वी, महाप्राज्ञ, अपने तप प्रभाव से अक्षय, शुभ लोका को जीतने वाले महर्षि शरभग, अध्यात्म रामायण के तपोबल से बहुपुण्य लब्ध, विरक्त योगी शरभग मानस मे प्रभु से कहते हैं कि मैं सकल साधनो से हीन हूँ, आपने मुझे अपना दीन जन जान कर ही मुझ पर कृपा की है। यह मुझ पर आपका काई विशेष उपकार नही है। आपन तो अपनी प्रतिज्ञा की ही रक्षा की है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सकल साधन हीन होने का अर्थ, ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग आदि से रहित होना न होकर उनक बल के अहकार से रहित होना है।

यह भी लक्षितव्य है कि मानस के शरभग अपना योग जप तप व्रत प्रभु

१ अध्यात्म रामायण, अरण्यकाड २।२५-४०
२ मानस ३।८।३ ५

को समर्पित कर उनकी भक्ति का वर मांगते हैं, उनसे मिलने के लिए (उनके धाम मे जाने के लिए) तन त्यागते है, मुक्ति के लिए नही और ब्रह्मलोक न जाकर वैकुठ सिधारते है।

सुतीक्ष्ण जी के प्रसग म तो तुलसीदास ने निस्साधनता और अनन्यता की साधना को और भी चमका दिया है। सुतीक्ष्णजी का सबसे बड़ा परिचय तुलसी की दृष्टि मे यह है कि वे थे, 'मनक्रम, वचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक।'[1] इसे ही अनन्यता का आदश कहा जा सकता है कि शरणागत मन, कम, वाणी से राम का चरण सेवक हो और उसे स्वप्न मे भी किसी अन्य देवी-देवता का भरोसा न हो। नारदीय भक्ति सूत्र म अनन्यता का मुख्य लक्षण है, अन्याश्रयाणा त्यागोऽनन्यता।[2] श्रीराम के आगमन का सवाद सुनकर मानस म सुतीक्ष्णजी स्थिर नही रह पाये, अपने आश्रम मे रहकर प्रभु के आगमन की और अधिक प्रतीक्षा नही कर पाये, उनसे मिलने का मनोरथ करते हुए वे आतुर होकर दौड़ पड़े। उनकी भक्तिद्रवित मन स्थिति का चित्रण बहुत सधी लेखनी से तुलसी ने किया है। वे व्याकुल होकर सोचने लगते हैं कि क्या प्रभु मेरे जैसे शठ पर दया कर मुझे अपना सेवक मान कर मिलेंगे। अपनी निस्साधनता का भावपूर्ण निरूपण करते हुए व कह उठते ह,

मोरे जियँ भरोस दृढ़ नही। भगति बिरति न ग्यान मन माही॥
नहिं सतसग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥[3]

भला कैसे भरोसा कर पाऊँ कि प्रभु मुझे अपना लेंगे, न मुझमे भक्ति है, न वैराग्य, न ज्ञान, न सत्सग, न योग, न जप, न यज्ञ, न प्रभु के चरण कमलो के प्रति दृढ अनुराग ही। इस दुविधा भरी मन स्थिति मे उनकी दृष्टि अपनी ओर से हट कर प्रभु की ओर जाती है और वे आश्वस्त होकर कह उठते हैं,

एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पकज भव मोचन॥[4]

नही, नही, निराश होने की कोई बात नही है, प्रभु की तो यह जानी मानी आदत ही है कि जिसे और किसी का आसरा नही होता, उसे वे प्यार करते है। निश्चय ही मुझे ही उनका प्रेम मिलेगा जन्म-मरण के चक्र को नष्ट कर देने

१ मानस ३।१०।२
२ नारदीय भक्ति सूत्र—१०
३ मानस ३।१०।६ ७
४ वही ३।१०।८ ९

वाले उनके मुख कमल क दशन कर मेरे नेत्र आज सफल हो जायेंगे। तुलसी दास न इस स्थल पर सुतीक्ष्ण जी के चित्त मे अविरल प्रेमा भक्ति का पूण प्रकाश दिखाया है। वे अपने को भूल जात है, कहाँ जाना है, क्या करना है, यह भी भूल जाते हैं, कभी आगे जाते हैं, कभी पीछे, कभी गुण गा गा कर नाचने लगते हैं। तब प्रभु स्वय उनके हृदय म प्रकट हो जाते हैं। ध्यान रस मे मग्न सुतीक्ष्ण पुलकित शरीर लिए माग के बीच ही अचल होकर बैठ जाते हैं। प्रभु उन्हे जगाने के लिए अपना राम रूप छिपाकर चतुभुज रूप दिखाते है। यह भी अनन्यता की परीक्षा ही है। राम रूप का अनन्य उपासक जानकी नाथ, लक्ष्मीनाथ और परमात्मा मे अभेद मानता हुआ भी राम रूप को ही अपना सवस्व मानता है। व्याकुल होकर सुतीक्ष्ण उठ बैठते ह और सामने ही अपने इष्ट देव को पाकर उन्ह दडवत प्रणाम करते हैं। यह पूरा प्रसग सुतीक्ष्ण जी क परम्पराप्राप्त चरित्र मे तुलसी के द्वारा की गयी नयी उद्भावना है।

मानस मे भी सुतीक्ष्ण जी श्रीराम की स्तुति करते है और खोजने वालो को इसम अध्यात्म रामायण की स्तुति की कही कही प्रतिध्वनि मिल सकती है। किन्तु उसकी फलश्रुति के रूप मे की गयी याचना अत्यन्त विलक्षण है,

'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।'[1]

इसमे 'ग्यान मान जह एकउ नाही। देख ब्रह्म समान सब माही।'[2] रूपी ज्ञान के लक्षण की पूरी अवहेलना कर श्रीराम को स्वामी और अपने को उनका सेवक मानने का अभिमान जीवन पर्यन्त बनाए रखने की प्राथना की गयी है। ज्ञान जितनी मात्रा मे भक्ति का सहायक बनकर आये, उतनी ही मात्रा तक सुतीक्ष्ण जी को वह स्वीकार है, सेव्य सेवक दोनो को ब्रह्म प्रतिपादित कर सब प्रकार के मान (फिर अभिमान की गुजाइश ही कहा है) से रहित बना देने वाला ज्ञान उन्ह प्रिय नही है। इसीलिए प्रभु से अविरल भक्ति वैराग्य, विज्ञान समस्त गुणो और ज्ञान के निधान होने का वरदान पाकर भी सुतीक्ष्ण जी की लालसा यही वरदान पाने की है,

अनुज, जानकी सहित प्रभु, चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इदु इव बसहु सदा निहकाम।।[3]

मानस के शरभग और सुतीक्ष्ण के ये परिवर्तित, परिवर्धित प्रसग इस तथ्य

१ मानस ३।११।२१
२ वही ३।१५।७
३ वही ३।१७

के निश्चित प्रमाण हैं कि तुलसीदास ने चित्रकूट के निकटस्थ इन दोनो सन्तो के माध्यम से अपनी प्रिय, स्वय अपने द्वारा चित्रकूट मे उपलब्ध एव आचरित साधना पद्धति को मत्त कर दिया है। यह ठीक है कि शरणागति के मूल तत्त्वो के रूप मे निस्साधनता या अकिंचनता एव अनन्यता को परम्परा से ही स्वीकार किया जाता रहा है। उदाहरण के लिए यामुनाचार्य ने अपने प्रसिद्ध आलवदार स्तोत्र मे कहा है,

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमास्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगति शरण्य
त्वत्पादमूल शरण प्रपद्ये ॥[1]

अर्थात् न तो मैं धर्मनिष्ठ हूँ न आत्मवेत्ता (ज्ञानी), न तुम्हारे चरण-कमलो मे मेरी भक्ति ही है हे शरण लेने योग्य प्रभु! मैं तो अकिंचन, निःसाधन हूँ, मेरा कोई दूसरा आश्रय नही है, मैं तो केवल तुम्हारे चरण कमलो की शरण मे आ गया हूँ। पूर्वोद्धृत तुलसी का दोहा, 'करमठ कठमलिया कहैं, ज्ञानी ज्ञानबिहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरे दीन।' इस श्लोक के अनुरूप ही है। किंतु यह भाव तुलसी के लिए सुना सुनाया न होकर चित्रकूट मे अनुभूत अपना जीवन सत्य है, यह भी ठीक है। यह इससे भी स्पष्ट है कि विनय पत्रिका के जिस पद मे तुलसी ने कृपालु कोशलपाल द्वारा अपने प्रति (या अपने लिए) दिये गये चरित्र को स्मरण करने के लिए कहा है उसी मे अपने से यह भी पूछा है कि अपने चारो नेत्रो से (दो बाह्य नेत्रों और दो ज्ञान वैराग्य के नेत्रो से) देख कर बता कि तीनो लोको और तीनो कालो मे हरि के समान तेरा और कौन हितू है।[2] इस प्रश्न मे उत्तर निहित है कि हरि के समान हितू और कोई नही है अत एक मात्र उन्ही का आश्रय लेना चाहिए। यही अनन्यता है। इसी पद मे आगे वे कहते हैं, करम धरम, स्रमफल रघुबर बिनु राख को सो होम है, ऊसर कैसो बरसो,[3] अर्थात् श्रीराम से सम्बन्ध जोड़े बिना, उनका अवलम्ब लिये बिना अपने साधन के रूप मे किये गये सारे कर्मों, धर्मों (भक्ति, ज्ञान, कर्म, योग आदि समस्त उपायो) का फल केवल उनके करने मे होनेवाला

१ आलवन्दार स्तोत्रम—२५
२ चारिहूँ बिलोचन बिलोकु तू तिलोक महँ तरोतिहू काल कहु को है हितु हरि सो। विनय पत्रिका २६४।२-३
३ वही २६४।२० ११

श्रम ही है अर्थात वे राख मे होम करने या ऊसर मे वर्षा होने के समान ही निष्फल है। इसका मथितार्थ यही है कि अपने समस्त साधनो का अहकार छोड कर निस्साधन हो जाना चाहिए। राम ही को (या राम के नाम को) अपना साधन बनाना चाहिए और महाफल के रूप मे राम को पाना ही अपना साध्य मानना चाहिए। तुलसी चित्रकूट की इसी शिक्षा को, साधना को स्मरण कर जीवन भर के लिए चित्त म धारण कर लेना चाहते है।

क्या यह साधना चित्रकूट म रहकर ही की जा सकती है? इसका भी बडा अद्भुत उत्तर तुलसीदास ने दिया है। निश्चय ही धाम की भौगोलिक सत्ता है और उसकी भी महामहत्ता है। तभी तो तुलसीदास बार बार चित्रकूट आते रहते थे और अन्यत्र रहने पर चित्त को समझाते रहते थे कि ओ भाई, अब सचेत होकर चित्रकूट चल। किन्तु यही अन्तिम बात नही है। तुलसीदास चित्रकूट का अध्यात्मीकरण कर लेने के पक्ष मे भी है। आध्यात्मिक का अर्थ आजकल अंग्रेजी पढे लिखो के द्वारा स्पिरिचुअल समझा जाता है जो मेटीरियल अर्थात भौतिक का यदि विरोधी नही तो उससे परे अवश्य है। अपनी परम्परा मे अध्यात्म का अर्थ है आत्मनि अधि या अपने भीतर। देह के भीतर इन्द्रिय मन, बुद्धि, उनकी विविध वत्तियाँ, उनके घात सघात, आत्मा, परमात्मा इन सबको अपनी परम्परा मे अध्यात्म सम्बन्धी या आध्यात्मिक कहा जाता रहा है। इसी लिए तुलसी ने 'दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा'[1] मे दैहिक का प्रयोग आध्यात्मिक के अर्थ मे किया है। अत अध्यात्मीकरण का अर्थ हुआ बाहरी सत्ता को अपनी भीतरी सत्ता बना लेना। यह सब समय सदा के लिए सभव नहीं है कि वे चित्रकूट आ पाये लेकिन यह सम्भव है कि वे चित्रकूट को अपने भीतर ले आयें, चित्रकूट की आध्यात्मिक सत्ता का अनुभव करें। चित्रकूट के पवतवन जलस्रोत श्रीसीताराम के विहार स्थल रहे है, इसीलिए वे इतने महिमान्वित हो सके है। यदि कोई ऐसा उपाय किया जा सके जिससे सीताराम का विहार अपने भीतर हो सके तो अपना अन्तर ही चित्रकूट के सदश हो जायगा, चित्रकूट बन जायगा। तुलसीदास के अनुसार इसका उपाय है निरन्तर राम कथा का श्रवण करते रहना। जिस प्रकार मदाकिनी में स्नान कर शरीर और मन दोनो का मैल धुल जाता है, उसी प्रकार राम कथारूपी मन्दाकिनी के श्रवण रूपी स्नान से चित्त निमल होने लगता है, पवित्र होने लगता है, उसम श्रीराम के प्रति स्नेह उत्पन्न हो जाता है। यही

१ मानस ७।२१।१

निर्मल, पवित्र, चारुचित्त चित्रकूट बन जाता है, उसके सुन्दर राम प्रेम का भाव ही चित्रकूट के चारो ओर के सुन्दर वन जैसा आभासित होने लगता है, जिसमे निरन्तर सीताराम विहार करते रहते है। अत तुलसी के मतानुसार चित्रकूट म रहकर या चित्रकूट का अध्यात्मीकरण कर लेने के बाद कही भी रहकर यह साधना अविच्छिन्न रूप से की जा सकती है। तुलसी ने सचमुच असाधारण भगिमा मे लिखा है यह दोहा,

राम कथा मदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबीर बिहारु ॥[1]

१ दोहावली १६५

कथा राम कै गूढ़

श्री रामचरितमानस के उपक्रम मे ही तुलसीदास ने रामकथा को गूढ कहा है।[1] जिस चरित के रचयिता स्वय भगवान शिव हो, जिसे उनकी कृपा से भगवती पार्वती ने सुना हो, रामभक्ति का अधिकारी होने के कारण जिस कथा को काकभुशुडि ने शिवजी के अनुग्रह से (महर्षि लोमश के माध्यम से) प्राप्त कर योगी याज्ञवल्क्य को सुनाया हो, याज्ञवल्क्य से जिसे महर्षि भरद्वाज ने सुना हो, वह कथा गभीर तत्त्वज्ञान पूर्ण हो, यही स्वाभाविक है। गुरु परम्परा से प्राप्त उसी कथा को तुलसीदास ने 'सूकर खेत' मे अपने बालपन म अपने ज्ञान निधि गुरु से सुना था। अति अचेत होने के कारण वे उसे उस समय ठीक-ठीक समझ नही सके। परम उदार गुरुदेव ने जब बार बार वह कथा उ ह सुनायी तब वे अपनी मति के अनुसार उसे कुछ-कुछ समझ पाये। अपने मन के प्रबोधन के लिए अर्थात् अपने सदेह, मोह और भ्रम को नष्ट करने के लिए उसी कथा को अपनी बुद्धि और विवेक के सहारे एव हरि की प्रेरणा से भाषाबद्ध करने का सकल्प उन्होने किया, जो प्रभु कृपा से रामचरितमानस के रूप मे परिपूण हुआ। इसका सीधा सरल अथ यह है कि रामचरितमानस केवल लोकरजन करने वाला साधारण काव्यग्रन्थ नही है वह इतने गूढ तत्त्वो से युक्त है कि बुधजनो को भी विश्राम प्रदान करने मे समथ है।

गूढ शब्द सस्कृत के गूढ का रूपा तर है। गूढ शब्द गुह् धातु मे क्त प्रत्यय के योग से बनता है। इसका अथ है गुप्त, छिपा हुआ, ढका हुआ, गहन, जिसमे कोई छिपा अथ या व्यग्य हो।[2] इसी से मिलता जुलता एक और शब्द है गुह्य जो गुह् धातु मे क्यप प्रत्यय जुडने पर सिद्ध होता है और जिसका अथ होता है छिपने के योग्य, गुप्त, गूढ, कठिनता से समझ मे आने वाला, भेद,

१ मानस १।३० ख

२ सस्कृत शब्दाथ कौस्तुभ ३६६

रहस्य आदि।[1] तुलसीदास ने गुह्य का प्रयोग तो नहीं किया है किन्तु 'रहस्य' शब्द का प्रचुर प्रयोग किया है। रहस् मे यत् प्रत्यय को जोडकर बनाये गये रहस्य शब्द के प्रमुख अथ है, वह जिसका तत्व सहज मे सबको समझ म आ सके, गुप्त भेद, गोपनीय विषय गाप्यसिद्धात।[2] तुलसीदास के द्वारा प्रयुक्त गूढ और रहस्य के विशिष्ट अर्थों पर भी थोडा विचार कर लेना लाभदायक होगा।

'प्रनवो परिजन सहित बिदेहू, जाहि राम पद गूढ सनेहू।'[3]
'गूढ प्रेम लखि परे न काहू'[4] 'गूढ सनेह भरत मनमाही'[5] जैसे स्थलो पर तुलसीदास न गूढ शब्द का प्रयोग गुप्त, जितना मालूम होता है उससे कही अधिक जैसे अर्थों म किया है। किन्तु जब गूढ शब्द का प्रयोग वे वचन या गिरा जैसे विशेष्यो क पूव करते हैं तब उसका अथ अभिप्रायगर्भित, रहस्यपूण, गम्भीर अथवाला प्रतीत होता है, 'जैसे रामवचन मृदु गूढ सुनि उपजा अति सकोच'[6] 'कह मुनि बिहसि गूढ मृदु बानी, सुता तुम्हारि सकल गुनखानी'[7] 'गूढ गिरा सुनि सिय सकुचानी'[8] 'सुनि मृदु बचन गूढ़ रघुपति के, उघरे पटल परसुधर मति के'[9] आदि। गति, गुण या तत्त्व के पूव जब गूढ़ का प्रयोग किया जाता है तब उसका अथ रहस्यमय, कठिन, गम्भीर प्रतीत होता है, जैसे 'जाना चहहिं गूढ गति जेऊ, नाम जीह जपि जानहि तेऊ'[10] 'चाहहु सुने राम गुन गूढा'[11] 'गूढउ तत्त्व न साधु दुरावहिं'[12] इन अर्थों को दृष्टिगत रखते हुए यदि श्रोता 'वक्ता ग्यान निधि कथा राम के गूढ' तुलसी की इस युक्ति पर

१ सस्कृत शब्दाथ कौस्तभ ३६६
२ वही ३८६
३ मानस १।१७।१
४ वही १।२६४।३
५ वही २।२८४।४
६ वही १।५३
७ वही १।६७।१
८ वही १।२३४।७
९ वही १।२८४।६
१० वही १।२२।३
११ वही १।४७।४
१२ वही १।११०।२

विचार किया जाये तो उसका तात्पय प्रतीत होता है कि श्रीराम की कथा इतन गम्भीर रहस्यो और विशिष्ट अभिप्राया से युक्त है कि उसका सम्यक बोध ज्ञाननिधि वक्ता के प्रवचन द्वारा श्रद्धालु ज्ञानी श्रोताओ को ही हो सकता है।

श्रीराम कथा अनेकानेक रहस्यपूण तत्त्वो से युक्त है, इस स्थापना का समथन भगवती पावती की इस उक्ति मे सहज ही होता है, 'औरउ राम रहस्य अनेका, कहहु नाथ अति विमल विवेका'[1] अर्थात ह अत्यन्त विमल विवेक युक्त स्वामी। रामजी के और भी जो अनेकानेक रहस्य हैं उनका भी वर्णन कीजिये। इसके पहले वे उस तत्त्व का वणन करने का अनुरोध शिवजी से कर चुकी थी जिस विज्ञान मे ज्ञानी मुनि भी मग्न रहते हैं, भक्ति, ग्यान, विज्ञान, वैराग्य का वणन उनके विभागो के साथ करने की प्राथना भी वे कर चुकी थी। स्पष्टत ये सब उनकी दृष्टि म रामजी क रहस्य ही हैं तभी इनके अतिरिक्त भी अनेक रहस्यो का विवेचन करने की प्राथना सगत हो सकती है।

तुलसी ने बार बार कहा है कि उनके द्वारा वर्णित रामकथा मे घटना प्रवाह के मध्य अनेकानेक राम रहस्य गुम्फित हैं। 'ताते नहिं कछु तुम्हहिं दुरावउँ, परम रहस्य मनोहर गावउँ'[2] 'भगति, ग्यान, बिग्यान, बिरागा, जोग, चरित्र रहस्य बिभागा, जानब तैं सब ही कर भेदा'[3] 'तव प्रसाद मम मोह नसाना, राम रहस्य अनूपम जाना'[4] 'राम रहस्य ललित बिधि नाना, गुप्त प्रकट इतिहास पुराना'[5] 'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जान कोइ, जो जानै रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होइ'[6] आदि वचना से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी द्वारा वर्णित रामकथा मे श्रीराम के स्वरूप का एव भक्ति, ज्ञान विज्ञान, वैराग्य, योग, चरित्र आदि के अनेकानेक अनुपम रहस्यो का निरूपण भी हुआ है किन्तु उन्हें ठीक ठीक समझ पाना राम कृपा या सन्त कृपा के द्वारा ही सम्भव है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भगवत्तत्व एव भगवत् प्राप्ति के साधना

१ मानस १।१११।३
२ वही ७।७४।४
३ वही ७।८५।७ ८
४ वही ७।८३।८
५ वही ७।११४।२
६ वही ७।११।५५

का निरूपण जिन ग्रंथो या प्रकरणो मे किया जाता रहा है उन्हे गूढ, गुह्य रहस्य कहने की परम्परा रही है। अध्यात्म रामायण के आरम्भ से ही पार्वती जी की जिज्ञासा के उत्तर मे महादेव जी ने कहा था,

धन्यासि भक्तासि परात्मनस्त्व
यज्ज्ञातुमिच्छा तव रामतत्त्वम्।
पुरा न केनाप्यभिचोदितोऽहं
वक्तु रहस्य परम निगूढ ॥[1]

अर्थात तुम धन्य हो, तुम परमात्मा की परमभक्त हो, जो तुम्हे राम का तत्त्व जानने की इच्छा हुई। उससे पूर्व इस परम निगूढ रहस्य का वर्णन करने के लिये मुझसे और किसी ने नही कहा। इसी तरह दुर्गासप्तशती के पूर्ववर्ती देवी कवच को यदि 'गुह्यतम' कहा गया है तो उसके उत्तरवर्ती प्राधानिक रहस्य, वैकृतिक रहस्य और मूर्ति रहस्य के माध्यम से भगवती की प्रधान प्रकृति का, उनकी विकृतियो (अवतारो) के ध्यान, पूजन आदि की महिमा का तथा उनकी अगभूता छहो देवियो के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता मे 'इद तु ते गुह्यतम प्रवक्ष्याम्यनसूयवे'[2] 'इति गुह्यतम शास्त्रमिदमुक्त मयानघ'[3] 'सवगुह्यतम भूय शृणु मे परम वच'[4] भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्य ह्येत दुत्तमम[5] आदि वचनो के द्वारा श्रीकृष्ण ने अपने द्वारा प्रतिपादित भक्ति, शरणागति, ज्ञान, धर्म आदि की महिमा और गोपनीयता को सकेतित किया है। इसी परम्परा का अनुगमन करते हुए तुलसीदास ने श्रीराम कथा मे निरूपित श्रीराम तत्त्व और उनकी प्राप्ति के साधनो को परम मनोहर रहस्य कहा है। उनसे सयुक्त होने के कारण राम कथा स्वाभाविक रूप से गूढ हो गयी है।

रामकथा की यह गूढता उसमे निहित गभीर अर्थों के कारण ही है। तुलसीदास ने अर्थ सयोजन मे असाधारण कुशलता का प्रमाण दिया है। मानस के पहले ही श्लोक मे अर्थसघाना का उल्लेख हुआ है। तुलसी एक ही अर्थ से सतुष्ट नही होते, उनकी दृष्टि मे वाणी की विशेषता अर्थों के समूहो को एक

१ अध्यात्म रामायण १।१।१६
२ गीता ६।१
३ वही १५।२०
४ वही १८।६४
५ वही ४।३

साथ वहन करने मे समर्थ होने के कारण ही है। शब्दार्थ, वाक्यार्थ अथवा वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ तो निश्चय ही मानस मे अन्य काव्यो की तरह सुलभ हैं किन्तु मानस के अर्थगाम्भीर्य की इयत्ता इन्ही तक नही है। रामचरित मानस-सर मे चारु चौपाइयो की सघन पुरइनो के बीच खिले छन्दो, सोरठो और दोहों रूपी कमलो के अनुपम अर्थ को उनका पराग, सुन्दर भावो को मकरन्द और सुन्दर भाषा को उनकी सुगन्ध बताना साभिप्राय है।[1] प्रश्न है, मानस के दोहो, सोरठों, छन्दो, चौपाइयो के अर्थों की अनुपमता क्या है? 'अरथ अमित अति आखर थोरे'[2] केवल भरत जी की वाणी की ही विशेषता नही है तुलसी की वाणी के लिए भी यही सत्य है। तुलसीदास के अभिप्रेत अर्थ समूह को ग्रहण कर पाने के लिए उनके एक और सकेत पर विचार करना आवश्यक है।

तुलसीदास ने बार-बार कहा है कि उनका रामचरितमानस सर 'त्रिविध दोष दुख दारिद दावन'[3] है, कि जो इसमे सादर स्नान करता है अर्थात सम्मानपूर्वक रामकथा का श्रवण करता है वह 'महाघोरत्रयताप न जरई'[4] कि रामचरितमानस सर से निकली राम के विमल यश से भरी कविता रूपी सरयू, रामभक्ति रूपी गगा से मिलकर आगे बढ़ी तो उसमे लक्ष्मण सहित राम जी का समर यश रूपी महानद सोन आ मिला तब यह त्रिविधताप त्रासक तिमुहानी'[5] राम के स्वरूप सिन्धु से मिलने के लिए अग्रसर हुई। अधिक उद्धरण देने की आवश्यकता नही, यह स्पष्ट है कि तुलसीदास की मान्यता थी कि उनकी रामकथा त्रिविध दोषो या तीनो तापो को दूर करने मे समर्थ है। ये तीनो ताप आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप ही हैं। यह बात सर्व स्वीकृत है कि किसी ताप का निवारण समसत्ताक (अर्थात एक जैसी सत्ता वाला) होकर ही किया जा सकता है। आधिभौतिक ताप के निवारण के लिए जिस प्रकार आधिभौतिक उपाय ही समर्थ हैं, उसी प्रकार आधिदैविक और आध्यात्मिक तापो को दूर करने के लिये आधिदैविक और आध्यात्मिक साधन ही अभीष्ट होंगे। यदि एक ही कथा से इन तीनो प्रकारो के ताप दूर

१ मानस १।३७।४ ७
२ वही २।२६४।३
३ वही १।३५।१०
४ वही १।३८।६
५ वही १।४०।४

हो जाते है तो इसका अभिप्राय यही है कि इस कथा म आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनो स्तरो की परम्पराएँ अनुस्यूत हैं जिनसे प्रेरणा लेकर तीनो स्तरो के तापो को दूर करना सम्भव है। इस विषय का विवेचन ठीक-ठीक हो सके इसके लिए अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म और इन तीनो के तापो के अर्थों को स्पष्ट कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

आकाश आदि पच महाभूतो के शब्द स्पश रूप रस ग धयुक्त एव उत्पत्ति विनाशशील समस्त काय अधिभूत है। इसीलिए गीता म कहा गया है 'अधिभूत क्षरो भाव'[1] अर्थात क्षर नाशवान भाव अधिभूत है। 'पुरुषश्चाधिदैवतम'[2] क अनुसार समस्त जगत मे ओत प्रोत, सब प्राणियो के इ द्रियाधिकरणो का अनुग्राहक, इन्द्र प्रजापति आदि समस्त देवताओ के ऊपर वर्तमान हिरण्यगभपुरुष अधिदैव है। व्यवहार म हिरण्यगभ के अशस्वरूप सभी देवताओ को अधिदैव कहते हैं और इह देहान्तिनित्य परिवतनशील पदार्थों का नियामक मानते है। आत्मनि अधि अपन (शरीर के) भीतर इस निरुक्ति के अनुसार अध्यात्म को शरीर के भीतर की इन्द्रियो, मन बुद्धि, चित्त, अहकार का (तथा मनोवेगो, प्रवत्तियो आदि का भी) सूचक माना जाता है। अध्यात्म के द्वारा जब शरीर के अ तरगतम तत्त्व का बोध कराया जाता है तो उस स्थिति मे उससे जीव प्रत्यगात्मा या परमात्मा तक का अथ ग्रहण किया जा सकता है। 'स्वभावोऽध्यात्मउच्यते।'[3] गीता क इस कथन के अनुसार स्वभाव को ही अध्यात्म कहा जाता है। शकराचाय के अनुसार यहाँ स्वभाव का अथ है आत्मा यानी शरीर को आश्रय बनाकर उसमे रहन वाला तत्त्व, जो परमार्थत ब्रह्म ही है'[4] रामानुजाचाय क मतानुसार प्रकृति ही स्वभाव है, वह अनात्मभूत कि तु आत्मा स सम्बद्ध सूक्ष्मभूत और उसकी वासना आदि का द्योतक है। अधिकतर पारम्परिक विद्वानो क अनुसार सामा यत इ द्रियो, अन्त करण और उनकी वृत्तिया आदि का अध्यात्म उनके प्रकाशको को अधिदैव और उनके विषयो को अधिभूत कहत है। अधिभूत प्रत्यक्ष है अधिदैव परोक्ष और अध्यात्म अपरोक्ष है। ये तीनो प्रकृति के अ तगत हैं। आत्मा इन तीनो का साक्षी है, साक्षात अपरोक्ष तत्त्व है।

१ गीता ८।४
२ वही ८।७
३ वही ८।३
४ गीता के ८।३ श्लोक पर शाकरभाष्य

वदान्त की मान्यता है कि जगत के समस्त भोगो की सिद्धि अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत की त्रिपुटी द्वारा ही सम्भव है। उदाहरण के लिए नेत्र इन्द्रिय अध्यात्म है, नेत्र का विषय रूप अधिभूत है और नेत्र का सहायक (पुरानी भाषा म अधिपति) सूर्य अधिदैव है। स्मरणीय है कि सभी जागतिक प्रकाश सूर्य के अशभूत माने जाते है, देखने की क्रिया रूपोपभोग इनमे से किसी एक क भी अनुपस्थित रहने से सम्भव नही है। इसी प्रकार ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय (अर्थात् १० बाह्यकरण) और ४ अन्त करण य १४ मुख अपने १४ विषयो और १४ देवताओ स मिलकर जगत का उपभोग करते है।[1]

सामान्य व्यक्तियो को जगत का अनुभव सुख दुख परक लगते हैं। विवेकियो का मत है कि जगत् से प्राप्त ह्लाद और परिताप दोनो वस्तुत दु खरूप ही है। भोग काल मे सुखप्रद लगने वाले सासारिक पदार्थ और कार्य भी परिणाम मे दु खजनक है, क्योकि उनसे अपूरणीय तृष्णा जागती है, राग, द्वेष, हिंसा, आदि की उत्पत्ति होती है। उनके विनाश की आशका, भोग की अपूर्णता अन्यो का प्राप्त बहुलता से उत्पन्न ईर्ष्या और विनष्ट भोगो की स्मृति ये सब दु खद तापप्रद ही हैं। चूकि भोग अध्यात्म अधिदैव और अध्यात्म की त्रिपुटी द्वारा भोगे जाते हैं, अत ताप भी अपने प्रमुख हेतु के अनुरूप आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कह जाते हैं। वस्तुत प्रत्येक ताप मे तीनो ताप न्यूनाधिक मात्रा म मिले रहते हैं।

तुलसी को वेदान्त की यह मान्यता स्वीकार है। उन्होने स्पष्ट लिखा है,

'विषय करन, सुर, जीव समेता, सकल एकसे एक सचेता।'[2]

अर्थात् विषय (अधिभूत) करण (इन्द्रिया, अध्यात्म) और उनके अधिपति सुर (अधिदैव) एक से एक अधिक सचेत हैं। इसम ध्यान देने की बात यह भी है कि तुलसी, सुरा देवताओ से भी जीवात्मा को अधिक सचेत और श्रेष्ठ मानत हैं। यह जीव अनुभव करता है कि यह 'हरि आश्रित जग' जदपि असत्य दत दुख अहई'[3] इस दु ख से छुटकारा पाने के लिए जब जीव 'जड-चेतन' की ग्रथि को खोलने की इच्छा से ज्ञानदीप के प्रकाश क लिए यत्न करता है तो इन्द्रिय रूपी झरोखो के अधिष्ठाता देवता इसे व्यर्थ करने के लिए बलपूर्वक अपनी इन्द्रिय का झरोखा खोल देते है ताकि विषय रूपी वायु प्रवेश कर ज्ञान दीप को बुझा दे,

१ स्वामी सत्यानन्द पुरीकृत वेदान्त विज्ञान सोपान, पृ० २३-२५
२ मानस १।११७।५
३ वही १।११८।१

'इन्द्री द्वार झरोखा नाना, तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।
आवत देखहिं विषय बयारी, ते हठि देहिं कपाट उघारी।
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई, तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।'[1]

तुलसी ने इस विघ्न सृष्टि का कारण बताते हुए लिखा है, इन्द्रि ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई, विषय भोग पर प्रीति सदाई'[2] विषय भोग की प्रीति के कारण इन देवताओ को ज्ञान अच्छा नही लगता क्योंकि उससे तो उनकी क्रीड़ा का स्थल यह जगत असत्य सिद्ध होकर नष्ट हो जाता है।

देहेंद्रियप्राणेन सुख दुख च प्राप्यते।
इममाध्यात्मिक ताप जायते दु खदेहिनाम ॥[3]

अर्थात देहधारी निज देह, इंद्रिय बाह्यकरण और अंत करण एव प्राण के द्वारा जिन सुखो और दु खो का अनुभव करते हैं, उन्हे ही आध्यात्मिक ताप कहते हैं। कभी कभी देह की प्रधानता से आध्यात्मिक ताप को दैहिक ताप भी कह दिया जाता है। बात यह है कि देह वासना से निर्मित होती है और वासना अन्तवर्ती होती है। यह ठीक है कि देह का बाहरी रूप आँखो से दिखता है और वह उतनी मात्रा मे प्रत्यक्ष है किन्तु अपने स्वरूप के बारे मे जीव को ऐसी गहरी भ्रान्ति है कि अन्य प्रत्यक्षो की तरह हम लोग साधारणत अपनी देह को अपने से अलग नही मान पाते। मुझको बुखार है', 'मुझे बडा दद हो रहा है' जैसे प्रयोगो से स्पष्ट है देह के बाहरी रूप को भी अपने से अभिन्न मानना ही साधारण परिपाटी है। इसीलिए तुलसीदास ने राम राज्य का वर्णन करते हुए लिखा—

'दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, रामराज नहिं काहुहि ब्यापा'[4]

यहाँ दैहिक ताप का अभिप्राय आध्यात्मिक ताप ही है।

आध्यात्मिक ताप द्विविध होता है शरीर और मानस। वात, पित्त, कफ की विकृति से शारीरिक और काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, विषाद आदि से मानसिक ताप होता है। आन्तर हेतुओ के फलस्वरूप होने के कारण ही इन्हे आध्यात्मिक ताप कहते हैं। ये तीनो तापो मे सबसे अधिक क्लेशकारक होते हैं।

१ वही ७।११८।११ १३
२ वही ७।११८।१५
३ हिन्दी दास बोध, पृ० ६३ पर उद्धृत
४ मानस ७।२१।१

देव देवी यक्ष-राक्षस, ग्रह आदि के अनुग्रह या कोप से उत्पन्न सुख दु ख को आधिदैविक ताप कहते है। इ हो के अन्तगत अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आँधी-तूफान, भूकम्प, सर्दी, गर्मी, मरने के बाद के स्वर्ग-नरक के भोग आदि की भी गणना की जाती है।

आधिभौतिक ताप उन सुख-दु खा को कहते हैं जो चराचर भूतो, मनुष्यो, पशु-पक्षिया, स्थावर पदार्थों के निमित्त से प्राप्त होते हैं। इ हीं के अन्तर्गत राजकीय, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि व्यवस्थाओ के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख दु खो की भी गिनती कर ली जाती है।

तुलसी श्रद्धापूवक घोषित करते है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीना प्रकारो के तापो और भव भय को दूर करने मे समथ है उनकी रामकथा—'सुन खगपति यह कथा पावनी, त्रिविध ताप भव भय दावनी।'[1] इस घोषणा के बावजूद तुलसीदास यह भली भाति जानते है कि अधिकाश लोग सचमुच तापमुक्त होना चाहते ही नही, वे तो इस ससार मे सुख भोग करना और दु खा से बचना चाहते ही नही, वे तो इस ससार मे सुख भोग करना और दु खो से बचना चाहते हैं। राम कथा के 'श्रोता त्रिविध समाज'[2] के हैं, इसे वे अच्छी तरह जानते है। इसीलिए उ होने लिखा है 'सुनहिं बिमुक्त, बिरत अस बिषई, लहहिं भगति, गति, सपति नई।'[3] विषयीजनो की सख्या ही अधिक है और वे धम कम (और मानसकथा का श्रवण भी।) सकाम भाव से ही करते है। अत तुलसीदास ने उनके लिए विशेष रूप से लिखा,

'जे सकाम नर सुनहिं, जे गावहिं। सुख सपति नाना बिधि पावहिं॥
सुर दुलभ सुखकरि जगमाही। अतकाल रघुपतिपुर जाही॥'[4]

यह तुलसी की श्रद्धा है कि राम कथा की अपूव महिमा के कारण सकाम श्रोता भी अ त मे भगवान को पा लेते है।

प्रश्न है कि रामचरितमानस की कथा किस प्रकार तीनो तापा से मुक्ति देती है। इसका युक्ति सगत उत्तर यही है कि रामचरितमानस के श्रद्धापूवक अनुशीलन से भिन्न भिन्न तापो से मुक्ति पाने के समसत्ताक उपाय सुलभ होते हैं। इन उपायो के अनुकूल आचरण करने से ही व्यक्ति तापमुक्त हो सकता है। एक प्रसिद्ध श्लोक है—

१ मानस ७।१५।१
२ वही १।३६
३ वही ७।१५।५
४ वही ७।१५।३ ४

न हस्ते यष्टिमादाय देवा रक्षन्ति साधवम् ।
य तु रक्षितुमिच्छन्ति सुबुद्धया योजयन्ति तम् ॥[1]

अर्थात, देवता हाथ म लाठी लेकर साधक की रक्षा नही करत, वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि प्रदान करत ह । तुलसीदास इस मान्यता से सहमत प्रतीत होते हैं । विनय पत्रिका म उन्होने कहा है कि हरि, गुरु की करुणा से मिले विवेक से ही भवसागर पार किया जा सकता ह ।[2] मानस म तो भगवती सीता से उन्होन निमल मति की ही याचना की है—

'जनकसुता जगजननि जानकी, अतिसय प्रिय करुना निधान की ॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ, जासु कृपा निरमल मति पावउँ ॥[3]

केवल निमल मति से ही तीनो तापो का नष्ट करन के उपाय सूझते हैं, राग द्वेषग्रस्त मति तो तापो को और बढ़ा देती है । इसका निर्देश करते हुए तुलसी ने लिखा है, 'काल दड गहि काहु न मारा, हरइ धम बल बुद्धि बिचारा'[4] अर्थात काल किसी को लाठी लेकर नही मारता, वह धम बल, बुद्धि और विचार को हरकर जिसको चाहता है, उसको नष्ट कर देता है । निष्कष यही है कि रामचरित मानस मे तीनो स्तरो की समस्याओ के समाधानो के सकत हैं, निमल बुद्धि से उन्हे ग्रहण कर, उनके अनुरूप आचरण कर श्रद्धालु श्रोता या पाठक तीनो तापा से मुक्ति पा सकते हैं ।

यह भी समझ रखना चाहिए कि इस प्रकार त्रिस्तरीय या उनसे भी अधिक अर्थो को वहन करना ऋषियो की वाणी की विशेषता रही है । वेद मत्रो का अथ निरुक्त के विद्वानो द्वारा आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और अधियज्ञीय दृष्टिया से किया जाता रहा है ।[5] वाल्मीकीय रामायण की भूषण टीका मे भी इन दृष्टियो से रामायण क अथ पर विचार किया गया है । रामायण के आध्यात्मिक अथ पर बल देने वाले आचार्यो मे शकराचार्य की भी गणना की जाती है । अत अपने मानस मे आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक स्तरो का निर्वाह कर तुलसीदास ने एक पुरानी परम्परा का ही हिन्दी मे पुनरुज्जीवन किया है ।

मानस की गूढता का एक बडा कारण तुलसी द्वारा निरूपित श्रीराम तत्त्व

१ सुभाषित
२ विनय पत्रिका ११२।६-१०
३ मानस १।१८।८
४ वही ६।३७।७
५ वेदत्रयी परिचय, प्रस्तावना पृ० ४

की विशिष्टता है। तुलसी ने न महापुरुष श्रीराम को देवता के स्तर तक उन्नयन किया है, न मानव राम के रूप में भगवान विष्णु के अवतरण का ही अकन किया है। उनके राम तो 'बिधि हरि संभु नचावनिहारे'[1] है, हरि या विष्णु के ही अवतार नहीं। तुलसी का चमत्कार यह है कि उन्होंने 'ब्रह्म' राम को अपना इष्ट देव बनाया है, जो निर्गुण होते हुए भी सगुण है और भक्तो के प्रेमवश, मानवीय मर्यादा के निरूपणार्थ तथा पतितो के उद्धार के लिये अव तार की भूमिका मे मानव रूप का धारक भी है। वह मानव हो या इष्टदेव या निर्गुण ब्रह्म, वह प्रत्येक स्थिति मे पूर्ण है, सकल विकाररहित और भेदातीत है। फिर भी वह इन रूपो मे लीला करता है, और जब जो रूप धारण करता है तब तदनुकूल आचरण करता है। जो सबको नचाता है, वह उनके साथ खुद भी नाचता है। और इस खूबी से नाचता है कि बडे बडे ऋषि मुनि भ्रान्त हो जाते हैं। उसका पक्का सिद्धान्त है 'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।'[2] इसी लिए रामचरित मानस मे पार्वती गरुड, भरद्वाज सबका प्रमुख प्रश्न यही है कि राम कौन है? श्रीराम की विस्तरीय भूमिका को जो जिस मात्रा मे रामकथा को जिस मात्रा मे समझ सकता है।

राम की इस विस्तरीय भूमिका के अनुरूप ही राम कथा के भी आधि भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पक्ष हो जाते है। आधिभौतिक दृष्टि से रामकथा ऐतिहासिक सत्य है। राम का मानव रूप मर्यादा की स्थापना के द्वारा मानव समाज के लिए जीवन्त शिक्षा का आदर्श बनता है। श्रीमदभागवत मे स्पष्ट रूप स कहा ही गया है—

'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षण, रक्षोवधायैव न केवल विभो'[3]

अर्थात हे प्रभो (श्रीराम) आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसो के वध के लिए नही है, इनका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्यो को शिक्षा देना है अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलाजलि देकर 'सब कर हित' की दृष्टि से स्वधर्मपालन करते हुए लोक की उपासना करने का आदर्श प्रस्तुत करना है। तुलसी के राम अपने आचरण से तो शिक्षा देते ही थे, समय समय पर अपने विशिष्ट जनो को गम्भीर उपदेश भी देते थे। राज्याभिषेक के बाद अपनी समस्त प्रजा को बुला कर उन्होंने 'बडे भाग' से मिले 'मानुष तनु' को सार्थक बनाने के लिए सुगम

१ मानस २।१२७।१
२ वही २।१२७।८
३ श्रीमद्भागवत ५।१९।५

'भगति पथ' पर चलने का अमृतमय उपदेश दिया था।[1] उसे सुन कर प्रजा जन कह उठे थे, 'असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ, मातु पिता स्वारथरत ओऊ'[2] राजा प्रजा दोनो के द्वारा उच्चतम आदर्श को व्यवहार मे उतारने के कारण ही राम राज्य को आदर्श राज्य माना जाता है।

समस्त मानवीय सबधो के निर्वाह म जिस सूत्र मे हम ध्यान रखना चाहिए, तुलसी ने भरत जी से चित्रकूट म उसका सकेत यो दिलाया है—

'राखि राम रुख धरमुव्रत, पराधीन मोहि जानि।
सबके समत, सर्वहित, करिअ पेमु पहिचान॥[3]

अर्थात हम लोगो को श्रीराम के रुख और धमव्रत की रक्षा करते हुए अपने को उनके अधीन मानते हुए प्रेम को पहचान कर उसकी राय से वही करना चाहिए जिसमे सबका हित हो। सुगम लगती हुई यह वाणी सम्यक अवबोध की दृष्टि से अगम सी है, भावात्मक दष्टि से मृदु मजु होते हुए व्यवहार की दष्टि से कठोर है, थोडे से अक्षरो मे असीम अथ छिपाये हुए हैं। कुछ विद्वान समझते है कि रामकथा की गूढता केवल सगुण निर्गुण या भक्ति ज्ञान आदि के निरूपण मे ही है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक स्तर पर वह निमल होते हुए भी अतल गांभीर्य से युक्त है।

'सब कर हित' के सन्दभ मे सामाजिक निणय करने की कसौटी भी तुलसी की एकागी नही है। उनके वशिष्ठ जी ने इसके लिए एक अद्भुत सूत्र दिया है, 'करब साधुमत, लोकमत, नृपनय निगम निचारि'[4] अर्थात् सामाजिक निणय करते समय साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेद शास्त्र इन चारो के सार को ध्यान म रखना चाहिए।

इस पर भी ध्यान जाना चाहिए कि करुणा (जिस पर बौद्धो ने बहुत अधिक जोर दिया है) और अहिंसा (जो जैनो की दृष्टि मे सर्वोपरि मूल्य है) को पर्याप्त मान देते हुए भी तुलसीदास ने औपनिषदिक दष्टि के अनुसार 'सर्वहित (या परहित) को व्यवहार मे सबसे बडा धम और परपीडा को ही सबसे बडा पाप माना है, 'परहित सरिस धम नहिं भाई, पर पीडा सम नहिं अधमाई।'[5]

१ मानस ७।४३-४६
२ वही ७।४७।४
३ वही २।२६३
४ वही २।२५८
५ वही ७।४१।१

इसीलिए उनकी दृष्टि मे सच्चे सन्त वही हैं जो परहित निरत है, वचक धर्मध्वजियो को तो उन्होंने कस कर फटकारा है। जो पर द्रोही या पर पीडक है, वही उनकी दृष्टि मे 'निसिचर' या राक्षस है,[1] किंभूतकिमाकार प्राणियो को राक्षस के रूप मे चित्रित करना बालबुद्धि वालो का अनुरजन करना मात्र है। मानस का निश्चित मत है कि रावण यदि शरीरधारी और अपनी राक्षसी सेना एव उत्पीडक नीतियो के द्वारा सारे ससार को आधिभौतिक कष्ट दे रहा है तो उस ताप के शमन के लिए शरीरधारी राम को वानर भालुओ की सेना जुटा कर उसे युद्ध मे परास्त कर उसका बध करना पडता है। आधिभौतिक दुखो का सबसे बडा रूप उनकी दृष्टि मे दारिद्रय था,[2] अत उसे भी उन्होने रावण से कहा, 'दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबधु'।[3] उसे नष्ट करने के लिए न्यायोचित सघर्ष का वे समर्थन करते है। आधिभौतिक बाधाओ कष्टो को दूर करने के लिए उनका समुचित प्रतिविधान भौतिक स्तर पर ही राम को स्मरण कर अपराजित हृदय से साहसपूर्वक करने का निर्देश तुलसी ने दिया है, 'राम सुमिरि साहसु करिय, मानिय हिये न हारि'[4] भौतिक उत्कर्ष चाहने वालो को भी रघुवीर के समर विजय चरित्र का श्रवण (एव तदनुकूल आचरण) करने की प्रेरणा देते हुए तुलसी ने लिखा है—

समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान।
बिजय, बिबेक, बिभूति नित तिन्हहिं देहि भगवान॥[5]

इससे यह संकेत भी निहित है कि विजय और विभूति के लिए 'धर्मरथ' पर आरूढ होकर विवेकयुक्त परिश्रम करना राम के अनुगामी का धर्म है। जो अन्यायमूलक व्यवहार से विजय विभूति प्राप्त करते रहते हैं वे रावण के पक्षधर होते है, राम के नहीं। अधिक विस्तार म जाना यहाँ सम्भव नही है किन्तु इन दो तीन प्रसगो से भी यह स्पष्ट है आधिभौतिक स्तर पर भी तुलसी की रामकथा अपने मे अतुलनीय गाभीर्य समाहित किये हुए है।

आधिदैविक स्तर पर तुलसी ने ब्रह्म के इष्टदेवत्व पर बल दिया है। यह ठीक है कि प्राचीन भारतीय मान्यता के अनुरूप उन्होने स्थूल आधिभौतिक

१ मानस १।१८३।१८४
२ नहिं दरिद्र सम दुख जग माही—मानस ७।१२१।१३
३ कवितावली ७।९७।७
४ रामाज्ञा प्रश्न ५।१।३
५ मानस ६।१२१ क

जगत की ही तरह सूक्ष्म आधिदैविक लोकों को भी स्वीकारा है जिनमे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, सूर्य, शक्ति, गणेश आदि अनेकानेक देव देवियाँ है। इनकी सत्ता सूक्ष्म है और ये परोक्षप्रिय हैं। इनके अनुग्रह निग्रह का प्रभाव भौतिक जगत पर और उसके अधिवासियो पर भी पडता रहता है। इनकी उपासना के द्वारा यज्ञयागादि या पूजन अर्चन के द्वारा इनके दोष का निवारण और अनुग्रह का सम्पादन किया जा सकता है। अधिदैवस्तर पर रावण-कुम्भकर्ण कभी विष्णु के पार्षद जय-विजय हैं, कभी नारद के द्वारा अभिशप्त हरगण, कभी ब्राह्मणो से अभिशप्त प्रतापभानु और अरिमर्दन हैं जिनका वध करने के लिए भगवान विष्णु रामरूप मे अवतार लिया करते हैं। तुलसी ने इस परपरा को भी नकारा नही है। किन्तु उनका अपना वैशिष्ट्य यही है कि उन्होंने मनु शतरूपा के तप से द्रवित हुए साक्षात ब्रह्म को अपनी आदिशक्ति और अशो के साथ राम, सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि के रूप म अवतरित दिखाया है। यह स्मरणीय है कि मनु शतरूपा को वर देने के लिए 'विधि, हरि, हर, तप देखि अपारा' बहुत बार आय थे कि तु परमधीर उनके वरो के प्रलोभन से विचलित नही हुए थे। वे तो 'अगुन, अखड, अनत, अनादी, जेहि चितहिं पर मारथवादी। नेति नेति जेहि बेद निरूपा, निजानद निरपाधि अनूपा। सभु, बिरचि, बिष्णु भगवाना, उपजहिं जासु अस ते नाना। ऐसेउ प्रभु'[1] साक्षात् ब्रह्म को सेवा से वश म कर उन्ह लीलातनुग्रहण करने के लिए बाध्य करने पर तुले हुए थे। उनकी एकनिष्ठ भक्ति साधना पर रीझकर 'भगत बछल प्रभु, कृपानिधाना, बिस्वबास प्रगटे भगवाना।'[2] ब्रह्म का यही रूप भक्तो का सवस्व है, तुलसी का परम इष्ट है। राम-लक्ष्मण जब जनकपुर मे धनुर्यज्ञ मे पधारे तो 'हरि भगतन देखे दोउ भ्राता, इष्टदेव इव सब सुख-दाता।'[3] या काकभुशुडि के शब्दो मे 'इष्टदेव मम बालक रामा, सोभा बपुप-कोटि सब कामा'[4] लिखकर ही तुलसी को सतोष नही हुआ। उन्होंने श्रीराम क वनगमन के समय 'कहि अलखित गति बेषु बिरागी, मन, क्रम, बचन राम अनुरागी'[5] तापस को उपस्थित कर लिखा कि वह,

१ मानस १।१४४।४ ७
२ वही १।१४६।८
३ वही १।२४२।५
४ वही ७।७५।५
५. वही २।११०।८

'सजल नयन तन पुलकि निज इष्ट देउ पहिचानि,
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि ॥'[1]

इस सन्दर्भ में पं० विजयानन्द त्रिपाठी ने अपनी टीका में 'कबि अलखित गति' का अर्थ किया है, 'गूढ़ गति कवि' अर्थात् स्वयं तुलसीदास। इस प्रसंग को क्षेपक मानने वाले विद्वान भी इस पर सहमत हैं कि भले ही बाद में तुलसी ने इस प्रसंग को जोड़ा हो किन्तु अपनी जन्मभूमि राजापुर के निकट पहुँचे हुए प्रभु को प्रणाम करने के लिए अपने को तापस के रूप में प्रस्तुत करने की भावना का संवरण वे नहीं कर पाये।

'इष्ट देव' पर थोड़ा और विचार होना चाहिए। सामान्यतः 'इष्' धातु से बने इष्ट शब्द का अर्थ इच्छित, प्रिय आदि कर इष्ट देव का अर्थ सर्वाधिक प्रिय देवता किया जाता है। यज् धातु से बने इष्ट का अर्थ पूज्य के रूप में कर इष्ट देव को सर्वाधिक पूज्य भी बताया जाता है। किन्तु यज् धातु से बने इष्ट (और इष्टि) का अर्थ अग्निहोत्र, यज्ञ भी होता है। हिन्दुओं का अंतिम संस्कार 'अन्त्येष्टि' कहलाता है। जीवन का लक्ष्य यज्ञ मानने वाले आर्यों के मतानुसार मृत्यु के अनन्तर अपने शरीर की आहुति अग्नि में देकर किये जाने वाले अंतिम यज्ञ को अन्त्येष्टि कहते हैं। पूज्य स्वामी अखंडानंद सरस्वती का मत है कि 'इष्ट देव' को ही 'यज्ञदेव' मान कर भक्त अपने अस्तित्व की आहुति उन्हीं में दे देता है। उसका अपना अलग कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। इष्ट देव की उपासना की यही चरम परिणति है। मुझे लगता है कि तुलसीदास राम को सर्वाधिक प्रिय और पूज्य मानते के साथ ही साथ उन्हीं में अपना विलय कर देने तक की स्थिति को सिद्धान्ततः स्वीकार करते थे। व्यवहार में भी उनकी मान्यता राम के सेवक के रूप में ही अपने को उपस्थित करने की रही है, अपना कोई अलग परिचय देने की नहीं। सुतीक्ष्ण जी के साथ एक होकर उन्होंने कहा है 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे।'[2] किन्तु त्रिकालदर्शी वाल्मीकि से उन्होंने यह भी कहलाया है, 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'[3] इसकी व्याख्या करते हुए पं० विजयानन्द त्रिपाठी ने लिखा है, 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य

१ मानस २।११०
२ वही ३।११।२१
३ वही २।१२७।३

जिसे वह वरण करता है, उसी से वह प्राप्य है, अर्थात तुम्हें जानता कृपा साध्य है, क्रिया साध्य नहीं है, भजन करने वाले पर भगवान कृपा करते हैं। निर्गलितार्थ यह है कि भजन करने से भगवान प्राप्त होते हैं। और भक्त को अपना ज्ञान करा देते हैं और ज्ञान हो जाने पर भक्त भगवत में भेद नहीं रह जाता[१] इसके समर्थन में, जानेसु संत अनंत समाना।[२] संत भगवत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी।[३] जैसी तुलसी की अनेक उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं, सीधे अपने लिए यह बात तुलसी नहीं कह सकते थे, अपनी विनयशीलता के कारण, लेकिन उनके भक्ति निरूपण से यह स्पष्ट है कि और सबो से सम्बन्ध तोड़ कर इष्ट देव से ही नाता और नेह जोड़ना तथा उन्हें ही अपना पूरा का पूरा 'छर भार' सौंप देना ही उन्हें अभीष्ट है।[४]

रामचरितमानस की रचना में कोई आधिदैविक, आधिभौतिक बाधा न आ जाये इसके लिए उन्होंने अन्यो के साथ देवी देवताओं की वन्दना भी की है।[५] ब्रह्मा के परामर्श के अनुसार रामावतार के समय देवताओं ने राम की सेवा के लिए वानर भालू का रूप धारण किया था, तुलसी इसका भी उल्लेख प्रभु की आकाशवाणी के बाद करते हैं। इसी तरह विनय पत्रिका के आरम्भ में गणेश, सूर्य, शिव, शक्ति आदि से विनती कर राम भक्ति की याचना भी उन्होंने की है किन्तु सच यही है कि राम (और सब प्रधान रामभक्त होने के कारण भगवान् शिव) को छोड़ कर और किसी देवी-देवता पर उनकी विशेष आस्था नहीं थी। उन्होंने देवताओं को 'सदा स्वारथी' 'कुचाली' 'जड़' 'ऊँच निवास नीचि करतूती, देखि न सकहिं पराइ बिभूती'[६] कह कर उनके प्रति भरपूर अवज्ञा प्रकट की है। देवराज इन्द्र को तो उन्होंने कुत्ता तक कह डाला है। सरिस स्वान मघवान जुबानू।[७] इन देवताओं से उन्होंने पुष्पवर्षा और स्तुति कराने का ही काम लिया है।

१ रामचरिमानस की विजयाटीका (द्वितीय भाग) पृ० १८३ प्र० स०
२ मानस ७।१०८।१२
३ विनय पत्रिका ५७।१८
४ वही पद संख्या १०४
५ मानस १।७६
६ वही २।१२।६
७ वही २।३०३।८

पिछले जन्मो के पुण्य के बल पर भोग करने वाले और अपनी स्थिति का सुरक्षित रखने के लिए न्याय-अन्याय का विचार किये बिना अच्छी बुरी चेष्टाएँ करने वाले देवताओ के प्रति उनकी कोई श्रद्धा नही थी। स्वग के प्रति भी उन्हें कोई आकपण नही था। सिद्धान्त के स्तर पर वे स्वग नरक को मोह या अज्ञान-जन्य मानते थे।[1] और व्यवहार के स्तर पर 'स्वगउ स्वल्प अत दुखदायी'[2] कह कर उसे उपेक्षणीय बताते थे। अत आधिदैविक स्तर पर पुरानी मान्यताओ का निषेध किये बिना उन्होने उनका महत्व काफी घटा दिया। यह ठीक है कि उनकी राम कथा मे आधिदैविक क्रियाकलाप चलते ही रहते है किन्तु आधिभौतिक और आध्यात्मिक स्तरो की तुलना मे वे बहुत फीके लगते है। जैसा कहा जा चुका है इस क्षेत्र मे उनकी सर्वाधिक महत्वपूण स्थापना इष्टदेव श्रीराम की सेवक सेव्य भाव से भक्ति करना ही है। उनकी अनन्यता और निष्कामता अन्य देवी देवताओ की अधिक चर्चा करने का अवकाश ही उन्हे नही देती।

आध्यात्मिक स्तर पर तुलसी ने अपनी राम कथा मे अत्यन्त गूढ सत्यो का समावेश किया है। जो ब्रह्माड मे है, वही पिंड म है तुलसीदास इस मान्यता के पक्ष म थे, तभी उन्होने विनय पत्रिका मे 'वपुष ब्रह्माड सो'[3] लिखा था। इस धारणा के अनुसार रावण की सत्ता 'मोह' या अज्ञान के रूप मे अपने भीतर ही विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर राम-रावण युद्ध चल रहा है। जो इस भीतरी युद्ध मे रावण के साथ है, वह बाहर भले ही दिखावे के लिए राम भक्त का बाना धारणा कर ले, होता वह अधर्म का ही साथी है। अत यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक सत्ता मे चलते रहने वाले राम रावण के द्वन्द्व के वास्तविक स्वरूप को पहचाने, अपने को राम के पक्ष म रख कर रावण के पक्ष को पराजित करने की आप्राण चेष्टा करे और प्रभु कृपा से उसमे सफल हो। इसे हम रामकथा का आध्यात्मिक पक्ष कह सकते हैं।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि रामकथा के माध्यम से अध्यात्म निरूपण की दो परिपाटिया रही है। एक के अनुसार कथा के विशिष्ट प्रसगो म प्रमुख अधिकारी पात्रो के द्वारा अध्यात्मज्ञान सबधी उपदेशा, स्तुतियो आदि का सयोजन किया जाता है, दूसरी के अनुसार राम कथा के प्रमुख चरित्रो को ही

१ मानस २।६२।७ ८

२ वही ७।४४।१

३ विनय पत्रिका ५८।३

आध्यात्मिक तत्वों का प्रतीक बना दिया जाता है। पहली परिपाटी का प्रमुख उदाहरण सुप्रसिद्ध 'अध्यात्म रामायण' है जिसके अन्तर्गत 'रामरहस्य', 'राम गीता' आदि के उपदेशों में अध्यात्म तत्व का निगूढ़ ज्ञान निरूपित किया गया है। यहाँ अध्यात्म तत्व का अर्थ केवल अन्तःकरण और उनकी वृत्तियाँ तक ही सीमित न रहकर आत्म तत्त्व और ब्रह्मतत्त्व तक व्यापक है, दूसरी परिपाटी का द्योतन शंकराचार्य के इस प्रसिद्ध श्लोक द्वारा होता है।

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादि राक्षसान्।
योगी शान्तिसमायुक्त आत्मारामो विराजते॥[1]

अर्थात मोह रूपी सागर को पार कर, राग द्वेष आदि राक्षसों का वध कर आत्माराम योगी शान्ति (सीता) से संयुक्त हो सुशोभित है। यहाँ रावण, कुम्भकर्ण आदि को राग द्वेष का, राम को आत्मा का और सीता को शान्ति का प्रतीक बना दिया गया है।

तुलसीदास ने इन दोनों परिपाटियों को स्वीकार किया है। मानस में स्वयं श्रीराम, लक्ष्मण, शंकर, वाल्मीकि, काकभुशुंडि आदि विभिन्न स्थलों पर आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश देते हैं। वेद ब्रह्मा, विविध देवताओं, ऋषियों आदि की स्तुतियों में भी आत्मज्ञान ओतप्रोत है। दूसरी परिपाटी के अनुरूप तुलसी ने बालकांड में नाम वन्दना के प्रसंग में, उत्तरकांड में तमसाच्छन्न जड़ चेतन की ग्रन्थि को खोलने के लिये प्रकाश के संधानार्थ ज्ञान दीपक और भक्ति चिन्तामणि के विवेचन क्रम में, मानसरोगों के निरूपण में तथा विनय पत्रिका के अट्ठावनवें एवं एक सौ इक्कीसवें पदों में मुख्य रूप से एवं अन्य अनेक प्रसंगों में उपमा, उत्प्रेक्षा, आदि के माध्यम से गौण रूप से रामकथा का आध्यात्मिक पक्ष उद्घाटित किया है।

संक्षेप में तुलसी के अनुसार व्यक्ति का शरीर ही ब्रह्माण्ड है, संसार के प्रति प्रवृत्ति ही लंका दुर्ग है, जिसका निर्माता अपना मनरूपी मय दानव है, इस शरीर के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमय कोष ही इस लंका के सुन्दर महल हैं, सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण ही रावण के प्रचंड सेनापति हैं, देहाभिमान ही सागर है, रागद्वेष आदि उसके मगर, घड़ियाल आदि हैं, मनोरथ और विषयासक्ति के संकल्प ही उस सागर की लहरों के विलास है, मोह (अज्ञान) ही रावण, अहंकार ही कुम्भकर्ण, काम ही मेघनाद, लोभ ही अतिकाय, मत्सर ही महोदर, क्रोध ही देवान्तक, द्वेष ही दुर्मुख, दम्भ ही खर,

१ आत्मबोध ५०

कपट ही अकपन, दप ही नरान्तक, मन ही शूलपाणि एव इन्द्रियाँ ही राक्षसियाँ है। इन दुष्टो के उपद्रवो से जीव रूपी विभीषण सत्रस्त और चिताग्रस्त है। यम नियम रूपी दसो दिग्पाल रावण के अधीन अत्यन्त भयभीत है। कर्माज्ञ ज्ञानरूपी दशरथ और भक्ति रूपी कौशल्या के माध्यम से प्रकट होकर बोधैक-राशि प्रभु भक्त के हृदयरूपी वन मे प्रवेश कर मोक्ष के साधनरूपी वानरो और विवेक रूपी सुग्रीव के द्वारा पुल बनवायें, प्रबल वैराग्य रूपी हनुमान के द्वारा विषय वन को भस्म करवायें, दुष्ट रावण रूपी मोह का नाश उसके पूरे वश के साथ करें तभी जीव रूपी विभीषण की रक्षा सभव है।[1]

इसी तरह तुलसी ने मानस के बालकाड में ब्रह्माड मे हुए रामावतार के साथ पिंड मे हुए नामावतार की तुलना कर नाम की महिमा प्रतिपादित की है। राम ने नर देह धारण कर अत्यन्त सकट सह कर साधुजनो को सुखी बनाया था किन्तु नाम के जपमात्र से भक्तगण अनायास मगलमय हो जाते हैं। राम तो एक ही ऋषि पत्नी अहल्या का उद्धार कर सके थे, नाम तो करोडो दुष्टों की कुमति का सुधार करता है। विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए राम ने ताडका, उसके पुत्र और उसकी सेना का विनाश किया था, नाम तो अगणित भक्तो की दुराशाओ और उनसे उत्पन्न दोषो दु खो का नाश कर देता है। राम ने शिव जी का धनुष तोडा था, नाम का प्रताप भव भय का भजन करता है, राम ने दडकवन को सुहावना बनाया था, नाम अमित जनो के मनो को पवित्र बना देता है, राम ने राक्षस समूह का वध कर शबरी, गीध आदि सुसेवको को सद्गति दी थी, नाम सकल कलि कलुष का उन्मूलन कर असख्य खलों का उद्धार करता है, राम ने सुग्रीव, विभीषण को शरण दी थी, नाम अनगिनत गरीबों पर कृपा करता है, राम ने वानर भालुओ की सहायता से सेतु का निर्माण श्रमपूर्वक किया था, नाम के स्मरण मात्र से भवसिंधु सूख जाता है। राम ने कुल सहित रावण का वध करने के अनन्तर सीता के साथ अवध का शासन सूत्र सभाला था, नाम का सप्रेम स्मरण कर भक्तजन बिना श्रम के ही प्रबल मोहदल को जीतकर स्नेह मग्न और शोकरहित होकर आत्मसुख प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह अनन्त आध्यात्मिक क्षेत्रो म सक्रिय होने के कारण राम का नाम राम से कहो अधिक बडा है।[2]

इसका अभिप्राय यही है कि मोह, अहकार, काम आदि वृत्तियाँ राक्षसी-

१ विनय पत्रिका ५८

२ मानस १।२४ २५

भास्य अपरोक्ष—होते हुए भी विकृतिमूलक है, ससार में फँसाने वाली है क्योंकि इनका विषय अधिभूत है। इनके निवारण के लिए साक्षी-भास्य सस्कृत अप रोक्ष वृत्तियो का अर्थात राम विषयक भक्ति, श्रद्धा, वैराग्य यम नियम आदि का प्रयोजन है। ये शुभ वृत्तिया प्रभु कृपा से ही सुलभ होती हैं। इस बात को मानस रोग क प्रकरण म तुलसी न भली भाति समझाया है। मोह या अज्ञान ही इन विकृतिमूलक वत्तिया की जड है जिससे काम रूपी वात, कफ रूपी लोभ और पित्त रूपी क्रोध आ‍ि मानस राग होते हैं। इनका निराकरण राम कृपा स इस प्रकार सम्भव है। सदगुरु रूपी वैद्य के वचनो पर विश्वास कर, विषयो की आशा के परित्याग रूपी सयम और श्रद्धा के अनुपात के साथ यदि रघुपति की भक्ति रूपी सजीवनी बूटी का सेवन किया जाये तो ये सभी मानस रोग आसानी मे दूर हो सक्त है, अ‍यथा करोडो यत्नो से नही जाते।[1] आध्यात्मिक विकृतियो के लिए आध्यात्मिक सुसस्कृत वत्तिया ही ओषधियों का नाय कर सकती है। अत उ‍ही का अवलम्बन ग्रहण करना चाहिए। उ‍होने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इनमे भक्ति ही सर्वोपरि वत्ति है जो मानस रोगो की अमोघ ओपधि है। तुलसी का यह मत भी प्रतीत होता है कि आधिदैविक और आधिभौतिक तापो क बहुलाश का निवारण भी आध्यात्मिक सयम से किया जा सकता है। बहुधा हमारे मानसिक विकार ही बाहर अनेक अनिष्टो के रूप धारण कर लेते है। अत अपने ही कल्याण के लिए हम 'अध्य त्मवित्' अपने भीतर के मन के कार्यकलाप का ज्ञाता होना चाहिए। यदि हमे पता चल जाये कि इस समय कौन सा मानस रोग या मानसराक्षस प्रबल हो रहा है तो हम उसका प्रतिपेध एक सीमा तक कर सकते हैं। अतिम फलाफल तो प्रभु क ही हाथा म है।

अध्यात्म तत्व के जिन गूढ रहस्या का प्रतिपादन तुलसी ने अपने प्रमुख पात्रो के उपदेशो के द्वारा किया है उनमे प्रमुख है निर्गुण तत्व के सगुण और साकार होने की अविकृत क्षमता, अवतार तत्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, योग, वैराग्य, कम आदि का निरूपण। उन सब पर विचार करना इस लेख मे सम्भव नही है, इसलिए उनका स्मरण मात्र करा दना ही उचित लगता है।

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक स्तरो के युगपत निर्वाह के कारण और इन सबसे परे अत्यन्त गूढ रामतत्व के निरूपण के कारण रामकथा मे गूढ़ता स्वाभाविक रूप से अ‍तर्निहित है। तुलसी ने इस गूढता को यथा

1 मानस ७।१२१ १२२

सम्भव सरल करके समझाने का प्रयास किया है क्योंकि उनकी दृष्टि मे 'सरल कविता'[1] ही समादरणीय थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि राम के प्रेम से अनुप्राणित हो जाने पर मन, वचन, क्रिया समस्त विधियाँ सूधी सरल हो जाती है—

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुबर प्रेम प्रसूति ॥[2]

रहस्यमय गूढ विषयो को तुलसी की सीधी सरल वाणी कितना हृदयगम कराने मे समर्थ हुई है, देखने की बात तो यह है। कोई भी निष्पक्ष विचारक यही निर्णय देगा कि हिन्दी मे तो इस क्षेत्र मे तुलसीदास अप्रतिद्वन्द्वी है।

१ मानस १।१४ क
२ दोहावली १५२

कबीरदास और तुलसीदास का आतरिक साम्य

कबीर और तुलसी का विरोध इतना अधिक उछाला गया है कि दोनो दो विरोधी खेमो के नायक प्रतीत होते है, एक ही धारा के वैविध्य के उन्नायक नही। कुछ क्षेत्रो मे कबीर तुलसी को सराहने कोसने मे जितना उत्साह दिखाया जाता है, उतना यदि उनको समझने म भी दिखाया जाता तो, शायद ऐसा न होता। इसमे कोई सन्देह नही कि कबीर-तुलसी की सामाजिक दष्टिया एक दूसरे से कही कही टकराती है उनकी साधनिक दृष्टियों मे भी थोडा अन्तर है, किन्तु यह अपेक्षाकृतरूप से बाह्य वैषम्य उन दोनो के उस आन्तरिक साम्य के समक्ष गौण है जिसकी समर्थित चर्चा बहुत कम की गयी है।

कबीर के आधुनिक प्रशसको की दृष्टि म वे ऐसे क्रान्तिकारी थे जिन्होने दलित वग के आक्रोश को व्यक्त करते हुए जाति पाँति, छुआछूत जैसी सामाजिक विषमताओ के विरुद्ध जेहाद छेडा था, ईश्वर की साकार भावना, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, कमकाड जसी धार्मिक मान्यताओ का खडन किया था, हिन्दू मुस्लिम एकता का मार्ग प्रशस्त किया था, रहस्यवादी काव्यधारा का हिन्दी मे प्रवतन किया था। कबीर की भक्ति साधना ऐसे लोगो के लिए बहुत कम महत्त्व रखती है, अत्युत्साही भौतिकवादियो की दष्टि म तो वह उनका अन्तर्विरोध ही है। इसी तरह के कुछ विचारको ने (जिनम कबीर के कुछ प्रशसक भी हैं) तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी करार देते हुए उन पर धार्मिक सामाजिक रुढियो के अर्थात् ब्राह्मणशाही के समथक, स्त्री शूद्र विरोधी, भाग्यवाद के प्रचारक सामतवादी आदि होने के मनमाने आरोप लगाये है। स्पष्टत इन लोगो के लिए तुलसी की भक्ति का कोई विशेष मूल्य नही है। जिन प्रगतिशील विचारको ने तुलसीदास का समथन किया है, उनके लिए भी उनकी भक्ति उच्च कोटि का मानवतावाद या लोकवाद ही है। तुलसी की प्रशसा भी उनके नैतिक बोध, लोकनायकत्व, पारिवारिक आदश, सामाजिक मगल विधान, रामराज्य की कल्पना, उत्कृष्ट काव्य गुण आदि के लिए आधुनिक विचारक अधिक करते हैं। कुछ कट्टर सगुण साकारवादियो की दृष्टि म कबीर की उक्ति 'दशरथसुत तिहुँ

लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना' का करारा जवाब देकर सगुण-साकार राम की प्रतिष्ठा करना ही तुलसी का सबसे बड़ा काम है। तुलसी की व्यापक भक्ति दृष्टि 'निर्गुण' को हृदय में स्थान देती थी, लगता है कि यह सत्य इन लोगों के लिए अप्रासंगिक है।

मैं यह तो मानता हूँ कि प्राचीन कवियों और उनकी कृतियों को आधुनिक दृष्टियों की कसौटी पर भी कसना चाहिए, इससे उनके नए पहलू उजागर होते हैं, किन्तु ऐसा करते समय उनकी मूलभूत निष्ठा को विस्मृत कर देना उचित नहीं है। ऐसा हुआ तो हम अन्तरंग की उपेक्षा कर बहिरंग को ही प्राधान्य देंगे। आखिर इस पर तो विचार करना ही चाहिए कि कबीर और तुलसी बुनियादी तौर पर क्या थे? क्या उनकी पहली पहचान समाज सुधारक, लोकनायक आदि हो सकती है? सच्चाई यही है कि कबीर और तुलसी दोनों मूलतः और प्रथमतः भक्त थे, दोनों परम तत्त्व से अपना सम्बन्ध निष्काम प्रेम के द्वारा जोड़ना चाहते थे। दोनों की वास्तविक निकटता या दूरी इसी मुद्दे के ऊपर प्रकट किये गये उनके भावों, विचारों से तै की जा सकती है। मेरा नम्र निवेदन है कि इस क्षेत्र में दोनों में अस्सी प्रतिशत से भी अधिक साम्य है। जो निर्वाह सम्भव थी दोनों के विचारों में भी आश्चर्यजनक रूप से समानता है। इस सच्चाई को बड़े विद्वानों ने चाहे आँखों से ओझल कर दिया हो, सामान्य हिन्दी जनता ने सहज ही स्वीकारा है। इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि हिन्दी बोलने-समझनेवाली साधारण जनता के हृदय के सबसे निकट ही कवि हैं—कबीर और तुलसी, जो उनकी बोलचाल से लेकर दृष्टिभंगी को प्रभावित करते हैं। सोचने की बात है कि दो नितान्त परस्पर विरोधी विचारों भावों वाले कवियों को एक ही जनता, एक ही साथ, करीब करीब एक जैसा प्यार कैसे कर सकती है? यह तथ्य ही दोनों की आधारभूत एकता का अखण्डनीय प्रमाण है। इसके बावजूद दोनों की सामाजिक-साधनिक दृष्टि में जो आंशिक टकराव है, उसका कारण यह है कि भक्ति को स्वीकार करने के पूर्व दोनों की सामाजिक स्थिति और साधनिक पृष्ठभूमि भिन्न थी। कबीर सद्य धर्मान्तरित मुस्लिम जुलाहा कुल में पैदा हुए थे और जाति पाँति के हीन अन्याय के खुद शिकार थे। उनके कुल पर और उन पर भी नाथ की साधना का गहरा प्रभाव था।

वाले ब्राह्मण कुल मे जन्मे थे। अत भक्ति के अविरोधी पारम्परिक तत्त्वो के प्रति सहनशील थे। हाँ, उसके जो तत्त्व भक्ति विरोधी थे, उनका समर्थन उन्होने नही किया है, जाति-पाँति की बाधा को भक्ति के क्षेत्र मे उन्होने भी कतई स्वीकार नही किया है। स्वभाव से भी शायद कबीर अधिक तेजस्वी तुलसी अधिक सौम्य थे। जो हो, कबीर-तुलसी के भेदो की चर्चा काफी हो चुकी है, कुछ चर्चा उनमे विद्यमान अभेद की भी होनी चाहिए।

परम तत्त्व के परात्पर निर्गुण निराकार तथा सगुण निराकार विभावन कबीर और तुलसी दोनो को मान्य हैं। पहला विभावन तो तत्वत अवाङ्मन सगोचर है, अत उसे प्रेम का ही नहीं, ज्ञान का विषय भी बनाना कठिन है। इसीलिए उसका सकेत नेति-नेति के द्वारा, मौन के द्वारा किया जाता है। वह ज्ञान का विषय न होकर ज्ञानस्वरूप है, अत उसका ज्ञान जिसको होता है, वह वही हो जाता है। कबीर के शब्दो मे वह तत्त्व है

अलख निरजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई॥
सुनि असथूल रूप नही रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नही पेखा॥
बरन अबरन कथ्यो नही जाई। सकल अतीत घट रह्यो समाई॥
आदि अति ताहि नही मधे। कथ्यो न जाई आहि अकथे॥[1]

तथा

अविगत अपरपार ब्रह्म ग्यान रूप सब ठाम।
बहु बिचार करि देखिया, कबीर, कोइ न सारिख राम॥[2]

तुलसी भी द्विधाहीन शब्दा में इसका समथन करते हैं

सोइ सच्चिदानद घन रामा। अज विज्ञान रूप गुन धामा॥
व्यापक व्याप्य अखड अनता। अखिल अमोघ सक्ति भगवता॥
अगुन, अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी, अनवद्य अजीता॥
निमम, निराकार, निर्मोहा। नित्य निरजन सुख सदोहा॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥[3]

तथा

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहे।[4]

१ कबीर ग्र थावली (डा० माताप्रसाद गुप्त)—रमैनी ३।३।१ ४
२ वही रमैनी—६।१
३ रामचरितमानस (स० विश्वनाथप्रसाद मिश्र) ७।७२।३ ७
४ वही ७।९२। छ० १

ार को वह तत्त्व 'ग्यान बिबर्जित ध्यान बिबर्जित,'[1] लगता है तो तुलसीदास उसे 'ज्ञान गिरा गोतीत'[2] कहते है ।

इस तत्त्व को प्रेम के आलम्बन के रूप मे मानवग्राह्य बनाने के लिए अर्थात , वाणी का विषय बनाने के लिए इस पर गुणो का आरोप करना पडता ये गुण न प्राकृतिक (अर्थात् सत्व, रज, तम परक) है, न लौकिक (अर्थात मत एव दोषस्पृष्ट) । ये तो दिव्य और असीम प्रेम, सौन्दय, ऐश्वय, सामथ्य, ।, करुणा, कृपा आदि है, जिनके कारण वह तत्त्व श्रेय के साथ साथ प्रेय ा है और उससे एक व्यक्तिगत सम्बन्ध जोडा जा सकता है । यह जरूरी है कि इसके लिए उस तत्त्व को सगुण के साथ साथ साकार भी माना जाय । तीय भक्ति साधना साकार के प्रति ही हो सकती है, यह धारणा निराधार श्रीमदभगवदगीता के बारहवें अध्याय मे और श्रीमदभागवत के तृतीय ध के कपिल देवहूति सवाद मे अव्यक्त उपासना निराकार के प्रति भक्ति ना (जिसे व्यवहार म निर्गुण भक्ति कहा गया है ।) की स्पष्ट स्वीकृति है । स्तर पर भी कबीर और तुलसी सहमत है । किन्तु इसके आगे जाकर उस । को साकार मानने या उसके अवतार के रूप म प्रकट होने की बात कबीर अस्वीकाय और तुलसी को स्वीकार्य है । इस पहलू के औचित्य-अनौचित्य विचार किये बिना यह मान लेना काफी है कि कबीर और तुलसी की ानिक दष्टिया मे यहा निश्चित भिन्नता है । कबीरदास के नाथ सिद्ध सूफी ामी सस्कार के लिए साकार रूप की धारणा सभव नही थी । उस परम । को कभी उ होने योगियो के अनुसार ज्योति रूप मे, नाद या शब्द के रूप कभी बौद्धो के अनुसार शून्य रूप मे और कभी सूफियो के अनुसार नूर रूप ी वर्णित किया है किन्तु प्रधानत और पुन पुन वैष्णव सज्ञाओ और ापणो से ही उसे सम्बोधित किया है । यह वस्तुगत तथ्य भी उनके वास्तविक वास को उजागर करने मे सहायक है ।

कबीर और तुलसी दोनो मानते हैं कि प्रभु राम मे असख्य गुण है । कबीर ः कहते हैं कि 'गोविन्द के गुण बहुत है, लिखे जु हिरदे माहि'[3] तो तुलसी का ता है 'समुझि समुझिगुन ग्राम राम के उर अनुराग बढाउ ।'[4] दोना राम का

[1] कबीर ग्रन्थावली (गुप्त)—पद ३।१८।५
[2] मानस १।१६६
[3] कबीर वाडमय—खड ३ साखी (स० डा० जयदेव सिंह, डा० वासुदेव सिंह) ५०।७
[4] विनय पत्रिका १००।१६

सर्वोपरि समथ मानते हैं। कबीर के अनुसार यदि राम की माया के 'पुत्र तिन भयऊ ब्रह्मा विष्णु महेश नाम धरेऊ'[1] तो तुलसी के मत से भी राम 'विधि, हरि, समु नचावनि हारे'[2] हैं। राम की सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिए दोनो ने आश्चयजनक रूप स एक शैली का अनुगमन किया है। यदि कबीर का दृढ निश्चय है कि

'जो जाचो तो केवल राम। आन देव सूं नाही काम।
जाके सूरिज कोटि करें परकास। कोटि महादेव गिरि कविलास॥
ब्रह्मा कोटि बद ऊनरें। दुर्गा कोटि जाके मरदन करैं।
कोटि चद्रमा गहैं चिराक। सुर तेतीसु जी मैं पाक॥
नो ग्रह कोटि ठाडे दरबार। धरम कोटि पोली प्रतिहार॥
कोटि कुबेर जाके भरे भडार। लछमी कोटि करे सिंगार॥
कोटि पाप पुनि ब्योहरे। इद्र कोटि जाकी सेवा करें॥'[3]

आदि आदि।

तो तुलसीदास का भी निश्चय यही है कि

'रामु काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मदन॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा॥
मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भव त्रास॥
सारद कोटि अमिट चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम सहर्ता॥
धनद कोटि सत सम धनवाना। माया कोटि प्रपच निधाना॥'[4]

आदि-आदि।

किंतु राम के सामर्थ्य-माहात्म्य का बोध मात्र भक्ति नही है, वह तो उस बोध के बाद उत्पन्न होनेवाला उनके प्रति अमृत स्वरुप परम प्रेम है।[5] इसी लिए कबीर और तुलसी राम को केवल परब्रह्म कर्ता, जगदीश आदि ही नही समझते, अपना परम प्रियतम भी मानते हैं। मिलन सुख का अनुभव करते हुए

१ कबीर वाङ्मय खड १, रमैनी १।३
२ मानस २।१२६।१
३ कबीर ग्रथावली (गुप्त) पद ८-१५
४ मानस ७।९१, ९२ के अश
५ नारदीय भक्ति सूत्र २, ३

यदि कबीर यह उठते है, 'बहुत दिनन थे म प्रीतम पाये । भाग बडे घरि बैठे आये ।'[1] तो तुलसी की सुविचारित वाणी है, राम से प्रीतम की प्रीतिरहित जीव जाय जियत ।'[2] कैसे अपूव सु दर हैं ये प्रियतम । कबीर और तुलसी दोनो एक मी बात कहते है, 'कदप कोटि जाके लावन करे'[3] तथा 'कदप-अगणित अमित छबि, नवनील नीरज सुदर ।'[4] न केवल वे सु दर है, बल्कि परम स्नेही भी है । वे जितना प्यार जीवो को करत है, उतना कोई नही कर सकता और यह भी तब जब जीव उनको प्यार नही करते, उनको नही भजते । कबीर की साखी है, 'कबीर हरि सबको भजे हरि को भजे न कोर ।'[5] कबीर अपने उस स्नेही से मिलने के लिये बेचैन है, 'कब देखो मेरे राम सनेही । जा बिन दुख पावे मेरी देही ।'[6] तुलसीदास की ी पक्की धारणा है कि 'जानत प्रीति रीति रघुराई । नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह सगाई ।'[7] ठीक ही है जो और सब नाते रिश्तो को दूरकर केवल स्नेह का नाता रखता हो, वास्तव म वही प्रीति की रीति जानता है एव ऐसा राम के सिवाय और दूसरा कौन है ?

फिर कितने कृपालु है प्रभु । जो नितात असमथ है, वे भी उनकी कृपा से वचित नही होते । कितने आश्वस्त हैं कबीर कि गभगत शिशु की रक्षा करने-वाला कृपालु प्रभु भला अपने भक्तो का प्रतिपालन क्यो नही करेगा, 'कृसन कृपाल कबीर कहि, हम प्रतिपाल न क्यो करे ।'[8] ऐसी ही है तुलसी की मान्यता, 'है तुलसिहिं परतोति एक प्रभु मूरति कृपामई है ।'[9] अत यह स्वाभाविक ही था कि राम के गुणो पर मुग्ध कबीर और तुलसी दोनो राम को अपना इष्टदेव मान लेते । इष्ट के बल से बलीयान होकर कबीर कह उठे थे, 'राम नाम सो दिल मिला, जम सो परा दुराइ । मोहि भरोसा इष्ट का, बदा नरक

१ कबीर ग्रथावली (गुप्त) पद १।२।१-२
२ विनय पत्रिका १३२।१
३ कबीर ग्र यावली (गुप्त) पद ८।१५।१७
४ विनय पत्रिका ४५।२३
५ कबीर वाङ्मय ३—साखी ४५।४०
६ कबीर ग्र यावली (गुप्त) पद ३।२२।१ २
७ विनय पत्रिका १६४।१ २
८ कबीर वाङमय ३—साखी ३५।१।६
९ विनय पत्रिका १७०।१४

न जाइ।' और तुलसी ने तापस के रूप मे अपना ही चित्रण करते हुए इष्टदेव श्रीराम के प्रति अपनी प्रेम विह्वलता को इस प्रकार अंकित किया है, 'सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेव पहिचानि। परेउ दंड जिमि धरनि तल, दसा न जाइ बखानि।'[1]

कबीर और तुलसी दोनो ने एक स्वर से घोषित किया है कि राम की भक्ति ही मानव जीवन का चरम साध्य है। कबीर के शब्दो मे 'जा नरि राम भगति नही साधी। सो जनमत काहे न मूवो अपराधी॥'[2] सुन्दर से सुन्दर सुरूप से सुरूप व्यक्ति भी कबीर के लिए 'राम भगति बिन कुचिल करूप'[3] था। कबीर के मतानुसार राम के अतिरिक्त कुछ और है ही नही, अत बडे भाग्य मे मिलनेवाले मानव शरीर का परम गति यही है कि राम भक्तो की सगति म रहा जाये, 'न कछु रे न कछु राम बिना। सरीर धरे की इहे परम गति साध सगति रहना।'[4] इसी तरह तुलसीदास कहते है कि जीवन का परम लाभ राम के चरणों म 'पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम।'[5] उनका निर्देश है, 'दुलभ देह पाइ हरिपद भजु करम, बचन अरु ही ते।'[6] राम भक्ति रहित ससार क सारे सुख तुलसी के लिए निस्सार है, जो राम का न हुआ वह जीवन जल जाय, 'सब फोकट साटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनो दिन द्वै। जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ जियै जग मे तुम्हरो बिनु ह्वै।'[7]

इन दोनो भक्तो ने भक्ति को किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, दशन या विधि विधान से नही बाँधा है। इन दोनो की रचनाओ मे ऐसा कथन कही नही मिलता कि किसी विशेष प्रकार का छापा तिलक लगाकर या किसी सम्प्रदाय मे दीक्षित होकर ही राम को पाया जा सकता है। आश्चय की बात है कि दोनो ने अपने गुरुओ के प्रति परम भक्ति निवेदित करते हुए भी 'गुरु गोबिन्द तो एक है'[8] तथा 'बदौ गुर पद कज कृपा सिंधु नर रूपहरि'[9] कहते हुए

१ मानस २।११० (का सख्या रहित दोहा)
२ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद ११।१२४।१ २
३ वही पद अतिम पक्ति
४ वही पद १६।२।१ २
५ विनय पत्रिका १३।१।१
६ वही १६८।२
७ कवितावली ७।४१।३ ४
८ कबीर वाङमय खड २३, साखी १।२६।१
९ मानस १।०।५ १

भी उनका नामोल्लेख नही किया है। दोनो प्रभु के असख्य नामो मे सवप्रमुख राम नाम को ही मानते थे, जो उन्हे अपने गुरु से प्राप्त हुआ था। 'राम नाम के पटतरे देबे को कछु नाहि। क्या ले गुरु सतोषिए, हौंस रही मन माहि।।'[1] यदि कबीर की कृतज्ञ स्वीकारोक्ति है, तो तुलसी का कथन है, 'गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो।'[2] यह राम नाम दोनो का परम आधार था। 'राम कहे भल होइगा नहिं तर भला न होइ'[3] 'तत तिलक तिहुँ लोक मे राम नाम निज सार'[4] यदि कबीर का विश्वास था तो तुलसी की मान्यता थी, 'अपनो भलो राम नामहिं ते तुलसिहि समुझि परो'[5] 'राम नाम सब धरम मै जानत तुलसीदास।'[6] तुलसी तो राम नाम को ब्रह्म के निर्गुण एव सगुण दोनो स्वरूपो से बडा मानते थे।[7]

भक्ति की आधारभूत विशेषताएँ भी दोनो की दृष्टि म एक सी ह। 'निर बैरी, निहकामता, साईं सेती नह। विषया सो न्यारा रहे सतनि का अग एह'[8] तथा 'साइ सेती साच चलि औरो सो सुध भाइ। भावे लबे केस करि भावे घुरडि मुडाइ'[9] कहकर कबीर ने जिस प्रकार आडम्बरहीन, निर्वैर, विषय-विकाररहित राम के प्रति शुद्ध, निश्छन, निष्काम प्रेम को भक्ति माना है, तुलसी ने उसी प्रकार ससार के प्रति समता तथा 'सत्य बचन मानस बिमल, कपट रहित करतूति'[10] के साथ 'रागरिस' को जीत कर नीति पथ पर चलते हुए राम से प्रीति करन को ही सतो के मतानुसार 'भगति की रीति'[11] कहा है। भक्ति राम के प्रति निष्काम, अहेतुक प्रेम है, लौकिक विषयो की बात तो जाने ही दोजिय, मुक्ति या वैकुठ की कामना भी भक्ति को मलिन करती है,

१ कबीर वाङमय खण्ड ३ साखी–१।४
२ विनय पत्रिका १७३।१०
३ कबीर वाङ्मय खण्ड ३,२।१।२
४ वही २।३।१
५ विनय पत्रिका २२६।१२
६ दोहावली २६।२
७ मानस १।२३।१२
८ कबीर वाङ्मय खण्ड ३,२८।१
९ वही २४।११
१० दोहावली ८७,६४
११ वही ८६

जह लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई, ते सब तुलसिदास प्रभु ही सो होहु समिटि एक ठाई ।'[१]

बडा कठिन है शरीर के अहकार या उसके सम्बन्धो की आसक्ति को तोड पाना । मैं मेरा, तू तेरा की भावना शरीर को केन्द्रित कर इतनी दढ हो गयी है कि छुडाये नही छूटती । माया की सूक्ष्म दार्शनिक व्याख्याएँ भले अलग-अलग हो या हार कर उसे अनिर्वचनीय कह दिया जाये, किन्तु व्यवहार मे उसका सब से प्रकट रूप इसी 'मैं मेरा, तू तेरा' मे व्यक्त होता है । अत कवीर और तुलसी दोनो ने इसी को विनाश का मूल अथवा माया कह दिया है । 'जब लग मैं मैं मेरी करे, तब लग काज एक नही सरे'[२] 'मोर तोर मे सबे बिगूता मोर, तोर मह जर जग सारा'[३] तथा 'मैं, मै मेरी जिनि करैं, मेरी मूल बिनास'[४] यदि कबीर की मान्यता है, तो तुलसी कहते है 'तुलसिदास मैं मोर गए बिनु जिय सुख कबहु न पावे'[५] तथा 'मैं अरु मोर तोर तैं माया, जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ।'[६] कबीर और तुलसी दोनो यह मानते हैं कि माया के कारण ही जीव अपने स्वरूप को भूल कर विषयासक्त हो दु ख पा रहा है । दोनो माया को राम की शक्ति, त्रिगुणात्मिका और सृष्टिकर्त्री मानते है । यह जरूर है कि तुलसी माया के विद्या और अविद्या दो भेद कर विद्या (सीता) के सहारे राम से जुड पाना सभव मानते है, जब कि कबीर ऐसा भेद नही करते, सीता की कल्याणमयी भूमिका को स्वीकार नही करते । उनके लिए माया एक ही है और उसका सवथा परित्याग करना चाहते हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जैसे विकारो को दोनो ने माया के प्रमुख अगो के रूप मे स्वीकार किया है और यह भी माना है कि मनुष्य का मन जब तक इन विकारा से कलुषित रहता है, तब तक वह सच्ची भक्ति नही कर पाता है । विषय ग्रस्त के अनुसार आचरण करने से मनुष्य का सवनाश हो जाता है, यह कबीर और तुलसी दोनो का मत है । 'काया देवल मन धजा, विषय लहरि फहराइ । मन चाले देवल चले ताका सवस जाइ ।'[७] कबीर मे इस

१ विनय पत्रिका १०३।७-८
२ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद ८।२४।३
३ कबीर वाड्मय १, रमैनी ८४।५ ७
४ वही ३, १२।६१
५ विनय पत्रिका १२०।१०
६ मानस ३।१५।२
७ कबीर वाड्मय १, १३-२८

कथन के अनुरूप ही तुलसी की उक्ति है, 'विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। तातें सहिय विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।'[1] कबीर यदि 'मैंमता मन' को मार कर ज्ञान के अंकुश से वशीभूत करना चाहते हैं, तो तुलसी भी अपने 'मूढ़ मन' को 'सिखावन' देते रहते है कि 'हरि पद विमुख को कभी सुख नही मिलता। मनोविजय की साधना कबीर और तुलसी दोनो ने की है, किंतु दोनो का अनुभव यही है कि माया से बँधा हुआ जीव ऐसा प्राय नही कर पाता।

सवाल है जीव को कैसे मुक्ति मिले, इस माया के बंधन से। समस्या और उसके संभावित समाधानो की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते है 'बहु बंधन से बाँधिया एक बिचारा जीव। की बल छूटे आपने, किया छुडावे, पीव'[2] अपने बल छूटने का अर्थ है कर्म, योग, ज्ञान या भक्ति आदि साधनो मे से किसी एक का अवलम्बन कर स्वप्रयास से मुक्त होना। इनमे कर्म को कबीर और तुलसी दोनो गौण सहायक के रूप मे ही स्वीकारते हैं। ऊपर दिखाया जा चुका है कि आचरण की पवित्रता तो दोनो के अनुसार 'संतन का अंग' या 'भगति की रीति' के अन्तर्गत ही है। कथनी-करनी की एकता पर दोनो ने समानरूप से बल दिया है। कबीरदास ने यदि कहा है कि 'जैसी मुख तें नीकसै, तैसी चाले चाल। पार-ब्रह्म निमरा रहे, पल मे करे निहाल'[3] तुलसी ने भी इसकी पुष्टि की है, 'जो कछु कहिय, करिय, भवसागर तरिय बत्स पद जैसे।'[4] कर्मफल भोग का सिद्धांत भी दोनो को साधारण रूप से मान्य है, जैसा कि जो जस करिहै सो तस पइहै राजा राम नियाई[5] (कबीर) तथा 'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता[6] (तुलसी) से स्पष्ट है। फिर भी दोनो कर्म का भरोसा नही करते, क्योकि व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनो स्तरो पर उन्हें जीवकृत कर्म अपर्याप्त लगते हैं। व्यवहार की दृष्टि से निरंतर सत्कर्म (पुण्य) करते रहना बड़ा कठिन है, अनचाहे, अनजाने दुष्कर्म (पाप) होते ही रहते हैं। 'कहता कहि गया, सुनता सुणि गया, करणी कठिन अपार'[7] यदि कबीर का

१ विनय पत्रिका १०२।४ ६
२ बीजक (शु) साखी दा २११
३ कबीर वाङ्मय ३, १८।२
४ विनय पत्रिका ११८।३
५ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद २।४६।२
६ मानस २।९२।४
७ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद २।४६।४

अनुभव है, तो तुलसी भी पाते हैं कि सुकृत (पुण्य) के नाखूनों से पाप के जंगल के वृक्ष समूहों को काटना असंभव है।[1] सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों को लगता है कि करनेवाला तो वास्तव मे परमात्मा ही है, जीव क्या कर सकता है। यदि कबीर का विश्वास है, 'साँई सो सब होत है, बंदे तें कछु नाहिं'[2] तो तुलसी की धारणा है कि 'मेरी न बनै बनाए मेरे कोटि कलप लौं, राम रावरे बनाए बने पल पाउ मैं।'[3]

योग के लिए कबीर के मन मे गहरी श्रद्धा है। उनकी आरंभिक साधना मे (भक्ति भावना मे भी) योग का बहुत बड़ा दान है। कुंडलिनी योग तथा शब्द सुरति योग सम्बन्धी उनकी अनेकानेक उक्तियाँ इसके प्रमाणस्वरूप उद्धृत की जा सकती हैं। फिर भी ऐसा लगता है कि बाद मे वे योग से कही अधिक भक्ति पर निर्भर हो गये थे। 'कहै कबीर योगि औ जंगम, फीकी उनकी आशा। रामहि राम रटैं ज्यों चातक, निश्चय भक्ति निवासा।।'[4] तथा 'हिरदे कपट (हरि) सू नहिं साच्यौ, कहा भयो जो अनहद नाच्यौ'[5] जैसी उक्तियो के आधार पर यह संगत अनुमान किया जा सकता है कि भक्ति रहित यौगिक प्रक्रियाओं के प्रति उनकी आस्था नही रह गयी थी। 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग'[6] का हवाला देकर कुछ विद्वानों ने तुलसी को योग विरोधी बताना चाहा है। वास्तव मे तुलसीदास यहा उस अतिरेक का विरोध कर रहे है, जो भक्ति को नकारता था। राम भक्ति और रामकथा के प्रदाता स्वयं शिव को महा-योगी के रूप म तुलसी ने मानस म बार बार ससम्मान चित्रित किया है, 'संकर सहज सरूप सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा'[7] 'हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी'[8] आदि। ध्यान योग का अत्युच्च अंग है और भक्ति मे भी उसका परम समादर है। तुलसीदास तो प्रभु के ध्यान को अपने लिए कल्पवृक्ष के समान मानते हैं, 'राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर। ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर।'[9] तुलसीदास भक्ति-

१ विनय पत्रिका ८६।२
२ कबीर वाङमय ३, ३८।१२
३ विनय पत्रिका २६१।१।२
४ बीजक (शु०) शब्द दा २६।७।८
५ कबीर ग्रंथावली (गुप्त) पद ४।१७।४
६ कवितावली ७।८४।५
७ मानस १।५८।८
८ वही १।८०।३
९ दोहावली १

अवरोधी योग का सम्मान करते हैं, किन्तु स्वयं योगमार्गी नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है, जोग न बिराग जप जाग तप त्याग व्रत, तीरथ न धम जान बेद विधि किमि है।'[1]

ज्ञान के प्रति कबीर और तुलसी दोनों आस्थावान् है, दोनों मानते हैं कि माया के बंधन को छिन्न भिन्न कर देने में ज्ञान समर्थ है। कबीर की अनुभूति है 'सतो भाई आई ग्यान की आंधी रे। भ्रम की टाटी सबै उडाणी माया रहै न बाधी।'[2] मानव जीवन की सार्थकता के लिए ज्ञान विचार को अनिवार्य मानने वाले कबीर ने क्षोभपूर्वक लिखा है, जिहि कुलि पुत्र न ग्यान बिचारी। वाकी बिधवा काहे न भइ महतारी'[3] इसी तरह तुलसीदास की भी मान्यता है कि 'भव सभव खेद' को हरने में ज्ञान भी समर्थ है।[4] वे स्वीकारते हैं कि जो ज्ञान मार्ग का निर्विघ्न निर्वाह कर लेता है, 'सो कैवल्य परम पद लहई'[5] लेकिन कबीर और तुलसी दोनों दृढतापूर्वक यह भी प्रतिपादित करते हैं कि भक्ति के बिना ज्ञान मे भी पूर्ण सुरक्षा नहीं। कबीर की साखियाँ हैं—

'ग्यानी तौ नीडर भया, माने नाही सक।
इन्द्री केरे बसि पडा, भूजे बिखे निसक ॥
ग्यानी मूल गँवाइया, आपे भये करता।
ताते ससारी भला, मन मे रहे डरता ॥'[6]

इसी समानान्तर तुलसी ने लिखा है—

'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥'[7]

तथा—'सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करन धार बिनु जिमि जल जानू।'[8]

कर्म, योग ज्ञान की तुलना मे भक्ति अधिक सरल और सुरक्षित है, इसको मानते हुए भी कबीर और तुलसी दोनों यह भी स्वीकारते हैं कि अपने बूते पर

१ कवितावली ७।७१।१।२
२ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद १।१६।१।२
३ वही पद १।१२४।४
४ मानस ७।११५।१३
५ वही ७।११८।२
६ कबीर वाङ्मय ३, २०।२६ २७
७ मानस ७।१३।छ० १०।११
८ वही २।२७६।५

माया बद्ध जीव भक्ति भी नहीं कर सकता। तक के लिए कोई कह सकता है कि भक्ति का मार 'सुमिरन' करते रहने म भला क्या कठिनाई हो सकती है, किन्तु कबीर जानते हैं कि पापिनी माया ने हरि से 'हराम' करने के लिए लगा दी है, 'मुखि कढि याली कुमति की, कहत न देई राम।[1]' अत उनका निष्कर्ष है, 'कबीर कठिनाई खरी, सुमिरता हरि नाम। सूली ऊपर नट विद्या, गिरे त नाहीं ठाम।'[2] भक्ति के लिए तो आपा मिटाना पडता है, निष्काम होना पडता है और विरह ज्वाला से जलना पडता है, अत तलवार की धार पर चलने मे समय कोई सूरमा ही भक्ति कर सकता है। कबीर के शब्दो मे 'भगति दुहेली राम की नहि कायर का काम। सीस उतारे हाथि सो (तब) लैसी हरि का नाम।'[3] तुलसीदास भी मानते थे कि 'सब सुख खानि भगति' इतनी दुलभ है, 'जो मुनि कोटि जतन नही लहही। जे जप जोग अनल तन दहही।'[4] उन्होंने भी कहा है 'रघुपति भगति करत कठिनाई। कहत सुगम, करनी अपार, जाने सोइ जेहि बनि आई।'[5] इस कठोर सत्य के साक्षात्कार से अपने बल से माया के बधन से छूटने का विकल्प कबीर और तुलसी दोनो को अपने लिए अर्थहीन लगता है।

इस स्थिति मे एक ही समावना शेष रह जाती है कि 'पीव ही कृपा कर जीव को माया के बधन से मुक्त कर दे। कबीर और तुलसी दोनो ने प्रभु से इसके लिए विकल प्रार्थना की है। 'बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूँ मो बधन छूटे'[6] 'कहे कबीर सारणाभय आगे, तुम्हारी कृपा बिना यहु बिपति न भागे'[7] यदि कबीर की बिनती है, तो तुलसी की विनय भी यही है 'तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाध्यो सोइ छोरे'[8], 'तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे'[9] 'तुलसिदास हरि कृपा मिटे भ्रम, यह भरोस मन माहीं।'[10]

१ कबीर वाङ्मय ३, १६१४
२ वही २।२६
३ वही ४५।२४।२६
४ मानस ७।८५।३ ४
५ विनय पत्रिका १६७।१ २
६ कबीर ग्रंथावली (गुप्त) पद २।२७।१
७ वही पद ३।२१।५
८ विनय पत्रिका १०२।१०
६ वही ११४।१०
१० वही ११६।१०

प्रभु की कृपा किस पर, कब, क्यो, कैसे होगी, यह नहीं कहा जा सकता। वैसे सतो की तो धारणा है कि कृपा सब पर समान रूप से बरस रही है। अभागा जीव अपने ही अभिमान, सम्बल या छलकपट आदि की आवरण के कारण उससे वचित रह जाता है। सतो का अनुभव है कि जीव जब अपने उपायो की व्यर्थता का अनुभव कर, हार कर, थक कर, दीन होकर, निश्छल भाव से सवसमपण कर प्रभु की शरण मे जाता है, तब उनकी कृपा उसे समस्त बन्धनो से मुक्त कर अपना लेती है। भक्ति साधना की यह चरम परिणति कबीर और तुलसी दोना म समान रूप से दष्टिगोचर होती है।

तुलसीदास की दीनता तो विख्यात है ही, कि तु अक्खड, उग्र, आक्रामक माने जानेवाले कबीर की दीनता उन लोगा को विस्मयकारिणी लग सकती है जो उन्हे केवल क्रान्तिकारी के रूप मे देखना पसन्द करते है। सिद्धात निरूपित करते हुए कबीर कहत हैं 'दीन गरीब दीन को, दुदर को अभिमान। दुदुर दिल विप सु भरी, दीन गरीबी राम।'[1] अर्थात विनम्र (दीन) को प्रभु ने गरीबी (दीनता) दी और द्वद्वरत (दुदुर) को अभिमान दिया, दुदुर के दिल म विष है, तो दीन क हृदय मे है राम। जो स्वामी रहित (निगुसावा) है, उसका कोई वास्तविक आश्रय (थाघी) नही है, वह बह जायेगा, उसी की रक्षा हो सकती है, जो दीन गरीबी के साथ बदगी करता है, निगुसावा बहि जाएगा, जाके थाघी नहि कोइ। दीन गरीबी बदगी करता होइ सु होइ।'[2] व्यवहार म कबीर अपने को प्रभु का कुत्ता (जिसका प्यार का नाम मोतिया—मोती है) मानत हुए कहते हैं कि मेरे गले मे राम की रस्सी पडी हुइ हैं वे जिधर खीचते है उधर ही जाता हू प्रेम से बुलात हैं ता उनके पास जाता हू, दुरदुराते है तो हट जाता हूँ, जस रखते है वैस रहता हूँ जा देते है सो खाता हूँ

'कबीर कुत्ता राम का, मोतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवडी, जित खेंचे तित जाउँ॥
तो तो करे त बाहुडो, दुर दुर करे तो जाउँ।
ज्यो हरि राखे त्यो रहा, जो देव सो खाउँ॥'[3]

केवल प्रभु के निकट ही नही, प्रभु भक्तो क निकट भी कबीर अत्यन्त दीन है, उनके शिष्य हैं, दासानुदास हैं, उनक पावो तले की घास है, 'कबीर चेरा

१ कबीर वाङमय ३, ४१।१२
२ वही ४१।२१
३ वही ११।१४ १५

मत का दासनि का परदास । कबीर ऐसा ह्वै रहा ज्यो पावा तलि घास ।'[1]

तुलसी भी विपथ का त्याग कर 'राम दुवारे दीन'[2] होकर जा बैठे है। उन्हे तो लगता है, 'माधव, मो समान जग माही । सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति लीन विषय कोउ नाही ।'[3] उनका दृढ विश्वास है, 'तुलसी तिलोक तिहूँ काल तो से दीन को । राम नाम ही की गति जैसे जल मीन को ।'[4] राम भक्तो के समक्ष तुलसी भी कबीर के समान ही विनत हैं । भक्त तो उनके लिए भगवान के समान ही है । धोखे से भी जिसके मुँह से राम नाम निकल जाता है तुलसी अपने चमडे से उसकी जूती बनाने के लिए तैयार हैं, 'तुलसी जाके बदन तेंधोखेउ निकसत राम, ताके पग की पगतरी, मेरे तनु को चाम ।'[5]

इसी दीनता ने उन दोनो को यह बोध दिया था कि अपने बल-बूते पर अपना भला करने की चेष्टा मे ही बात बिगडती चली गयी है । अपनी अक्षमता की निष्कपट स्वीकृति है कबीर के इन शब्दो मे 'ना कछु किया न करि सका, ना करने जोग सरीर'[6] जिसकी और घनीभूत वेदना की प्रतिकृति सी लगती है तुलसी की यह पक्ति, 'कियो न कछू, करिबो न कछू कहिबो न कछू मरिबोई रहो है ।'[7] यदि कबीर का अनुभव है कि राम की सहायता के बिना ऊपर उठने के लिए उन्होंने जिस-जिस डाल पर पाँव रखा, (जिस जिस साधन का अवलब ग्रहण किया) वही वही डाल झुक गयी (वे सारे साधन व्यर्थ हो गये) 'कबीर करनी क्या करे, जे राम न करे सहाइ । जिहि जिहि डाली पग धरे, सोई नइ नइ जाइ ।'[8] तो तुलसी ने भी यही पाया है कि 'बाप आपने करत मेरी घनी घटि गई ।'[9] इसी स्थिति मे जैसे कबीर कह उठे है 'कहे कबीर सुनहु रे सतो थकित भया मैं हारया'[10] वैसे ही तुलसी ने गुहार लगायी है, 'हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि ।'[11]

१ कबीर वाङमय ४।१।१३
२ दोहावली ६६
३ विनय पत्रिका ११४ (१ २)
४ वही ८।६ १०
५ वैराग्य सदीपनी ३७
६ कबीर वाङमय ३,३८।१
७ कवितावली ७।६।१४
८ कबीर वाङ्मय ३,३८।१०
९ विनय पत्रिका २५२।१
१० कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद ३।१४।१०
११ विनय पत्रिका ८६।७

जिस तरह कबीर इस मम तक पहुँचे हैं कि जिस दिन और कोई सहारा, भरोसा नही रह जाता उसी दिन राम की सहायता मिलती है, 'जा दिन तेरे कोई नाही ता दिन राम सहाई'[1] उसी तरह तुलसीदास भी यह समझ गये है कि राम को छोड कर औरो की आशा, विश्वास या भरोसा जीवन की जडता मात्र है और इसे दूर करने की प्रार्थना भी उ होने राम से ही की है, 'यह बिनती रघुबीर गुसाई और आस बिस्वास भरोसो हरो जीव जडताई।'[2]

जिस प्रकार निस्साधन होकर भव भय स डरे हुए कबीर प्रभु की शरण मे आय हैं,'कहा करो' कैसे तिरा, भौ जल अति भारी। तुम्ह सरनागति केशवा, राखि राखि मुरारी'[3], 'कहै कबीर नही बस मेरा, सुनिये देव मुरारी। इत भैभीत डरो जम दूतनि आये सरनि तुम्हारी'[4], उसी प्रकार तुलसीदास ने भी उनकी शरण गही है, 'अब रघुनाथ सरन आयो जन भव भय-बिकल डरयो।'[5] 'मूड मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो।'[6] शरण ग्रहण करते समय दोनो ने इस बात पर बल दिया है कि प्रभु अब तुम्हे छोडकर हमारा कुछ नही है, जो कुछ है सो तुम्हारा है और एक मात्र तुम हमारे हो। इसे ही सर्व समर्पण कहते है, जिसके बिना शरणागति नही सधती।

अपने को पूणत नि स्व कर प्रभु को समर्पित कर देने की कबीर की यह निश्छल सरल वाणी समूचे हिन्दी भक्ति साहित्य म बेजोड है—

'मेरा मुझ म कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपता क्या लागे है मेरा।।'[7]

इसी तरह मन, वचन, करम से राम के होकर,[8] 'तुम ही सब मेरे प्रभु गुरु मातु पिते हौं'[9] तथा 'जानकी-जीवन की बलि जैहौं' कहते हुए अपना सारा

१ कबीर ग्र थावली (गुप्त) पद १।१२१।२
२ विनय पत्रिका १०३।१-२
३ कबीर ग्र थावली (गुप्त) पद २।२६।१ २
४ वही (गुप्त) पद ४।५।७ ८
५ विनय पत्रिका ८१।८
६ वही २७६।१०
७ कबीर वाङमय ३,११।३
८ कवितावली ७।७८।५
९ विनय पत्रिका २७०।६

दायित्व तुलसी ने प्रभु को सौंप दिया है, 'यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहहौं।'[1]

प्रभु से नाता जोड कर उनकी शरण ले लेने पर स्वभावत कबीर और तुलसी दोना यह आश्वासन चाहते हैं कि प्रभु ने उन्हे अपना लिया। प्रभु विरह की तीव्र अनुभूति मे छटपटाते उन दोना भक्तो मे प्रभु के साक्षात्कार का, उनकी लीला म अश ग्रहण करने का चाव बढता चला जाता है। आतुर होकर कबीर कह उठत हैं कि तुम्हारी शरण लेने पर भी तुमने किस प्रकार मुझे ग्रहण किया कि मुझम विरह की ज्वाला और भभक उठी है। धूप (सासारिक दु ख-कष्टो) से झुलसा हुआ प्राणी वृक्ष (प्रभु) की छाया मे शान्ति के लिए आता है, लेकिन यदि तरुवर से भी ज्वाला निकले तो कोई कहा जावे? जलते हुए जगल (ससार) स भाग कर जल (प्रेमाभक्ति) की शीतलता के इच्छुक को यदि जल म भी (प्रभु विरह की) अग्नि से दग्ध होना पडे, तब तो कोई दूसरा उपाय नही। हे तारण-तरण देव, मै और किसी दूसरे को नही मानता, तुम्हारी शरण आया हूँ तुम्ही मुझे अपना कर कृताथ करो) यह पूरा पद अत्यन्त मार्मिक है

'गोब्यदे तुम्हथे दरपो भारी।
सरणाई आयो, क्यू गहिय, यहु कौन बात तुम्हारी ।।टेक।।
धूप दाझते छाह तकाई, मति तरवर सचु पाऊँ।
तरवर माहै ज्वाला निकसे, तो क्या लेह बुलाऊँ।।
जे बन जले त जल कौ धावे, मत जल सीतल होई।
जल ही माही अग्नि जो निकसे, और न दूजा कोई।।
तारण तिरण, तिरण तू तारण और न दूजा जानू।
कहै कबीर सरनाई आयो, आन देव नही मानू।।'[2]

तुलसीदास ने भी 'बारक कहिये कृपालु। तुलसिदास मेरो'[3] जैसी विनम्र प्रार्थना तथा 'सील सिंधु ढील तुलसी की बार भई है'[4], जैसे शिष्ट उलाहनो से काम बनता न देख कर प्रभु के द्वार पर धरना देकर मचला बन कर प्रभु से प्रकट नही तो मन म ही अपनाये जाने का बाल हठ किया है'

१ विनय पत्रिका १०४।१-८
२ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद ११११
३ विनय पत्रिका ७८।१२
४ वही १८०-१८

'प्रन करि हौ हठि आजु तें राम द्वार परयो हो।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि प्रभु की सौं करि निवरयो हो।
दै दै धक्का जम भट थके, टारे न टरयो हो।
उदर दुसह सासति सही, बहु बार जनमि जग, नरक निदरि निकरयो हो।
हो मचला लै छाड़िहो जेहि लागि अरयो हो।
तुम दयालु बनिहै दिए बलि, बिलब न कीजिए जात गलानि गरयो हो।
प्रगट कहत जो सकुचिए, अपराध भरयो हो।
सो मन मे अपनाइए तुलसिहि कृपा करि, कलि बिलोकि हहरयो हो।'[1]

कबीर और तुलसी दोनो को प्रभु विरह की मर्मन्तुद वेदना के कारण मृत्यु आसन्न लगती है, इसीलिए दोनो का आत आग्रह है कि प्रभु अब शीघ्र दर्शन दो। कबीर की विकल विरहिणी की कातर उक्ति है 'बिरहिन ऊठे भी पड़े, दरसन कारनि राम। मुवा पीछे देहुगे, सो दरसन किहि काम।'[2] इसी तरह तुलसी की विरह विह्वल प्रार्थना है, 'कृपा सिंधु, सुजान, रघुबर, प्रनत-आरति हरन। दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन।'[3]

यह ठीक है कि कान्ता भाव के उपासक कबीर जहाँ अपने प्रियतम से 'एकमेक' होकर प्रेम क्रीडा करना चाहते है, वहाँ दास्य भाव के साधक तुलसी प्रभु की क्रीडा के उपकरण सेवक बनकर ही सन्तुष्ट हैं। दोनो का अधिकार अलग अलग है। कबीर की मान भरी बिनती है, 'बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे। तुम्ह बिन दुखिया देह रे। सब को कहै तुम्हारी नारी मो को इहै अदेह रे। एक मेक ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसा नेह रे।'[4] प्रभु प्रिया का मनोराज्य है कबीर के शब्दो मे, 'वै दिन कब आवेंगे माइ। जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अगि लगाइ॥ हौं जानू जे हिलमिल खेलू तन मन प्रान समाइ। या कामना करो परपूरन समरथ हौ राम राइ।'[5] मर्यादावादी तुलसीदास अपने जी की बात प्रभु को बताते हुए उनसे यही चाहते हैं, 'सो कीजै, जेहि भांति छाडि छल द्वार परो गुन गावो'[6] यदि वे प्रभु की लीला के क्षुद्र सहचर-अनुचर

१ विनय पत्रिका २६७
२ कबीर वाङ्मय ३,३।७
३ विनय पत्रिका २१८।८ १०
४ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद ५।८।१ ४
५ वही पद ५।७।१ ४
६ विनय पत्रिका २३२।८

बन सकें, तो व कृतकृत्य हो जायेंगे। तुलसी जैसे विनम्र सेवक की लालसा यही हो सकती है, 'खेलिबे को खग, मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौ रहि हो। यहि नाते नरकहु सचु पैहो, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहो।'[1]

धन्य भाग्य थे कबीर तुलसी के, दोनो की कामना प्रभु ने पूर्ण की थी। कबीर के घर राजा राम पति के रूप मे पधारे, अविनाशी पुरुष से विवाह[2] के बाद कृतज्ञ और उत्फुल्ल कबीर ने इसका सारा श्रेय श्री राम को देते हुए कहा, 'हमहि कहा, यहु तुमहि बडाई। कहे कबीर मैं कछु न कीन्हा। सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा।'[3] प्रियतम के मन से मन मिला देने के बाद सुख सागर को प्राप्त कर कबीर अमर हो गये, उनकी सीधी घोषणा है, 'हरि मरिहै तो हमहुँ मरिहैं। हरि न मरे हम काहे कु मरिहैं। कहे कबीर मन मनहि मिलावा। अमर भये सुख सागर पावा।'[4] प्रेमाद्वैत की स्थिति मे पहुँच कर कबीर को लगता है 'अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावो काहि।'[5]

तुलसी की प्राथना सुनकर उन्हे कर्म के कठिन बन्धन से 'आरत अनाथ-नाथ कौसल पाल कृपाल' ने छुडा कर अपना लिया था, 'सो तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीब निवाज।'[6] उन्होने गदगद स्वर मे स्वीकारा कि यद्यपि तीनो लोको और तीनो कालो मे तुलसी के सदृश कोई कुटिल और मदमति खल-तिलक नही हुआ तथापि प्रभु ने करुणा के वशवर्ती हो, 'नाम की कानि पहिचानि जन आपनो ग्रसन कलि व्याल राखो सरन सोऊ।'[7] तुलसी की विनय पत्रिका पर प्रभु की स्वीकृति सूचक सही पडी तो अनाथ तुलसी की सब भाति बात बन गयी, 'मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है।'[8] श्री राम की शक्ति से शक्तिमान होकर तुलसीदास ने कलिकाल तक को फटकार कर कह दिया कि मुझे तुमसे कुछ लेना देना नही है, मैं राम का सेवक हूँ, यह समझ कर ही मुझ पर जोर जबर्दस्ती करने की बात सोचना, परिणाम मे तुम्ह

१ विनय पत्रिका २३१।५ ६
२ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद १ १
३ वही पद १।२।५-६
४ कबीर ग्र थावली(गुप्त) पद १।४३।५ ६
५ कबीर वाङमय ३, २।८
६ विनय पत्रिका ७६।७ ८ तथा १६१।१८
७ वही १०६।१२
८ वही २७९।६

ही पछताना होगा, मैं तुमसे नही कहूँगा, 'मोको न लेनो न देनो कछु कलि, भूलि न रावरी और चितैहो। जानि के जोर करो परिनाम तुम्ह पछितैहो पे मैं न भितैहो।'[१] जो प्रभु एक बार प्रणाम करने पर अपने भक्त को सब प्राणियो से अभय कर देते हैं, उन्ही का सेवक कह सकता है, 'तुलसिदास रघुवीर-बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।'[२]

केवल साधना के क्षेत्र मे नही, जगत व्यवहार के क्षेत्र मे भी कबीर-तुलसी की दृष्टि बहुत मिलती जुलती है। दोनो जगत् की बाहरी चमक-दमक से प्रभावित नही होते। दोनो को लगता है कि राम को भूल कर इस जगत् के प्रति अनुरक्त होना अपने वास्तविक लक्ष्य से भटकना है। 'कबीर काजल केरी कोठडी तैसा यहु ससार'[३] मान कर सबको सचेत करते हैं कि इसमे प्रवेश कर वही निष्कलक रह सकता है, जो राम का आश्रित हो, 'काजल केरी कोठरी, कागज ही का कोट। बलिहारी ता दास की जो रहे राम की ओट।'[४] तुलसीदास भी इस ससार को कपट आगार मानते है और हरि के बल पर ही इस निस्सार ससार से आबद्ध न होने का भरोसा रखते हैं, 'मैं तोहि अब जान्यो ससार। बाधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार। देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किए बिचार। ज्यो कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार।'[५]

ऐसी मान्यता का परिणाम यही हो सकता था कि कबीर-तुलसी भौतिक दृष्टि से सफलता पर नही, पारमार्थिक दृष्टि से मानव जीवन की चरितार्थता पर बल देते। मध्यकाल मे भौतिक सफलता का चरमोत्कर्ष समृद्ध और शक्तिशाली राजा होना ही माना जाता था। कबीर तुलसी दोनो ने भक्तिहीन राजा की तुलना मे नि स्व भक्त के जीवन को श्रेष्ठ ठहराया है। कबीर की स्पष्टोक्ति है, 'अब खब लो द्रव्य है, उदय अस्त लो राज। भक्ति महातम ना तुले ई सभ कौने काज।'[६] 'है गै वाहन सघन घन, छत्र धुजा फहराइ। ता सुख तें भिक्या भली

१ कवितावली ७।१०२।२-३
२ विनय पत्रिका १३७।१२
३ कबीर वाङ्मय ३, २६।१८
४ वही २८।१२
५ विनय पत्रिका १८८।१४
६ बीजक (शुक) दा २२८

हरि सुमिरत दिन जाइ।'[1] तुलसीदास भी इसी मत के हैं, उनका प्रसिद्ध सवैया है—

'राज सुरेस पचासक को विधि के कर को जो पटो लिखि पाए।
पूत सुपूत, पुनीत प्रिया, निज सुंदरता रति को मद नाए।।
संपति सिद्धि सबै तुलसी, मन की मनसा चितवैं चित लाए।
जानकी जीवन जाने बिना जग ऐसेऊ जीव न जीव कहाए।।'[2]

यह भी लक्षितव्य है कि विषयासक्तों के सांसारिक जीवन को धिक्कारने का अर्थ यह नहीं है कि कबीर-तुलसी जग जीवन को सर्वथा निराशापूर्ण और दुःखमय मानते थे। उन दोनों ने इस बात पर बल दिया है कि मरने के बाद के स्वर्ग बैकुंठ आदि के लोभ से नहीं, भक्तों का आनन्दमय जगजीवन भला लगने के कारण वे अपने जीवन को उसी प्रकार ढालना चाहते हैं। कबीर को इस जीवन का वही दिन श्रेष्ठ लगता है, जिस दिन उन्हें कोई सच्चा संत मिलता है, जिसका आलिंगन करने मात्र से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, 'कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं। अंक भरे भरि भेंटिए, पाप सरीरों जाहिं।'[3] राम का भक्त कबीर के मन को भाता है, क्योंकि वह आतुर नहीं होता, उसके मन में सत्य, सन्तोष और धैर्य होता है, उसे काम, क्रोध और तृष्णा नहीं जलाती, वह आनन्द से प्रफुल्लित हो गोविन्द का गुण गाता है, उसे परनिन्दा नहीं भाती, वह असत्य नहीं बोलता, वह काल की कल्पना को मिटाकर प्रभु के चरणों में चित्त लगाता है, दुविधा छोड़कर वह सदा समदृष्टि और शीतल रहता है। कबीर का मत सम्बन्धी आदर्श इस पद में मूर्त हो उठा है—

राम भजे सो जाणिये, जाके आतुर नाहीं।
सत, संतोष लीये रहे, धीरज मन माहीं।। टेक।।
जन को काम क्रोध व्यापे नहीं, त्रिष्ना न जरावै।
प्रफुलित आनद में गोव्यंद गुण गावै।।
जन को पर निंद्या भावे नहीं, अरु असति न भावे।
काल कलपना मेटि करि, चरनूं चित राखे।।
जन सम द्रिष्टि सीतल सदा दुबिधा नहीं आने।
कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन माने।।'[4]

१ कबीर वाङ्मय ३, ३०।४
२ कवितावली ७।४५
३ कबीर वाङ्मय ३, २८।६
४ कबीर ग्रंथावली (गुप्त) पद ६।२

इन्ही सतो की रहनी का अनुकरण करने के फलस्वरूप इसी दुख दग्ध ससार म, इसी जगजीवन मे कबीरदास को परमानन्दस्वरूप प्रभु मिले थे और उनका मन आनन्द से भर उठा था, 'कहे कबीर मनि भया अनद । जग जीवन मिलियो परमानद ।'[1]

'सत मिलन सम सुख जग नाही'[2] मानने वाले तुलसीदास ने भी डके की चोट पर कहा था, कौन जाने कौन नरक जायगा, कौन स्वग, कौन बैकुठ, मरने के बाद क्या होगा, इसे कौन सोचता है, मुझे तो राम के सेवको का इसी जग का जीवन बहुत अच्छा लगता है, 'को जाने को जैहै जमपुर, को सुरपुर परधाम को तुलसिहि बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को ।'[3] राम की भक्ति और सतो की सगति न उनके भवत्रास को नष्ट कर उन्हे यह बताया था कि यह अविचारित रमणीय ससार वास्तव मे बहुत भयकर है, किन्तु समता, सन्तोष, दया और विवेक से यह व्यवहार मे सुखकारी हो जाता है

'अनबिचार रमनीय सदा, ससार भयकर भारी ।
सम, सतोष, दया बिबेक तें व्यवहारी सुखकारी ।।
तुलसिदास सब बिधि प्रपच जग जदपि झूठ श्रुति गावे ।
रघुपति भगति सत सगति बिनु को भवत्रास नसावे ।।'[4]

अत तुलसीदास का स्वाभाविक मनोराज्य है, श्री राम की कृपा से सत स्वभाव को अपनाने का, जिसके पुण्य प्रभाव से वे यथालाभ सन्तुष्ट रहेंगे, किसी से कुछ नही मांगेंगे, निरन्तर परहित करेंगे, मन, कम, वाणी की एकता निभायेंगे, दु सह कठोर वचन की आग से नहीं जलेंगे, अहकार त्याग कर मन को सम और शीतल रखेंगे, दूसरो के गुण कहेगे, दोष नही, देह की चिन्ता छोड कर समबुद्धि से सुख दुख सहेगे और इस पथ पर रह कर अविचल हरि भक्ति प्राप्त करेंगे

'कबहुँक हौ यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपातें सत सुभाव गहौगो ।।
यथा लाभ सतोष सदा काहू सो कछु न चहौगो ।
परहित निरत निरतर मन क्रम बचन नेम निबहौगो ।।

१ कबीर ग्र थावली ११।५।५
२ मानस ७।१२१।१३
३ विनय पत्रिका १५५।६-१०
४ वही १२१।७ १०

परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगतमान, सम सीतल मन, पर-गुन, नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो।'[1]

कबीर और तुलसी दोनो अनासक्त भाव से समाज मे ही रहे थे, वनवासी नही हो गये थे। कबीर यदि उन लोगो मे से थे, जिन्हाने घर और वन को समान कर लिया था 'घर बन तत सम जिनि कीया'[2] तो तुलसी भी घर और वन के आकर्षण से हटकर 'राम प्रेम पुर' के निवासी थे 'तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेमपुर छाइ।'[3] गुण अपने मे और दोप दूसरो मे बतानेवाली सासारिक मानसिकता से भिन्न दोनो की धारणा थी कि गुण तो सब राम के है और दोप मेरे है, 'करता केरे बहुत गुन, अवगुन कोई नाहि। जे दिल खोजो, आपनो सब औगुन मुझ माहि'[4] यदि कबीर की साखी है, तो तुलसी का दोहा है, 'निज दूषन, गुन राम के, समझे तुलसीदास। होय भलो कलिकाल हू उभय लोक अनयास।'[5] गुणकृत अहकार से बचना और दुगुणकृत दोपो से जूझ कर उनसे मुक्त होना, इसी दष्टि के द्वारा सभव है। कबीर और तुलसी दोना उन धर्मशास्त्रियो से अलग है, जो छोटे छोटे पापो क लिए भी बडे बडे प्रायश्चित बताते रहते हैं। पाप न हो, इसके लिए भले भय प्रदशन कुछ लाभदायक हो, किन्तु पाप हो जाने के बाद उसका हौवा खडा करना साधक मे कुठाएँ भर कर उसे निराश करना ही है। कबीर तुलसी राम की कृपालुता का भरोसा देकर बीती को बिसार कर आगे की सुधि लेने को कहते है, 'कबीर भूलि बिगाडियाँ, (तू) ना करि मला चित्त। साहिब गरवा चाहिए नफर बिगाडे नित्त।'[6] अज्ञानवश दास से तो बात बिगडती ही है, पर गौरवशाली स्वामी उसे सुधार लेता है, अत हताश मत हो। यही मत तुलसी का भी है, 'बिगरी जनम अनेक की, सुधरे अबही आजु होहि रामको, नाम जपु, तुलसी तजि कुसमाज।'[7] यह

१ विनय पत्रिका १७२
२ कबीर ग्रन्थावली (गुप्त) पद ५।१।३
३ दोहावली २५६
४ कबीर वाङ्मय ३, ५६।३
५ दोहावली ७७
६ कबीर वाङ्मय ३, ५६।२
७ दोहावली २२

विस्तारपूर्वक दिखाया जा सकता है कि कबीर और तुलसी दोनो ने यह आश्वासन दिया है कि श्रद्धा विश्वासपूर्वक निष्कपट एव अनन्य भाव से राम का भरोसा करने वालों का जीवन काम क्रोध आदि विकारों तथा सशय, निराशा आदि निषेधक वृत्तियो के उत्पीडन स मुक्त हो आन दमय हो जायेगा।

कबीर और तुलसी दोनो ने अपन समय के समाज मे व्याप्त विषमता, अनाचार, अत्याचार और पाखड का विरोध किया था। यह जरूर है कि कबीर का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक एव स्वर अधिक उग्र है। हिन्दू-मुसलमान दोनों समाजो की विकृतियो पर उन्होन प्रहार किया था। जहाँ हिन्दुओ मे व्याप्त छुआछूत, जातिभेद, वाममार्गी अतिचार आदि का उन्होने खडन किया था, वही मुसलमानो की हिंसा और हठवादिता की भत्सना की थी। तुलसीदास ने हिन्दू मुसलमान का नाम नही लिया है। कबीर की ही तरह भक्ति का उनका सन्देश भी सार्वभौम है। इस क्षेत्र मे उन्होंने भी जाति पाँति या छूआछूत को अस्वीकारा है, किन्तु समाज सगठन की दृष्टि स वे वर्णाश्रम क उस उदाररूप का समथन करत हैं, जिसमे राम के प्रताप से विषमता नही रह गयी थी। गरीबो के प्रति कबीर तुलसी दोनो की अकृत्रिम सहानुभूति थी। दोनो खुद गरीबी के शिकार थे। यदि कबीर ने पीडा के साथ कहा है कि 'निधन आदर कोई न देई'[1] तो तुलसी का अनुभव है कि 'नहि दरिद्र सम दुख जग माही।'[2] नारी के प्रति दोनों की उक्तियो को वास्तव म कामिनी या काम के प्रति मानना चाहिए। पुरुष साधक के रूप म काम का उद्रेक नारी के द्वारा होने के कारण काम के प्रति दोनो का रोष नारी पर ही उतरा है। इस क्षेत्र मे कबीर तुलसी से कही अधिक कटु ह। कबीर की एक बडी सीमा यह है कि वे समाज का समन्वित आदश रूप नही उभार पाये है, मुक्तको के रूप म कथित उनकी विधायक उक्तियाँ प्राय व्यक्ति परक हैं। तुलसी ने रामकथा के माध्यम से परिवार, समाज, राज्य की उज्ज्वल छवियाँ भी दी हैं। नारी के विविध रूपो को बडी सहृदयता और सहानुभूति के साथ अकित किया है। रामराज्य की उनकी कल्पना भारतीय समाज का आदश है। मेरा विश्वास है कि कबीरदास भी यदि आदर्श समाज का विस्तृत रूप अकित करते, तो वह तुलसी के रामराज्य से मिलता-जुलता होता। कबीर भी ऐसा ही समाज चाहते थे, जिसमे कोई दरिद्र, दुखी, दीन, अबुध और लक्षणहीन न हो, सब सुन्दर, नीरोग, गुणज्ञ,

१ कबीर ग्रन्थावली (श्या) परिशिष्ट पद १३०।१

२ मानस ७।१२१।१३

ज्ञानी और कृतज्ञ हो, सर्वोपरि 'राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।'[1]

कबीर और तुलसी भक्तिरूपी एक ही मूल की दो शाखाएं हैं। दोनों म निश्चय ही अपनी अपनी विशिष्टताएँ हैं, जिन्हें कोई चाहे तो भिन्नताएँ कह ले, पर उनके आधार पर उनके मूलभूत साम्य को नकारना गहरी भ्रान्ति को प्रचारित करना है। कबीर की वाणी ऐसे लोगों को सचेत कर रहा है 'मूल गहे ते काम है, तैं मत भरम भुलाए।'[2]

१ मानस ७।२१।४
२ कबीर बीजक (शुक) साखी दा ६०।१

तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ की विनय भावना

विनय भावना का यहाँ अर्थ है, भगवान से विनय या प्रार्थना करने मे निहित मनोभाव। इसमे सदेह नही कि तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ दोनो उच्चकोटि के भक्त और कवि थे। दोनो ने व्यक्तिगत रूप से अपने मन की भिन्न भिन्न स्थितियो मे प्रभु से अनेकानेक प्रार्थनाएँ की हैं जो साधना और काव्य दोनो क्षेत्रो मे बहुप्रतिष्ठित हैं। प्रार्थना के द्वारा भक्त भगवान से अपना सीधा सबध जोडता है। व्यक्ति जैसा होता है, उसकी प्रार्थनाए वैसी ही होती हैं अत तुलसी और रवीन्द्रनाथ के विनय काव्य का विवेचन करने के लिए दोनो की भूमिकाओ पर थोडा विचार कर लेना लाभदायक होगा।

तुलसी मूलत और मुख्यत भक्त थे, काव्य उनके लिए अपने मन मे उठने वाले भक्ति भावो को छदो लयो मे बाँधकर प्रभु के चरणो मे अर्पित कर पाने का साधन मात्र था। जबकि रवीन्द्रनाथ मूलत और मुख्यत कवि थे, काव्य उनका साध्य था, अपने मन मे उठते रहने वाले असख्य भावो विचारो को तदनुकूल भाषा छद शिल्प म अभिव्यक्त कर पाना उनकी प्राथमिक चरितार्थता थी। तुलसी 'निज गिरा पावन करन कारन' अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए अपार रामचरित का गान करते थे, जीवन भर वही करते रहे अपने को साधन हीन मान कर प्रभु की कृपा की याचना के लिए विनय के पद रचते रहे। रवीन्द्रनाथ के साठ-पैंसठ वष के कवि-जीवन मे कुल दस बारह वर्षों का कालखड ऐसा है जबकि भगवत्प्रेम उनकी काव्य सजना का प्रमुख प्रेरक तत्त्व रहा है, अन्यथा प्राकृतिक सौंदय, मानवीय प्रेम एव करुणा से ही मुख्यत अभिप्रेरित होकर वे काव्य-रचना करते रहे। तुलसी के लिए भक्ति ही सब कुछ है, राम से जुडना ही उनके लिए चरम पुरुषाथ है, अन्यो से भी वे राम के माध्यम से ही जुडना चाहते हैं, 'नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लों'। रवीन्द्रनाथ मे ससार को त्याग कर प्रभु से जुडने का आग्रह नही है, प्रभु को अपना चिर साथी मानकर भी उनकी कामना यही है कि मर्त्य के बधन तो नष्ट हो किंतु यह

विराट विश्व अपनी भुजाएँ पसार कर उन्हे अपना ले 'विराट बाहु मेलि लय'। उन्हें बराबर लगता रहा 'स्थले जले तोरे आछे आह्वान, आह्वान लोकालये'। धरती और सागर मे, नगरो और गावो मे उनकी पुकार है, जिसे वे अनसुना नही कर सकते। इसका मतलब यह है कि रवीन्द्र की तुलना मे तुलसी की भक्ति अधिक सान्द्र और एकोन्मुख है। भक्ति के अतगत तुलसी का मुख्य भाव दास्य है जबकि रवीन्द्रनाथ को किसी परपरागत भक्ति भाव मे सीमाबद्ध नही किया जा सकता। उनमे दास्य भी है, सख्य भी है और माधुर्य भी—और इन सबके परे अद्भुत वैचित्र्य भी। इसीलिए तुलसी मर्यादा के प्रति बहुत जागरूक है, दैन्य ही उनका मुख्य सबल है। उनका मनोराज्य भी मुक्ति पाने का नही 'जनम जनम रति रामपद' का वरदान पाने का है, प्रभु की लीला का उपकरण बनकर रहने का है जिसके बिना परम पद प्राप्त करके भी वे दुखी रहेंगे, 'खेलिबे को खग मृग, तरु किंकर है, रावरो राम हौ रहिहौ, यहि नाते नरकहु सचु पैहौ या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौ।' रवीन्द्रनाथ मे मर्यादा अंतर्निहित है, लीला का रसविलास उभर आया है, अपने प्राणसखा बधु के साथ तूफानी रात मे अभिसार की कामना उनके मन मे जागती है, द्वार पर वसत के आगमन पर उन्हें लगता है उनके 'सुन्दर बल्लभ कान्त' उन्हे गभीर स्वर मे पुकार रहे हैं। सूखी मुक्ति उन्हे भी नही चाहिए, उनकी साध है—मेरे जीवन मे प्रभु के आनद का महा सगीत बज उठे, 'एई मोर साध येन ए जीवन माझे, तव आनद महा सगीत बाजे।' फलत रवीन्द्रनाथ मे दैन्य का कातर स्वर अपेक्षाकृत रूप से कम है, विरह की आर्त्ति तो है किंतु आत्मावमानना नही है।

तुलसी और रवीन्द्र दोनो ही व्यक्तिगत प्रार्थनाओ मे भी लोकमगल को नही भूलते। दुरित दारिद्र्य और दुख के दुसह त्रिताप से तपी हुई दुनिया को मोद और मगल से पूर्ण करने की प्रार्थना तुलसी ने की और अपनी आस्था के सहारे यह मान लिया कि आर्त्तों की पीडा दूर करने वाले प्रभु ने करुणावारि से पृथ्वी को सींच कर रामराज्य की स्थापना कर दी और इस प्रकार पुण्य की हारती हुई सेना जीत गयी। 'समरथ बडो सुजान सुसाहिब सुकृत सेन हारत जितई है, सुजन सुभाव सराहत सादर अनायास सांसति बितई है।' रवीन्द्रनाथ ने भी हिंसा से उन्मत्त नित्य निठुर द्वद्व मे रत, लोभ के बधन मे जकडी घोर कुटिल पथ पर चलने वाली पृथ्वी के कातर प्राणियो की ओर से प्रार्थना की थी कि हे करुणाकर, प्रेम-सुधा को पिलाकर सबका त्राण करो। धरती को कलंकशून्य करो, 'शांत हे, मुक्त हे, हे अनत पुण्य, करुणाकर धरणी तल कर कलक शून्य।' किंतु तुलसी की तरह उनके लिए यह मान लेना असभव है कि धरती पर राम

राज्य आ गया। उनका आधुनिक मन क्रूर यथार्थ की इतनी उपेक्षा भावलोक मे भी नही कर सका। चारो तरफ प्रतिकारहीन शक्ति के अपराधो के कारण तरुणो को पत्थरो पर माथा पटक मरते देख वे सबको क्षमा करने, सबको प्यार करने का उपदेश स्वीकार करने मे अपने को असमर्थ पाते हैं, उल्टे प्रभु से ही पूछ बैठते है कि जो तुम्हारी वायु को विषाक्त बना रहे हैं, तुम्हारे प्रकाश को बुझा रहे हैं, तुमने क्या उनको क्षमा कर दिया है, तुमने क्या उनको भी प्यार किया है, 'जाहारा तोमार विषाइछे वायु, निभाइछे तव आलो, तुमि कि तादेर क्षमा करियाछो, तुमि कि वेसेछो भालो ?' तुलसी और रवीन्द्र के बीच काल का जो व्यवधान है, यथार्थवादी सामाजिक चिंतन के कारण जो पार्थक्य आ गया है, वह इस प्रश्न मे स्पष्ट परिलक्षित होता है।

तुलसीदास की विनय भावना म प्रभुनिर्भरता बहुत अधिक है। शिशु जिस प्रकार पूर्णत माता पिता पर अवलंबित रहता है, उसी तरह तुलसीदास भी प्रभु पर आश्रित रहते है, 'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यो बालक माय बबा के'। व्यक्तिगत या सामाजिक, भौतिक या आध्यात्मिक सकट आने पर वे प्रभु से ही रक्षा करने की गुहार लगाते हैं, दीन होकर उन्ही की कृपा की बाट जोहते रहते हैं, 'नाथ कृपा को ही पथ चितवत दीन हौ दिन राति, होइहो केहि काल दीनदयालु जानि न जाति।' रवीन्द्रनाथ भी प्रभुनिर्भर हैं किंतु उनकी भूमिका वयस्क पुत्र या सहयोगी सखा की सी है, असहाय शिशु की सी नही। इसीलिए उनकी प्रार्थना यह नही है कि हे प्रभु विपत्ति मे मेरी रक्षा करो, उनकी प्रार्थना उस शक्ति को प्राप्त करने की है जिसके सहारे वे विपत्ति से डरें नही, दुखताप को जीत सकें, भले ही किसी दूसरे की सहायता न मिले, अपना बल अटूट रहे, प्रवचित होने पर भी मन मे विकृति न आ पाये, 'सहाय मोर ना यदि जुटे जे निजेर बल ना जेन टूटे, ससारेते घटिले क्षति लभिले शुध बचना, निजेर मने ना जेन मानि क्षय'। रवीन्द्रनाथ पारपरिक भक्ति अर्थात ध्यान और पूजा के माध्यम से प्रभु को पाने का उत्साह नही दिखाते क्योकि उन्हे विश्वास है कि देवता किसानो मजदूरो के साथ स्वय कार्यरत हैं। अत उनका सकल्प है कि वे भी कर्मयोग के द्वारा पसीना बहाकर उनसे युक्त हो सकेंगे, 'कर्मयोगे तार साथे एक हये, घर्म पडुक झरे।' तुलसी भी 'रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम' की भावना का जयगान करते हैं किंतु कर्त्तव्य का गौरव स्वय नही लेते, प्रभु को ही देते हैं, 'तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम, न तु भेंट पितरन को न मूड हू मे बार है।'

अपने व्यक्तिगत विकास के लिए तुलसी और रवीन्द्र दोनो ने प्रभु से विनय

की है। दोनो के आदर्शों मे बहुत मेल होते हुए भी वही अन्तर है जो सत और गृहस्थ की भावना मे होता है। तुलसी यथालाभ सतोष और निष्काम वृत्ति चाहते हैं, निरतर परहित निरत रहते हुए मन, वाणी और कर्म की एकता पर जोर देते हैं, गेह देहजनित चिताओ को छोडकर दु ख सुख को समबुद्धि से सहने की साधना मे श्रीराम की कृपा से उत्तीण होना चाहते हैं, उनका विश्वास है, 'तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो।' रवीन्द्रनाथ की प्रार्थना है कि प्रभु, मेरे अन्तर को विकसित करो, निमल, उज्ज्वल और सुन्दर करो, उस जाग्रत, उद्यत, निर्भय, निरलस, नि सशय एव मगलमय बनाओ। यह ठीक है कि वे भी अपने चित्त को प्रभु के चरण कमलो मे अर्पित कर देना चाहते हैं किंतु उसी के साथ साथ यह भी चाहते हैं कि सकीण बधनो से मुक्त कर प्रभु उन्हें सब के साथ सयुक्त करें, उनके समस्त कर्मों मे अपने शात छद का सचार करें

युक्त करो हे सबार सगे, मुक्त करो हे बध,
सचार करो सकल कर्मे, शान्त तोमार छद।

तुलसी की विनय पत्रिका यदि भक्ति का कविता को दान है तो रवीन्द्र की गीताजंलि भक्ति को अर्पित कविता का अर्घ्य है।